ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

क्रमबद्धपर्याय

भाग - 1

क्रमबद्धपर्याय से सम्बन्धित पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के महत्त्वपूर्ण प्रवचन, प्रश्नोत्तर एवं हृदयोद्गारों का संकलन

गुजराती प्रस्तुतकर्ता :

छगनलाल कालीदास बाधर परिवार, जामनगर

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलिया, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

'क्रमबद्धपर्याय' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी प्रकाशन आत्मार्थीजनों को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की दिव्यवाणी में प्रवाहित, परम पूज्य आचार्य भगवन्त कुन्दकुन्ददेव आदि वीतरागी सन्तों द्वारा लिपिबद्ध जिनशासन के अनेक आत्महितकारी रहस्यों का उद्घाटन करुणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की दिव्यवाणी में हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के कथनानुसार निश्चय, व्यवहार, निमित्त, उपादान और क्रमबद्धपर्याय— इन पाँच मुख्य सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण उनकी वाणी में हुआ है, उनमें से क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धी प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन पूज्य गुरुदेवश्री की 126 वीं जन्मजयन्ती के पावन अवसर पर बाधर परिवार, जामनगर द्वारा किया गया था। ग्रन्थ की उपयोगिता को लक्ष्यगत करते हुए इसका हिन्दी भाषा में प्रस्तुतिकरण किया जा रहा है। जिसमें गुरुदेवश्री के प्रवचनों को गुजराती अनुसार यथावत् रखते हुए परिशिष्ट में कुछ विशिष्ट प्रवचन सन्दर्भसहित दिये गये हैं। क्रमबद्धपर्याय के स्पष्टीकरण की यहीं पूर्णता नहीं होती है, इस एक शब्द में से गुरुदेवश्री ने अनेक पहलुओं से स्पष्टीकरण किया है, जिसे आगे भी प्रस्तुत करने का प्रयास रहेगा। इसी भावना से प्रस्तुत ग्रन्थ को भाग-1 के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अकर्ता ज्ञायकस्वभाव अथवा ज्ञाता-दृष्टापने की सिद्धि इस क्रमबद्धपर्याय द्वारा की है, इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को इस महान सिद्धान्त से यही आशय ग्रहण करना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवादकार्य एवं परिशिष्ट में दिये गये प्रवचनों का संकलन पण्डित देवेन्द्रकुमारजी, बिजौलिया (राजस्थान) द्वारा किया गया है।

सभी जीव क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझकर ज्ञाता-दृष्टा परिणति प्रगट करें, इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

प्रस्तावना

नित्य सुधा झरण चन्द्र! तुझे नमूँ मैं
करुणा अकारण समुद्र! तुझे नमूँ मैं
हे ज्ञान पोषत सुमेघ! तुझे नमूँ मैं
इस दास के जीवनशिल्पी! तुझे नमूँ मैं

अनादि से चली आ रही पूर्ण सत् की धारा का प्रवाह बहाते हुए वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर शासनसम्राट, शासननायक भगवान श्री महावीरस्वामी और गौतम गणधरदेव से चली आ रही जिनमार्ग की परम्परा में ज्ञानसम्राट योगीश्वर, कलिकाल सर्वज्ञसम् ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व हुए। उन्होंने महाविदेहक्षेत्र में विराजमान श्री सीमन्धर भगवान की ज्ञानानन्द से झरती दिव्यदेशना को प्रत्यक्ष सदेह वहाँ जाकर साक्षात्मूर्तिमन्त करके भरतक्षेत्र में लाकर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अध्यात्मरस झरते, ज्ञायकस्वभाव की गर्जना करते समयसार आदि पंच परमागमों की रचना की, उस ज्ञायकस्वभाव की गर्जना को आत्मसात करके चलते-फिरते सिद्ध ऐसे श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत का प्रवाह बहाकर समयसार आदि अनेक शास्त्रों की अमृतमय टीका की।

इसी परिपाटी में जैन शासन के गगन में, भूतकाल के 'राजेन्द्र', वर्तमान के 'योगीन्द्र', और भावी के 'जिनेन्द्र' ऐसे आध्यात्मिक पुराण पुरुष, निडर, निर्भय, नि:शंक सिंहपुरुष परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। उन पुरुष ने स्वयं स्वत: अपने निज अनुभव के ज्ञानबल से, आचार्यों के हृदय में प्रवेश कर सर्व पहलुओं से शास्त्रों का निचोड़ निकालकर, परमागमों के रहस्यों को अपनी प्रज्ञा से आत्मसात करके, भव्य जीवों को 45-45 वर्ष तक अस्खलित धारा से दिव्यदेशना की शृंखला बरसा कर असंख्य जीवों को आध्यात्मिक वातावरण में सराबोर कर दिया।

ग्रन्थाधिराज समयसारजी परमागम पर 19-19 बार सभा में स्वाध्याय हुआ। उसमें से जैनशासन के अनेक मूलभूत सिद्धान्तों की स्पष्टता और सत् के उद्घाटन हुए। उसमें से यह एक जैनदर्शन का महासिद्धान्त **क्रमबद्धपर्याय,** जिस सिद्धान्त का पूज्य गुरुदेव ने सांगोपांग अध्ययन

करके सर्वज्ञ भगवान, गणधर भगवान, आचार्य भगवान के हृदय में रहे हुए इस सिद्धान्त को न्याय से, युक्ति से, आगम से, तथा निज अनुभव से इसके रहस्य का उद्घाटन किया।

'क्रमबद्धपर्याय', इस ग्रन्थ में पूज्य गुरुदेवश्री ने जीवनभर घोंट-घोंटकर जो स्पष्टीकरण किया है, ऐसे मात्र पूज्य गुरुदेवश्री के ही अमृत वचन आत्मधर्म के गुजराती अंकों में से तथा समयसार, नियमसार, बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रवचन रत्नाकर, सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, ज्ञानगोष्ठी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर इत्यादि शास्त्रों में से संकलन करके संग्रहित किया गया है।

क्रमबद्धपर्याय का सामान्य स्वरूप कैसा है तथा उसे समझने से पर्याय में वीतरागता किस प्रकार होती है, अकर्ता अथवा ज्ञाता किस प्रकार से होता है, उसका पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने वीतरागस्वभाव में प्रवेश कर-करके जिस प्रकार से रहस्य को प्रसिद्ध किया है, उस रहस्य को जगत के सभी भव्य जीव समझकर अपने वीतराग स्वभाव को अनुभव करके पूर्ण वीतरागता प्रगट करे, ऐसी एकमात्र निष्कारण भावना से पूज्य गुरुदेवश्री के 126वें पावन पवित्र मंगलमय जन्म-जयन्ती के निमित्त यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय उसके जन्मक्षण में होती है, क्रमबद्ध होती है, सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, वैसा होता है—इत्यादि इन प्रत्येक शब्दों के अर्थ तथा उनमें रहे हुए गम्भीर गहरे सिद्धान्त, भाषा सादी परन्तु भाव गम्भीर! इस सामान्य सी लगती बात में कितनी गहनता है! इस बात को समझते हुए, अनुभवते हुए मात्र वीतरागता के अतिरिक्त दूसरा कुछ हाथ में आता ही नहीं, ऐसे अपूर्व भाव पूज्य गुरुदेवश्री की अनुभव झरती वाणी में से स्पष्ट होते हैं।

क्रमबद्धपर्याय तो मात्र जानने का विषय है। मात्र अपने वीतरागस्वभाव को निहारते-निहारते वीतरागी क्रमबद्धपर्याय का अनुभव हुआ ही करे, ऐसा शान्तरस झरता यह शान्ति का विषय है।

इस पुस्तक में प्रथम पूज्य गुरुदेवश्री के आत्मधर्म के गुजराती अंकों में समागत क्रमबद्धपर्याय के स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321, 322, 323 के प्रवचन दिये गये हैं। तत्पश्चात् आत्मार्थी को अन्तरंग चिन्तवन में उठते प्रश्नों के, भिन्न-भिन्न शास्त्रों के आधार से पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रदान किये गये समाधान दिये गये हैं। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री की आत्मार्थी के साथ क्रमबद्धपर्याय पर हुई चर्चा और समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री के समयसारजी शास्त्र की गाथा 308 से 311 पर हुए तेरहवीं बार के दो तथा शिविर के समय का एक और प्रवचनसार शास्त्रजी सार की 99 गाथा पर हुए दो प्रवचन शब्दशः प्रकाशित किये गये हैं। तत्पश्चात् पूज्य

बहिनश्री चम्पाबेन द्वारा क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों के समाधान भी प्रकाशित किये गये हैं।

इस प्रस्तुत हिन्दी प्रकाशन में उपर्युक्त प्रवचनों के अलावा परिशिष्ट रूप में कुछ अन्य प्रवचन तथा बहिनश्री की तत्त्वचर्चा भी प्रकाशित की गयी है।

इस पुस्तक में क्रमबद्धपर्याय विषय को न्याय देने के लिये पूज्य गुरुदेवश्री के आत्मधर्म के अंक 452 तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन जो संकलन हुए हैं, वे तथा पूर्ण प्रवचनों को शोधने का कार्य मात्र अपने निज स्वाध्याय के लिये युवावय में निजस्वभाव की भावना के लिये मुम्बई निवासी पूज्य गुरुदेवश्री के सन्तानों को प्रकाशक परिवार धन्यवाद ज्ञापित करता है।

यह समग्र प्रकाशन एक संकलनमात्र है। पूज्य गुरुदेवश्री की 'दिव्यवाणीमात्र' है। कहीं कोई अर्थघटन नहीं है, कोई अभिप्राय नहीं है। मात्र विविध समय में पूज्य गुरुदेवश्री ने क्रमबद्धपर्याय सिद्धान्त पर जो न्याय दिये हैं, वे उस समय में आत्मधर्म (1943 से 1980 तक में) आये हुए हैं, वे शब्दशः ही हैं। साथ ही अनुसन्धान भी दिये गये हैं। इस भागीरथ कार्य में सहयोग प्रदान करनेवाले सभी के हम आभारी हैं।

अर्पण

हमारे समग्र परिवार के सदस्यों को मोक्षप्राप्ति के मार्ग की ओर ले जानेवाले तथा पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य भगवती माता का सत्परिचय करानेवाले हमारे पूज्य पिताश्री / दादाश्री त्रम्बकलाल बाधर ने स्वयं 22-23 वर्ष की उम्र से पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित किये गये सत् दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धान्तों को आत्मसात किया है, उनका उपकार हम कभी भी नहीं भूल सकते। यह संकलन / प्रकाशन हम उन्हें अर्पण करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की 126 वीं पावन पवित्र मंगलमय जन्मजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बाधर परिवार, समस्त मुमुक्षु समाज, पूज्य गुरुदेवश्री के अन्तरंग हृदय को समझकर तत्क्षण निज भगवान आत्मा के दर्शन करके शाश्वत् सुख को प्राप्त कर सिद्धदशा को प्राप्त करे, ऐसी भावनासहित.....

बाधर परिवार, जामनगर

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृ० क्रं.
1.	अनन्त पुरुषार्थ	1
2.	क्रमबद्धपर्याय और व्यवहार	30
3.	क्रमबद्धपर्याय का स्पष्टीकरण	34
4.	क्रमबद्धपर्याय का स्पष्टीकरण	41
5.	आत्मस्वभाव की अनुभूति में	51
6.	अज्ञानी जीव सर्वज्ञ भगवान को...	57
7.	पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा शास्त्रों के आधार...	58
8.	जीव को किस प्रकार देखते हैं	63
9.	राग-द्वेष क्रमबद्ध होते हैं,...	65
10.	अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही होने पर भी....	74
11.	क्रमबद्ध से पुरुषार्थ सिद्ध होता है या स्वच्छन्दता ?	77
12.	क्रमबद्ध नहीं समझनेवाले की कितनी ही भ्रमणाएँ	90
13.	क्रमबद्ध अनुसार रुचि या रुचि अनुसार क्रमबद्ध ?	103
14.	क्रमबद्धपर्याय : द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि	106
15.	क्रमबद्धपर्याय : ज्ञातापना	112
16.	क्रमबद्धपर्याय : भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण	119
17.	क्रमबद्धपर्याय की ना-समझ का फल क्या ?	141
18.	पूज्य गुरुदेवश्री की मुमुक्षुओं के साथ हुई चर्चा और समाधान	148
19.	श्री समयसार गाथा 308 से 311, प्रवचन नं. 281	158

क्रम	विषय	पृ० क्रं.
20.	श्री समयसार गाथा 308 से 311, प्रवचन नं. 282	176
21.	श्री समयसार गाथा 308 से 311, प्रवचन नं. 3	195
22.	श्री प्रवचनसारजी, गाथा 99, प्रवचन नं. 101	210
23.	श्री प्रवचनसारजी, गाथा 99, प्रवचन नं. 102	226
24.	पूज्य बहिनश्री द्वारा क्रमबद्धपर्याय...	241
25.	परिशिष्ट – 1 – अनन्त भव की शङ्का नहीं रहती	244
26.	परिशिष्ट – 2 – क्रमबद्धपर्याय और पुरुषार्थ	248
27.	परिशिष्ट – 3 – सर्व द्रव्यों के सर्व गुणों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध!!	258
28.	परिशिष्ट – 4 – क्रमबद्ध का प्रयोजन : आत्मा का अकर्तृत्व	269
29.	परिशिष्ट – 5 – क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धित तत्त्वचर्चा	272

ॐ

परमात्मने नमः

क्रमबद्धपर्याय

(भाग-1)

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 'क्रमबद्धपर्याय' सम्बन्धी विविध प्रवचनों, वचनामृतों एवं प्रश्नोत्तरों का संकलन।

अनन्त पुरुषार्थ

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321-322-323 पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

'वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्धपर्याय प्रगट नहीं होती'—इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित विषयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है:—

1- पुरुषार्थ, 2- सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, 3- सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, 4- द्रव्यदृष्टि, 5- जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय, 6- उपादान-निमित्त, 7- सम्यग्दर्शन, 8- कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, 10- साधकदशा, 11- कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार, 12- मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि, 13- सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, 14- अनेकान्त और एकान्त, 15- पाँच समवाय, 16- अस्ति-नास्ति, 17- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, 18- निश्चय-व्यवहार, 19- आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, 20- निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के बिना कार्य होता है।

इसमें अनेक पहलुओं से—प्रकारान्तर से बारबार स्वतन्त्र पुरुषार्थ को सिद्ध

किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहिचान करायी है। जिज्ञासु जन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतन्त्र सत्य पुरुषार्थ की पहिचान करके उस ओर उन्मुख हों, यही भावना है।]

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तनवन करते हैं, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ वर्णित किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं:—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥321॥

तं तस्स तम्मि देसे जेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥322॥

अर्थ:—जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से जन्म-मरण, सुख-दु:ख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं, उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है, उसी प्रकार उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में और उसी विधि से नियमपूर्वक सब होता है; उसके निवारण करने के लिये इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ:—सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

— स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ 125

इन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है? सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिन्तवन करता है? - यह बात यहाँ बतायी है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दु:ख में धीरज दिलाने के लिये अथवा झूठा आश्वासन देने के लिए नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है, उसी प्रकार स्वयं चिन्तवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है; यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होनेवाली अवस्था सर्वज्ञभगवान ने देखी

है, उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इसमें एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है, किन्तु इसी में सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

आत्मा, सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, वह अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय-समय पर जो पर्याय होती है, वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय-समय पर विशेष में शुद्धता होती है और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, देहादि हैं, वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और यदि विकार की-पर की रुचि होती है तो अशुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता, उस तरफ की क्रमबद्ध दशा होती है, जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, उसे द्रव्य की रुचि होती है, और जिसे द्रव्य की रुचि होती है, उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है; अर्थात् सर्वज्ञभगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है, किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न—जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि सभी में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है, उसी के अनुसार अनादि-अनन्त समयबद्ध होती है, तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही ?

उत्तर—मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुषार्थ किया जाता है, तब ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है, मैं वैसा ही जानता हूँ; ऐसे निर्णय में पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानना नहीं रह जाता; किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त परद्रव्य के कर्तृत्व का महा

मिथ्यात्वभाव दूर होकर, अपने ज्ञातास्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो गयी। ऐसा अपनी ओर का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में हुआ है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ, किन्तु मैं किसी का कुछ नहीं करता – ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके, पर से पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; समस्त पदार्थों की समय-समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है, वही होती है – ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमें पुरुषार्थ किस प्रकार आया ? – सो बतलाते हैं।

1— पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नहीं करता, यह निश्चय किया कि सभी द्रव्यों का अभिमान दूर हो जाता है।

2— विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानकर जो अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष करता था, वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के लक्ष्य से हटकर, स्वयं राग-द्वेषरहित अपने ज्ञातास्वभाव में आ गया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गयी और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनों काल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिण्डरूप द्रव्य हूँ; वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह परवस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है; उस दुर्बलता को भी देखना नहीं रहा, किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष्य से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल में टूट जाएगी।

क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में से आती है, परपदार्थ में से नहीं आती, तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय को नहीं देखना रहा, किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिए कि उसने सर्वज्ञ के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न— सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, तभी तो आत्मा की रुचि होती है न ?

उत्तर — यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं ? जिसने सर्वज्ञ भगवान की ज्ञानशक्ति को अपनी पर्याय में निश्चित किया है, उसकी पर्याय, संसार से और राग से हटकर, अपने स्वभाव की ओर लग गयी है, तभी तो वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गयी है, उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! केवलीभगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं, वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते', उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में मान लिया और उसको तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि दूर हो गयी है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा में वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा एकान्त नियतवाद नहीं है किन्तु पाँचों समवाय सहित सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है, उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है; किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरी अवस्था को कोई अन्य करता है। किसी निमित्तकारण से राग-द्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और राग-द्वेष को जाननेवाली मात्र स्वसन्मुख ज्ञान की अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञातास्वरूप को जानती है, राग को जानती है और सभी पर को भी जानती है; मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है, वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है—ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझाने के लिये ही आचार्यदेव ने यहाँ पर दो गाथायें देकर वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता के होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा, इसका चिन्तवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है, उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित रहती है। आत्मा की क्रमबद्धपर्याय की जो योग्यता हो, उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कहीं

अटक जायेगी – सो बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा, उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने क्रम से जब अवस्था होती है, तब निमित्त होता ही है – ऐसा नियम है।

धूप, परमाणु की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणु की काली दशा है। परमाणु में जिस समय काली अवस्था होनी होती है, उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वयं होती है और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती है। परमाणु की काली दशा के क्रम को बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है। धूप में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाईं पड़ती है, वह हाथ के कारण नहीं होती, किन्तु वहाँ के परमाणु की ही उस-उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दोपहर को तीन बजे काली अवस्था होनी है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओं की तीन बजे होनेवाली दशा अटक जायेगी? नहीं; ऐसा बनता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक तीन बजे काली अवस्था होनी हो तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त स्वयं उपस्थित होते ही हैं; सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि तीन बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा, किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त की उपस्थिति न हो, यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु पर में वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पर पुद्गल का दृष्टान्त दिया गया है; इसी प्रकार अब जीव का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायेगा, ऐसी मान्यता बिलकुल असत्य पराधीनदृष्टि की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभनाराच संहनन न हो – ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो, वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणमित होता है, उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित होती है, निमित्त बाद में आता हो, सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है, उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है; ऐसा होने पर भी निमित्त,

उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो, और निमित्त से कार्य हो – ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था, जब होनी होती है, तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं – ऐसा स्वाधीन दृष्टि का विषय है, उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उनकी दृष्टि निमित्त पर ही रहती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिए वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में शङ्का करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है; ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शङ्का नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में, जिस वस्तु की, जो पर्याय होती है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है; मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ। इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्व स्वभाव की प्रतीति है। इसलिए सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि जिस समय में जैसा होता है, उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ; अपने ज्ञायकस्वरूप की भावना करते-करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प राग-द्वेष होता है – ऐसे चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है। इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है। यह कोई मिथ्या कल्पना या दु:ख के आश्वासन के लिये नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प राग-द्वेष होता है, उस समय सम्पूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है, उसका वे इस तरह चिन्तवन करते हैं।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुई है, उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं। देखिये, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की नि:शंकता का कितना बल है! 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं है' – यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की नि:शंकता ही हैं। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता है किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं, तब

फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल हूँ।

जिस क्षेत्र में, जिस जीव के जीवन या मरण; सुख या दु:ख का संयोग इत्यादि जिस विधि से होना है, उसमें किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं आ सकता। साँप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि जो संयोग होना है, उसे बदलने में कोई भी तीन काल और तीन लोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इसमें महानतम सिद्धान्त निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावना का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्त-मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय को। इन महा सन्त-मुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।'

'जो जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवों के लिये यही नियम है कि जिस जीव को, जिस काल में जीवन-मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख-दु:ख का निमित्त आनेवाला है, उसमें परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव के यथार्थ ज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है किन्तु किसी संयोग के भय से आड़ लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाये सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख-दु:ख के संयोग की बात की गयी है। संयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभभाव होता है, वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है, वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष्य से जानता है, वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से निज को राग-द्वेष होता है; किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही संयोग-वियोग क्रमश: होता है। मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि परसंयोग के कारण से निज को राग-द्वेष होता है; इसलिए वह संयोग को

बदलना चाहता है; उसे वीतराग-शासन के प्रति श्रद्धा नहीं है। उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है, क्योंकि जो कुछ होता है, वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है। फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो, तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है, उसी के अनुसार सब कुछ होता है और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में राग-द्वेष होता है; और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा भी अन्यथा मानता है, तो समझना चाहिए कि उसे वीतराग शासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है, उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रजकण मिलेंगे, उसमें एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्र का परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। जीवन-मरण, सुख-दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होनेवाला है, वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की सावधानी रखने पर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता; उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने में समर्थ नहीं हैं। इसमें नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है, उसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता'—ऐसी दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते; किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। पर में कुछ नहीं देखना है किन्तु निज में ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है, उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो उसमें मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त परद्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिए उसे द्रव्य में ही देखना होता है और उसी में सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाले हैं; यह भाव तीन काल और तीन लोक में बदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाये तो यह भाव बदले,

जो कि सर्वथा असक्य है। जगत, जगत ही है; यदि जगत के जीवों के यह बात नहीं बैठती तो इससे क्या ? जो वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है, वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही होता है। इसमें जो शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग में मैं परिवर्तन कर सकता हूँ – ऐसा माननेवाला, सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है और इसलिए वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है।

अहो! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है! चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे, किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं, इतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उनमें से एक भी परमाणु बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। बस, ऐसा जानकर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होनी चाहिए। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। जो जीव, पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर में सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है, सो होगा, यह तो शुष्कता है; यह बात ऐसी नहीं है। जब अनन्त परद्रव्यों से पृथक् होकर जीव, मात्र स्वभाव में सन्तोष मानता है, तब यह बात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृति में तो सभी परपदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है अर्थात् मात्र वीतरागभाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र, तीन काल और तीन लोक में एक परमाणु को भी बदलने में समर्थ नहीं है। जिसके ऐसी प्रतीति है, वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है; वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्प काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है; इसलिए वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है। ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' – ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिए 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, परपदार्थों की क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु ज्ञाता ही हूँ,' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एकमात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है, वह सब केवली जानते हैं और जो कुछ केवली ने जाना है, वह सब वस्तु में होता है; इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल-सम्बन्ध है। यदि

ज्ञेय-ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता-कर्म का किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनको किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या राग-द्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ। मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। यदि अस्थिरता से राग हो जाये तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्ध दशा होती है, वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जबकि समस्त पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नहीं हूँ, मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिए मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता ही हूँ - ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जबकि सभी क्रमबद्ध हैं और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान, जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं, किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया? नहीं, नहीं; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुषार्थ, जीवद्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा, आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में

सबकुछ एक ही साथ ज्ञात होता है – ऐसी प्रतीति करने पर, स्वयं भी निज दृष्टि से देखनेवाला ही रहा; ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक, सबकुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव, पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो, यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा होता है', तो वह मात्र बात करने के लिये कहा है अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है। पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्व प्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान के निर्णयवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है, तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाये और पुरुषार्थ न आये – यह हो ही नहीं सकता।

अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान

का जिस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के ? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है, उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की, किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है, वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिए उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी, तब वह अनन्त भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शंका दूर हो गयी है तथा एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान नि:शंक हो गया है, उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा ही होता है', ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती, वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय भी अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्धपर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो ! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं, द्रव्य में राग-द्वेष नहीं है, कोई परद्रव्य मुझे राग-द्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष है, वह मेरी निर्बलता का कारण है, वह निर्बलता भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसा होने से उस जीव को पर में न देखकर, अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। बस, इसी का नाम क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है; उस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है और वही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञदशा है।

द्रव्य में समय-समय पर जो विशेष अवस्था होती है, वह विशेष, सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है, इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। सामान्य-विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते। सामान्य में से विशेष होता है - इतना

सिद्धान्त निश्चित करने पर, वह परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में से भी मेरी पर्याय नहीं होती। इस प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर, जो जीव, मात्र द्रव्य की ओर झुका है, उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गयी है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होता है – यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर, निज में स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आयी है और न विकल्प में से आयी है, किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है; अत: वह कहीं भी न रुककर, अल्प काल में ही सम्पूर्ण सर्वज्ञ हो जाएगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है – ऐसा जो मानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को, तथा द्रव्य-पर्याय को नहीं मानता।

1– अपना आत्मा, पर से भिन्न है, तथापि वह पर का कुछ करता है; इस प्रकार मानना, सो आत्मा को पररूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है।

2– वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है, उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

3– वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है, यह बात कहाँ रही ? निमित्त, पर का कुछ भी नहीं करता, तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर में कोई परिवर्तन होता है, वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

4– द्रव्य की पर्याय, द्रव्य में से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का कर्ता हूँ) वह द्रव्य-पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता। इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु में से क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता। निमित्त सहायता करता हो, सो बात नहीं है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो। जैसे ज्ञान समस्त वस्तु को मात्र जानता है, किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है; इसी प्रकार निमित्त, मात्र उपस्थित होता है, वह उपादान के लिये कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं डालता।

जिस समय निजलक्ष्य के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन-पर्याय प्रगट होती है, उस समय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं।

प्रश्न—जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता?

उत्तर—यह हो ही नहीं सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र न हों। जब उपादानकारण तैयार होता है, तब निमित्तकारण स्वयमेव उपस्थित होता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है। दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कार्य के कर्ता हैं।

अहो! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो, जो पर्याय होनी है, वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर का अभिमान करता है, उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

वस्तु की अनादि-अनन्त समय की पर्याय में से एक भी पर्याय का क्रम नहीं बदलता। अनादि-अनन्त काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय हैं, उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार

किया उसकी दृष्टि एक-एक पर्याय से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गयी और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय को कर दूँ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि-अनन्त काल की पर्यायों में परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप में मानता है, और इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि-अनन्त हैं। अनादि-अनन्त काल के जितने समय हैं, उतनी ही उस-उस समय की पर्यायें वस्तु में से क्रमबद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है, उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी-सीधी नहीं होती तथा आगे-पीछे भी नहीं होती। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान खड़ा हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिरस्थायी प्याले हैं, उन्हें पचाने के लिये श्रद्धा-ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। जब अनादि-अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति में लेते हैं, तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह अनादि-अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है; इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने से साधक पर्याय में अपूर्णता रहने पर भी, उसे अब द्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जायेगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है; वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए बिना पर्याय में शान्ति कहाँ से आयेगी ? यदि सुख -दशा चाहिए हो तो यह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा; जिसमें से सुख-दशा प्रगट हो सके।

अहो ! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है, इस प्रकार जिसने निश्चय किया, उसे अपने में समभाव-ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो-जो पर्यायें होती हैं, उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है, उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा ? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्धदशा की प्रतीति नहीं है, उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषमभाव से क्रमबद्धरूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है, वह विषमभाव से है (विकारी है) और निज

में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है, वह समभाव से क्रमबद्ध विशेषशुद्ध होती है।

इसमें तो सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि परदृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी दृष्टि किस ओर जाती है, इस पर क्रमबद्धपर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव करने से कोई रुपया-पैसा इत्यादि परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु, जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है, वह वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है, वह आत्मभाव के कारण नहीं आती। समस्त वस्तु की पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती हैं, उनमें कोई फर्क नहीं आता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञानस्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में सभी पर्याय क्रमबद्ध होती हैं, उसी प्रकार जड़ में भी जड़ की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं। कर्म की जो-जो अवस्था होती है, उसे आत्मा नहीं करता, किन्तु वे परमाणु की क्रमबद्धपर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थायें (कारण) हैं, वे भी परमाणु की क्रमबद्ध दशायें हैं। आत्मा के शुभपरिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नहीं गयी, किन्तु परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी; इसलिए वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था में भंग नहीं पड़ जाता; जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्धदशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है, परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनों में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं, उनके सम्बन्ध में क्या समझा जाये?

उत्तर— हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्मा को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है, उसका आत्मा के परिणाम के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस-किस प्रकार के होते हैं, यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान करने के लिये कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ता-कर्म सम्बन्ध किंचित्मात्र भी नहीं है।

प्रश्न—बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त और निकाचित—ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे हैं?

उत्तर—अहो, इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान करायी गयी है। कर्म के जो दस प्रकार बताये हैं, वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार से हो सकता है - यह बताने के लिये कर्म के भेद करके समझाये हैं। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें तो दोनों के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु यह बात नहीं की है कि कर्म, आत्मा का कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमें जो अनादि-अनन्त पर्याय होती हैं, वही समय-समय पर क्रमबद्ध होती हैं।

प्रश्न—आपने तो यह कहा है न कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर—उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होनेवाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है; जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है, यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया, परन्तु जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं, वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से

ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओं को अल्प काल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी, वह खिर गयी। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग नहीं पड़ता। 'बहुत काल के कर्म क्षण भर में टाल दिये' – इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि जीव ने बहुत–सा पुरुषार्थ अपनी पर्याय में किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी हैं और वे अपने आप क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करने की जगह जीव, पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढले, और पर्याय क्रमशः शुद्ध हो जाये।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है; इसलिए इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिए, उसे जरा भी ढकना नहीं चाहिए। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिए, परम सत् को ढँकना नहीं चाहिए, किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिए। सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है, उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूप में मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढ़कर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे स्वभाव में निःशंक है, वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी सन्देह का वेदन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो! वह स्वभाव से ही प्रारम्भ करता

है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारम्भ किया था, वहीं का वहीं ला रखा है। आत्मा में स्वाश्रय से साधकदशा प्रारम्भ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा में ही होती है। केवलज्ञान सम्पूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं में से प्रारम्भ किया है और न बाह्य में कहीं रुकनेवाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है, किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझायी है, आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है, वह निश्चय करने में अनन्त वीर्य है। वह निश्चय करने पर, पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा-बुरा मानकर जो राग-द्वेष होता था, वह सब दूर हो गया; पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य, पर में रुक जाता था, वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है; राग, निमित्त वगैरह की ओर की दृष्टि गयी और स्वभाव में दृष्टि हो गयी। स्वभावदृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है, तत्सम्बन्धी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन-पाठन, यह सब बिना इकाई के शून्य के समान व्यर्थ हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कुछ सच्चे नहीं होते।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवानपना वस्तु में से ही प्रगट होता है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थवस्तु को दृष्टि में न लें तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एक बार हाँ तो कह! तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी; स्वभाव-सामर्थ्य का इन्कार मत कर! सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख, द्रव्य में से सादि-अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्षदशा प्रगट हो जाती है ॥321-322॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन छहों द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय

है। यदि जीव अपनी क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमबद्ध मोक्षपर्याय हुए बिना न रहे; क्योंकि क्रमबद्ध की श्रद्धा का भार निज में आता है। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। परद्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा, ऐसी दृष्टि के टूट जाने से, निज द्रव्य में दृष्टि रखने से, राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है, ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर सम्पूर्ण स्थिर होकर अल्प काल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो, इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय करना वास्तव में तब कहलाता है, जब बाह्य वस्तु से उदास होकर, सबका ज्ञाता मात्र रह जाये; तभी उसके क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख-दु:ख होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय की किंचित् मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण हैं। वे गुण पलटकर समय-समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है। वह उल्टी-सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं; कोई भी समय अवस्था के बिना खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्षदशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी परवस्तु पर लक्ष्य नहीं रहेगा और इसलिए किसी परवस्तु पर राग-द्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त परपदार्थों का लक्ष्य छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहेगा कि 'मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी ?' क्योंकि तीन काल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है। तात्पर्य यह

है कि जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, परद्रव्य की अवस्था चाहे जैसी हो किन्तु उसमें यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नहीं होता कि—'यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।' क्रमबद्धपर्याय का निश्चय करनेवाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है; तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है, उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूप में रहकर वह अल्प काल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह है क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतराग-स्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष के ओर की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता, वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता और इसलिए पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नहीं होती, किन्तु विकारी होगी अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो - वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो, वही हो तो फिर विकारीभाव भी जब होना हों, तभी होंगे न ?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीत को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जब होनी थी तब हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकार को जाननेवाले के ज्ञान की रुचि है या विकार की रुचि है ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य, विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है; स्वभाव के ज्ञान में

अटका हुआ वीर्य, विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता, किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्प काल में क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है, उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकार की ओर जाता है। 'जो होनी होती है, वही पर्याय क्रमबद्ध होती है' इस प्रकार जिसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में, पर में सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही सन्तोष होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सबको आचूल निमन्त्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाये, इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमन्त्रण है; 'मुक्ति के मण्डप में' सबको आमन्त्रण है। मुक्तिमण्डप के हर्ष-भोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं, जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान, जो इस बात को स्वीकार करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। लो! यह मुक्तिमण्डप और इसका हर्ष-भोज, इसे स्वीकार करो! अब, गाथा 321-322 में जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसकी विशेष दृढ़ता के लिये 323वीं गाथा में कहते हैं। जो जीव पहले गाथा 321-322 में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है —

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥323॥

अर्थ – इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है, श्रद्धा करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता, शंका-सन्देह करता है, वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है-प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर, जिन द्रव्यों और उनकी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है, वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं, वे '**सद्दिट्ठी सुद्धो**' अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। मूल पाठ में 'सो सत्दृष्टिः शुद्धा' यह

कहकर भार दिया है। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही है और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि '**शंकदि सो हु कुदिट्ठी**' अर्थात् जो उसमें शंका करता है, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है-सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने इन ३२१-३२२-३२३ वीं गाथाओं में गूढ़ रहस्य संकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव बराबर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि में इतना अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय को आगम प्रमाण से प्रतीति में लेता है अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं, सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में भी राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानता, तथापि वह श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करता है। उसका ज्ञान भी नि:शंक है। पर्याय, प्रत्येक वस्तु का धर्म है, वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप में होती है। जानने पर 'यों कैसे हुई ?' ऐसी शंका करनेवाले को वस्तु के स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' की और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में 'यों कैसे हुआ ?' इस प्रकार की शंका को स्थान ही कहाँ है ? 'ऐसा कैसे' ऐसी शंका करने का ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है किन्तु 'जो पर्याय होती है, वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको नि:शंकरूप में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्प काल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव, वस्तु की क्रमबद्ध स्वतन्त्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ, और पर मुझे राग-द्वेष करता है', उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान की और उनकी श्रीमुखवाणी के न्यायों को नहीं मानता, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव, तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की

पर्यायें प्रगटरूप में उसी से स्वयं होती हैं, तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है, उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है, वह मानों द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष्य से निज का नियत मानता है, वह एकान्तवादी, बातूनी और अपने स्वभाव के लक्ष्य से स्वयं स्वभाव में मिलकर-स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है, उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है, वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महासन्त मुनिश्वरों ने जंगल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक-एक आचार्यदेव ने अद्भुत कार्य किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परीषहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो, पद-पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है, इसके संस्कार अपूर्व वस्तु हैं, और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है। जो इसे समझ लेता है, उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न—जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया?

उत्तर—जो होना होता है, वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझसे होता है - यह जानकर, पर से हटकर, जो अपनी ओर सन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष्य से माना है; उसकी मान्यता में अनेकान्तस्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में

से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती' – इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमबद्ध जो होनी होती है, सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता' – इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है, वही होता है' – यह जानकर, अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिए परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है, किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है, इसकी प्रतीति नहीं करता अर्थात् परलक्ष्य को छोड़कर स्वलक्ष्य नहीं करता, वह एकान्तवादी है।

प्रश्न— भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप मात्र पुरुषार्थ-पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर— जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय होते हैं। पाँच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

1—मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोड़ना, वह **पुरुषार्थ** है।

2—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह दशा स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है, वह **स्वभाव** है।

3—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय प्रगट होनी थी, वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई, सो **नियति** है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी, वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई, वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है, वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

4—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई, वही उस वस्तु का **स्वकाल** है। पहले पर की ओर झुकता था, उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ, सो यही स्वकाल है।

5—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए, तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह **कर्म** है।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल, यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से

सम्बद्ध है। यदि पाँचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है कि परोन्मुखता से हटकर, स्वभाव की ओर झुकने पर, प्रथम के चारों अस्तिरूप में और कर्म को नास्तिरूप में; इस प्रकार आत्मा में पाँचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ में पाँचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पाँचवाँ नास्ति से अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया, तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निजलक्ष्य करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष्य करके परिणमित नहीं होता (अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता), तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है, तब भले ही कर्म उदय में हो, किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया, सो यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्व-सन्मुखदशा में पाँचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है, तब उसके पाँचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं, स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव, केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव को केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

उत्तर—अद्भुत है तुम्हारी शंका, तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है; इसलिए तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलम्बित हुई है। जो ऐसी शंका करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो?' वह मूर्ख है। इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो?' जो ऐसी शंका करता

है, उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलम्बित हुई है और ऐसी शंका करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब मैं अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ, तब घातियाकर्म होते ही नहीं – ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो, उसे निमित्त की शंका नहीं होती। जो निमित्त की शंका में अटक गया है, उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया है। जो उपादान है, सो निश्चय है और जो निमित्त है, सो व्यवहार है।

निश्चयनय सम्पूर्ण द्रव्य को लक्ष्य में लेता है। सम्पूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कमी की स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है; इसलिए क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है, इसलिए जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्यायें क्रमबद्ध हैं' वह जीव, सर्वज्ञता को स्वीकार करता है और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव, वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्ध – पर्यायों को नहीं मानता, वह सर्वज्ञता को नहीं मानता और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं, वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती हैं, उसी प्रकार होती हैं। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव, सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है, दूसरी ओर जगत के सर्व द्रव्यों की पर्याय अपने-अपने

भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो! इसमें एक-दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान अलग ही रह गया; सब में से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? परवस्तु का और निजवस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है; इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता; इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है, सो तो ज्ञान करने के लिये है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव, निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता।

— आत्मधर्म गुजराती, अंक 28, फरवरी 46, पृष्ठ 71 से 91

क्रमबद्धपर्याय और व्यवहार

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, क्रमबद्धपर्याय में परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

प्रश्न : जब कि वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही है, तब पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसने की ? और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसके द्वारा की जाती है ? क्रमबद्ध की श्रद्धा करनेवाला जीव, समस्त पदार्थों से उदासीन हो गया और उसने पर का लक्ष्य छोड़कर ज्ञान को निज में एकाग्र किया। अब स्व वस्तु में भी क्रमबद्धपर्याय ही है। वह निज की क्रमबद्धपर्याय कहाँ से आती है ? वह पर्याय में से नहीं आती, किन्तु वस्तु में से आती है, इसलिए वस्तुदृष्टि हुई। वस्तुदृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं हो सकती।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, वह पर से तो उदास ही हो गया–मात्र ज्ञाता ही रह गया, अब तो निज की क्रमबद्धपर्याय होती है, वह स्वभाव में से ही आती है और स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए विकार मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसे विकाररहित वस्तुस्वभाव की श्रद्धा हुई, उसी के क्रमबद्धपर्याय की बात जमती है और उसी में अनन्त पुरुषार्थ है।

एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में से ही आत्मा सम्पूर्ण सिद्ध भगवान हो जाता है। एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को जानने पर उसमें सब आ जाता है। 'क्रमबद्ध' कहने पर अनेक पर्याय लक्ष्य में आ जाती है अर्थात् वह वस्तु समस्त पर्यायों का पिण्ड है, उसी में से पर्याय प्रगट होती है; ऐसी प्रतीति करने से परपदार्थ पर, विकार पर अथवा पर्याय पर दृष्टि नहीं रही; किन्तु वस्तु पर गई। वस्तु दृष्टि में अनन्त वीर्य आता है और वही वीर्य आगे बढ़कर पूर्ण होने पर केवलज्ञान होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने से कितना वीर्य आ गया। जगत् के जितने पदार्थ हैं,

उन सभी की पर्याय क्रमबद्ध होती है। उनमें से किसी भी पदार्थ का मैं कुछ नहीं करता और मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध होती है, इसलिए मुझे किसी परद्रव्य का आधार नहीं है; बस! यह भेदविज्ञान प्रगट हो गया है।

मेरी पर्याय का आधार द्रव्य है, इस प्रकार जिसके द्रव्यदृष्टि हो गई है, उसने (1) पर से अपने को भिन्न जाना है (2) और यह जाना है कि विकार से मेरी पर्याय प्रगट नहीं होती तथा (3) स्वभावदृष्टि के होने पर अपूर्ण दशा जितना भी मैं नहीं हूँ; इस प्रकार पूर्ण स्वभाव का ही बल आ गया। पूर्ण स्वभाव के बल से अल्प काल में केवलज्ञान अवश्य होता है। इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में केवलज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ समाया है। यह बात स्वभाव की है। स्वभाव से ही यह बात जमती है, कुतर्क से नहीं जम सकती। यदि स्वभाव के परिणमन में यह बात न जमे और न रुचे तो समझना चाहिये कि निज की दृढ़ता की ओर पुरुषार्थ उन्मुख नहीं हुआ; जबकि पुरुषार्थ निज की दृढ़ता की ओर नहीं झुका है, तब वह कहीं पर की रुचि में अटका हुआ है अर्थात् उसे भव की शंका बनी ही रहती है। स्वभाव की क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्ष का नि:संदेह विश्वास हो जाता है, क्योंकि स्वभाव के परिणमन से ही मोक्ष होता है।

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय में भी बीच में व्रत-तप का शुभविकल्परूप व्यवहार तो आता ही है न?

उत्तर : जिसे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति है, उसकी दृष्टि व्रत पर नहीं होती, किन्तु द्रव्य पर होती है। यद्यपि व्रत भी क्रमबद्धपर्याय ही है, इसलिए ज्ञानी उसे भी ज्ञातारूप में जानता है परन्तु उसकी भावना नहीं करता। बीच में जो व्रत आता हे, उसकी जिसे भावना है, उसे स्वरूप की भावना नहीं है। बीच में जो राग आता है, उसे वह जानता तो है, किन्तु भावना, स्वरूप की ही होती है। व्रत का राग तो आस्रव है। जो व्रत की भावना करता है, वह आस्रव को अच्छा मानता है अर्थात् वह संसार को ही अच्छा मानता है; वह बन्ध और आत्मा को भिन्न जानता ही नहीं। जो आत्मा और बन्ध को भिन्न जानता है, उसके बन्ध भाव की भावना कदापि नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। एक द्रव्य

दूसरे का कुछ करता है अथवा पुण्य से आत्मा को धर्म होता है, यह बात सत्य धर्म की परिधि से बाहर है, वह सत्य की मर्यादा में नहीं आती।

वस्तु की क्रमबद्धपर्याय होते समय निमित्त की उपस्थिति होती है, किन्तु वस्तु की पर्याय में वह किंचित्मात्र सहायक नहीं है। वस्तुदृष्टि की प्रतीति में क्रमबद्ध शुद्धपर्याय प्रगट होने पर बीच में जो विकल्परूप व्यवहार आता है, वह भी शुद्धपर्याय के लिये सहायक नहीं है, इसलिए उस व्यवहार का खेद होना चाहिए। श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं कि—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपिप्राक्पदव्यामिहनिहितपदानांहंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परं विरहितमंतः पश्यतां नैव किंचित्॥5॥

अर्थ—जिनने इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न हुई हो, तब तक) अपना पहला कदम रखा है, उस पुरुष के लिये यद्यपि व्यवहारनय को हस्तावलम्बनरूप कहना पड़ा है, जो कि खेद की बात है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम अर्थ को अन्तरंग में देखते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा बिल्कुल लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय किसी भी तरह प्रयोजनभूत नहीं है।

व्यवहारनय बीच में आ जाता है; उसे 'हंत' कहकर तिरस्कृत किया है। व्यवहार पर द्वेष नहीं है, किन्तु उस के प्रति उपेक्षा है। उस ओर दृष्टि का बल नहीं है। दृष्टि निषेध करती है; ज्ञान उसे जानता है। बीच में व्यवहार आ जाता है, वह भी क्रमबद्ध ही है। पूर्ण होते-होते बीच में साधकदशा में व्यवहार न आये तो क्या पूर्ण हो जाने पर व्यवहार का विकल्प उठेगा?

यह तो इसकी स्थिति ही ऐसी है कि साधकदशा में बीच में बाधकरूप व्यवहार आता ही है, किन्तु यदि जीव उस व्यवहार में अटक जाये तो वह साधकदशा में आगे नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। व्यवहार भले आये, उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वह बीच में आ जाता है, इसी का खेद है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जोर द्रव्य पर ही है, पर्याय पर उसका जोर नहीं है। द्रव्य की ओर के बल से भंग-भेदरूप व्यवहार का निषेध है।

कुन्दकुन्द भगवान दृढ़तापूर्वक सचेत करते हैं कि हे भाई! ध्यान रखना। स्वभाव की साधकदशा में बीच में राग भले आ जाये, मुनिदशा में भी विकल्प भले उठे, किन्तु उसे साधन मत मान बैठना, उसकी चाह-उमंग मत करना; वह बाधक है; उसे बाधकरूप जानकर छोड़ देना और निश्चयस्वभाव के बल से आगे कदम बढ़ाना। इस प्रकार निश्चयस्वभाव की दृष्टि के बल से ही तेरी पर्याय क्रमशः शुद्ध होती जायेगी।

इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में अध्यात्मस्वरूप की बात है। इसे समझन में जिसे उकताहट मालूम होती है, उसे आत्मा के स्वरूप प्रति अरुचि होती है। स्वरूप को समझने में जो उकताहट आ जाती है, उसके कारण उसे राग की बात सरल मालूम होने लगती है। अध्यात्मपद्धति में राग और विकल्प की बात व्यवहार से की हो तो उसे सुनने पर जिसे उत्साह होता है और अध्यात्मस्वरूप की बात समझने में जिसे उत्साह नहीं होता, उसे आत्मा के परमार्थस्वरूप के प्रति उकताहट है और स्वरूप के प्रति उकताहट का होना ही मिथ्यात्व है।

आचार्यदेव कहते हैं कि याद रहे! बीच में शुभराग आता है, यदि उसके प्रति उत्साहित हुए तो राग में और मिथ्यात्व में फँस जाओगे। बीच में जो राग आये, उसके प्रति उत्साहित मत होना, किन्तु उसे ज्ञातारूप में जानकर छोड़ देना और ज्ञान को ही ग्रहण करना। इसीलिए समयसार की 296 वीं गाथा में कहा है, प्रज्ञा के द्वारा ही (सम्यग्ज्ञान से ही) आत्मा का ग्रहण होता है और प्रज्ञा के द्वारा ही बन्ध का नाश किया जाता है।

— आत्मधर्म गुजराती, अंक 30, मार्च-अप्रेल 1945, पृष्ठ 109 से 112

क्रमबद्धपर्याय का स्पष्टीकरण

(श्री समयसार, सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार, गाथा 308 से 311)

जो भी कार्य होता है, वह कर्ता के आश्रित होता और कर्ता उस कर्म के आश्रित होता है, कर्ता कार्य पर अवलम्बित होता है। ऐसा नहीं होता कि कार्य कहीं हो और कर्ता कहीं रह जाए। जड़ की अवस्था के आश्रित जड़ और आत्मा की अवस्था के आश्रित आत्मा होता है। यह नहीं हो सकता कि कर्ता अलग रह जाए और अवस्था अलग बनी रहे। कर्ता और कार्य चैतन्य के चैतन्य में और जड़ के जड़ में स्वतन्त्र हैं। कोई परद्रव्य किसी परद्रव्य की अवस्था को बदलने में समर्थ नहीं हैं।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों में से उत्पन्न होकर के भी जीव ही है, अजीव नहीं। भगवान आत्मा में क्रमबद्ध एक समय के बाद दूसरे समय की पर्याय और दूसरे समय के बाद तीसरे समय की पर्याय क्रमशः उत्पन्न होती है। एक समय में त्रिकाल की समस्त पर्यायें नहीं आ जाती। आत्मा अनादि-अनन्त है, उसमें अनादि काल की जितनी अवस्थायें होती हैं, वे सब एक के बाद एक होती हैं, वस्तु की क्रमबद्धता नहीं छूटती। आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण हैं, उसमें एक गुण की एक समय में एक ही अवस्था होती है। अनन्त गुणों की मिलाकर एक समय में अनन्त अवस्थाऐं होती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि अनन्त गुण आत्मा में हैं। प्रत्येक गुण प्रति समय बदलता रहता है। यह नहीं हो सकता कि गुण न बदले; इसलिए प्रत्येक गुण समय-समय पर क्रमबद्ध बदलता रहता है किन्तु गुणों की तीनों काल की सभी अवस्थाऐं एक साथ नहीं आ जाती।

वस्तु अनन्त गुणों का पिण्ड है, वस्तु में जो अवस्था होती है, वह एक के बाद दूसरी क्रमशः है, क्रमबद्ध होती है, क्रमशः होती है।

आत्मा में जो अवस्था होती है, उसमें आत्मा स्वयं क्रमशः परिणमित होता हुआ भी स्वयं ही है, दूसरी कोई वस्तु परिणमित नहीं होती। आत्मा कर्ता है और उसकी अवस्था उसका कार्य है। वह कार्य आत्मा में क्रमशः होता है, साथ का दूसरा आदमी कर ही क्या सकता है। यदि एक दूसरे की अवस्था को करने लगे तो वस्तु पराधीन हो जाए। यदि साथ

में श्री तीर्थंकर खड़े हों तो वे भी क्या कर सकते हैं ? अपनी रुचि अपने द्वारा यदि स्वभाव में आ जाए तो स्वभाव की क्रमबद्ध अवस्था होती है और अपनी रुचि यदि पर में हो गई तो विकार की क्रमबद्ध अवस्था होती है, इसमें दूसरा क्या कर सकता है ?

स्वयं अपनी अवस्था से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं है। कर्म कारण हो और आत्मा कार्य हो, यह बात नहीं है, किन्तु स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य है।

जड़ में भी क्रमबद्ध पर्याय होती है। जैसे मिट्टी में से घड़ा होने की जो पर्याय होती है, वह क्रमबद्ध होती है, उसमें कुम्हार कुछ नहीं कर सकता; इसलिए अजीव का कर्ता जीव नहीं है, किन्तु अजीव अपनी अवस्था से एक के बाद दूसरा उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।

जिसे ऐसी प्रतीति हो गई है कि अपनी अवस्था क्रमशः होती है, उसके यह भाव दूर हो जाता है कि पर मेरा कुछ कर देता है। उसकी पराधीनता की ऐसी दृष्टि दूर हो जाती है कि अनन्त जीव और अनन्त जड़ मेरा कुछ कर सकते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म बात है, यह कर्ता-कर्म का महान सिद्धान्त है।

वस्तु में पर्याय एक के बाद दूसरी क्रमशः होती है, उसका कर्ता अन्य कोई नहीं; स्वयं ही है। बन्ध के समय मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के समय बन्ध नहीं होता। वे पर्यायें एक के बाद दूसरी होती है, किन्तु दोनों एक साथ नहीं होती। वस्तु तो निश्चित एकरूप है, उसमें एक के बाद दूसरी का क्रम नहीं बनता, इसलिए वस्तु अक्रम है और पर्याय क्रमरूप है।

केवलज्ञान की पर्याय पहले आ जाए और सम्यग्दर्शन की पर्याय बाद में आ जाए, ऐसी उल्टी-सीधी पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु सम्यग्दर्शन पहले होता है और केवलज्ञान उसके बाद ही होता है, इस प्रकार क्रमशः पर्याय प्रगट होती है, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना और पुरुषार्थ का प्रारम्भ किये बिना मोक्षमार्ग की ओर की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती और मोक्ष की भी क्रमबद्धपर्याय नहीं होती।

जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं है, वह पुरुषार्थ को अपने आप प्रारम्भ नहीं करता और इसीलिए उसे बिना पुरुषार्थ के सम्यग्दर्शन नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं होता। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उसके निर्मल क्रमबद्धपर्याय नहीं होती, किन्तु विकारी क्रमबद्धपर्याय हुआ करेगी।

जो अवस्था जिस वस्तु में से होती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मुक्ति होती है। परद्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा, ऐसी दृष्टि टूट जाने से, वस्तु पर दृष्टि रखने से राग नहीं होता। वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है, ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता छूटकर स्थिर होकर अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है, इसमें अनन्त पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप दृष्टि करने से और उस दृष्टि के द्वारा स्वरूप में रमण करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। वह शुद्ध क्रमबद्धपर्याय बिना प्रयत्न के नहीं होती।

अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसमें भी चैतन्य के वीर्य की उग्रता कारण है। परन्तु अन्तर्मुहूर्त में भी समस्त पर्यायें क्रमश: ही होती हैं। कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी नहीं होती। पहले होनेवाली पर्याय पीछे हो और पीछे होनेवाली पर्याय पहले हो, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे पहले केवलज्ञान हो जाए और बाद में वीतरागता हो, यह नहीं बन सकता। परन्तु जो पर्याय जैसी होना होती है, वैसी ही होती है और फिर समस्त पर्यायें एक साथ भी नहीं होती। सम्यग्दर्शन की पर्याय और केवलज्ञान की पर्याय के बीच अन्तर्मुहूर्त का अन्तर होता ही है परन्तु अन्तर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान हुआ, वह किसी ने कर नहीं दिया और यह बात भी नहीं है कि स्वत: काललब्धि के पाक से वह हो गया है, किन्तु वह चैतन्य के उग्र पुरुषार्थ का कार्य है।

चैतन्य के एक क्षण के पुरुषार्थ की उग्रता में पाँचों समवाय आ जाते हैं। (1) वस्तु पर जो यथार्थ दृष्टि हुई, वह पुरुषार्थ के द्वारा ही हैं—एक तो वह **पुरुषार्थ**। (2) उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव था, वह पर्याय प्रगट हुई, वह **स्वभाव**। (3) जिस समय पुरुषार्थ के जोर से पर्याय प्रगट हुई, वह स्वकाल अर्थात् वह **काल**। (4) पुरुषार्थ के द्वारा

जो पर्याय होना थी, वह हो गई, वह **नियत**। (5) स्वभाव पर्याय के प्रगट होते समय जो कर्म का अभाव हुआ, वह **कर्म**। इनमें से चार समवाय अस्तिरूप में अपने में आ जाते हैं और अन्तिम जो कर्म का अभाव है, वह नास्ति परिणमन के रूप में अपने में आ जाता है; इसमें सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है।

वस्तु की पर्याय के प्रगट होने में पाँच कारण होते हैं, उनमें सबमें पुरुषार्थ मुख्य है। जैसी वीर्य की उग्रता या मन्दता होती है, उसी के अनुसार कार्य होता है।

जो पुरुषार्थ करता है, उसे अन्य चारों कारण भी मिल जाते हैं। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उसे एक भी कारण लागू नहीं होता।

पहले सम्यग्दर्शन के होने में अनन्त पुरुषार्थ है, सम्यग्दर्शन के होते ही मानों अनन्त संसार कट गया। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अनन्त पराक्रम प्रगट हो गया। जो द्रव्यदृष्टि है, वह सम्यग्दृष्टि है। वस्तुदृष्टि के बल से अवश्य वीतराग हो जायेगा, अवश्य केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। वस्तुदृष्टि के बल से प्रयत्न के द्वारा स्थिर होता है और उसके बाद वीतराग होता है।

वस्तु की पर्याय का आधार द्रव्य है, उसमें पर का आधार नहीं है। जहाँ ऐसी दृष्टि हो गई, वहाँ जहाँ से पर्याय होती है, वहाँ देखना होता है। पर के द्वारा मेरी पर्याय होती है; इस प्रकार के राग का विकल्प दूर हो जाता है, वीतरागदृष्टि हो जाती है। अनन्त पर्यायों का पिण्ड परिपूर्ण द्रव्य मौजूद है, उस पर दृष्टि जाते ही विकार की दृष्टि दूर हो जाती है। पराश्रय दृष्टि के दूर होते ही भीतर जो क्रमबद्धपर्याय से परिपूर्ण द्रव्य है, उस पर दृष्टि जमाते ही पुरुषार्थ के द्वारा क्रमबद्धपर्याय प्रगट हो जाती है। उग्र वीर्य अथवा मन्दवीर्य के कारण से जिस समय जो पर्याय हुई, उसका वह सुकाल है। अन्य कोई काल चैतन्य को नहीं रोकता। कहा जा सकता है कि कोई उग्र पुरुषार्थ करता है और कोई मन्द पुरुषार्थ करता है, इसका क्या कारण है ? उसका कारण चैतन्य का अपना कारण है। उग्र अथवा मन्द पुरुषार्थ के लिये स्वयं परिणमित हुआ है। पुरुषार्थ को उग्र अथवा मन्द करने के लिये चैतन्य स्वयं स्वतन्त्र हैं। मुझमें न तो कर्म कारण है, न पर कारण है और न काल ही कारण है। अकारण पारिणामिक द्रव्य के लिये किसी का भी कारण लागू नहीं होता। कर्म तो

निमित्तमात्र है; स्वयं अकारण पारिणामिक द्रव्य है, उसमें किसी का कारण काम नहीं लगता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं रोकता। यदि रोके तो द्रव्य पराधीन हो जाए।

द्रव्य में अनन्त गुण हैं और उसकी जो अनन्त पर्यायें हैं, वे प्रति समय क्रमबद्ध होती है, उस द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा, पुरुषार्थ के द्वारा होती है। वैसी श्रद्धा और ज्ञान के होने पर पुरुषार्थ स्वभाव की ओर झुका और पराश्रय दूर हो गया। कर्म का, काल का, गुरु का, देव का, और पुस्तक का आश्रय दृष्टि में से छूट गया और मेरी अवस्था मुझमें मेरे कारण से होती है, यह प्रतीति हो गई। आत्मा में पर्याय एक के बाद दूसरी निज में से होती है, ऐसी प्रतीति होने पर, परद्रव्य का आश्रय दूर हुआ और वही पुरुषार्थ हुआ, उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव प्रगट हुआ, वह स्वभाव इत्यादि पाँचों समवाय एक पुरुषार्थ के करने पर आ जाते हैं।

अपने द्रव्य में सभी अवस्थायें क्रमशः होती हैं, उल्टी-सीधी नहीं होती; इस प्रकार की प्रतीति होने पर, मित्र और शत्रु का पराश्रय दूर हो जाता है। वस्तु पर दृष्टि जाते ही अनन्त पराक्रम विकसित होता है। जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है, वह वस्तु में और पर्याय में कोई भेद नहीं देखता। वस्तु और वस्तु की पर्याय के बीच भेद का कोई विकल्प नहीं रहता। वस्तु पर दृष्टि जाने पर मुक्ति कब होगी, ऐसी आकुलता या खेद का विकल्प दूर हो जाता है। विकल्प के दूर हो जाने पर, द्रव्य और पर्याय के बीच वह कोई भेद नहीं देखता, उसमें ज्ञाता-दृष्टा का अनंत पराक्रम आ जाता है। वह ज्ञाता-दृष्टा के बल से स्वरूप में स्थिर होकर मुक्ति की पर्याय को प्राप्त करेगा।

मोक्ष की पर्याय और मोक्ष के मार्ग में पराश्रयता नहीं है। मुझमें जो अवस्था होती है, वह क्रमशः होती है; इस प्रकार की पराश्रयदृष्टि दूर हुई और स्वाश्रयदृष्टि आई, वह अनन्त पुरुषार्थ हुआ। वस्तु के ऊपर दृष्टि जाने पर मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्याय में भेद अथवा विकल्प नहीं रहता, इसमें अनन्त पराक्रम है।

भगवान आत्मा में अनन्त गुण भरे हुये हैं, उसमें प्रत्येक समय में अवस्था क्रमशः, क्रमवार, क्रमबद्ध होती है, उस अवस्था को शरीर अथवा पर इत्यादि कोई नहीं करता, ऐसी स्वाश्रयदृष्टि हुई और पराधीनदृष्टि दूर हुई कि अनन्त पुरुषार्थ आ गया। द्रव्य पर दृष्टि जाते

ही आकुलता का विकल्प टूट जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के तेज से स्थिर होकर मोक्षपर्याय को पाता है। द्रव्य पर दृष्टि है अर्थात् उसके बल से मुक्ति की पर्याय शीघ्र प्राप्त हो जाती है। आकुलता का विकल्प टूटते ही शीघ्र मुक्ति की पर्याय प्राप्त हो जाती है, वह एक दो भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा।

अज्ञानी के विपरीतदृष्टि है, वहाँ भी उसकी पर्याय क्रमशः होती है। जो इस बात को समझ लेता है, उसके विपरीतता नहीं रहती। जहाँ यथार्थ समझ प्राप्त हुई, वहाँ इसने यह किया और उसने वह किया इत्यादि दूसरे का दोष ढूँढ़ निकालना मिट जाता है। वस्तु की ओर देखने से ज्ञात होगा कि वस्तु में राग-द्वेष नहीं है, किन्तु जो नया-नया राग-द्वेष होता है, वह अपने विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा होता है, उसमें दूसरे का कोई दोष नहीं है। जीव की क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने पर जड़ की भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हो जाती है।

अब जड़ की क्रमबद्धपर्याय कही जाती है। शरीर में जब रोग आना होता है, तब आता है, शरीर में जब जब रोग आता है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था के अनुसार ही आता है, उसे बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

मकान जिस ढंग से बनना होता है, उसी ढंग से बनता जाता है। एक मंजिल के बाद दूसरी मंजिल और उसके बाद तीसरी मंजिल जैसे क्रमसर होनेवाली है, वैसे ही बनती है और उसके बाद उसमें यदि संगमरमर बिछनेवाला होता है तो वह बिछता है और यदि कांच लगने का होता है तो वह लगता है। उसकी अवस्था जैसी होनी होती है, वैसी क्रमशः होती है।

दूध में क्रमशः खटाश आने का अवसर था, तब वह उसके कारण से होती है। कोई उसमें खटाश कर नहीं देता। छाछ इत्यादि के कारण खटाई हो गई, यह बात नहीं है किन्तु उस समय दूध में दही की अवस्था क्रमशः होनी थी; इसलिए उसे वैसा निमित्त मिल जाता है। प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र कार्य कर रहा है। एक परमाणु को दूसरा परमाणु परिणमन नहीं करा सकता, इस प्रकार यहाँ स्वतंत्रता की घोषणा की गई है।

उपादानदृष्टि यथार्थ दृष्टि है, प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, उसमें दूसरा क्या कर सकता है, मिट्टी से घड़ा बनता है, उसमें क्रमपूर्वक मिट्टी में से पर्याय आती है। क्रमपूर्वक जब घड़े

की पर्याय होने का समय आता है, तब कुम्हार के होने पर मिट्टी में से जो क्रमबद्धपर्याय होती है, वह उसकी मिट्टी के अपने कारण से होती है, कुम्भकार के कारण नहीं।

प्रश्न : कोई कहता है कि यदि कुम्हार उपस्थित न हो तो ?

उत्तर : घड़ा न बनना हो और मिट्टी का पिण्ड ही रहना हो तो वह भी क्रमशः ही है, उस क्रम को तोड़ने के लिये अज्ञानी, ज्ञानी अथवा तीर्थंकर कोई भी समर्थ नहीं है।

जब कोई आकस्मिक दुर्घटना होती है, तब लोग यह विचार करते हैं कि यह घटना कैसे हो गई ? किन्तु सच बात तो यह है कि कुछ भी आकस्मिक तो होता ही नहीं है, वह अपनी क्रमबद्ध अवस्था के नियमानुसार ही होता है। जो इस प्रकार वस्तु के नियम को समझता है, उसे वीतरागदृष्टि हुये बिना नहीं रह सकती। जो वीतरागस्वभाव को समझ लेता है, उसे वीतरागता का कार्य आये बिना नहीं रहता।

मैं पर का कुछ नहीं कर सकता और पर मेरा कुछ नहीं कर सकता। सभी आत्मा की और जड़ की एक के बाद दूसरी क्रमशः अवस्था होती है, इसमें मैं क्या करूँ ? इसके समझते ही तत्काल शान्ति होती है। यहाँ तो यह कहना है कि पर के ऊपर का झुकाव छोड़ दे; क्योंकि जिसकी दृष्टि जहाँ होती है, वहीं उसकी ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। दूसरे का कर्तृत्व छोड़ने पर अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। ★

— आत्मधर्म गुजराती, अंक 13, अक्टूबर 1944, पृष्ठ 4 से 7

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कितनी ही शक्तियों द्वारा

क्रमबद्धपर्याय का स्पष्टीकरण

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति

आत्मा की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति का वर्णन चलता है। आत्मा में ज्ञान के साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना भी समय-समय बन ही रहा है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सभी गुणरूप से ध्रुव टिककर, प्रत्येक समय में एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप बदल जाते हैं। सिद्ध के आत्मा को भी आनन्द का अनुभव समय-समय में बदला करता है। आनन्द भले वैसा का वैसा ही रहता है, परन्तु पहले समय का जो आनन्द था, वही दूसरे समय में नहीं रहता, दूसरे समय में आनन्द की नयी अवस्था का उत्पाद होता है और पहली अवस्था का व्यय होता है, तथा आनन्द गुण की तो धारावाहीरूप से ध्रुवता रहती है। इस प्रकार पर्याय उत्पाद-व्यय से क्रमवर्ती है और गुण ध्रुवरूप से अक्रमवर्ती है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्—ऐसा सूत्र का वचन है, अर्थात् कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवतासहित है। प्रत्येक समय में नयी पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश और द्रव्य-गुण का टिकना, सब वस्तुओं में होता है। उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें क्रमवर्ती हैं, एक साथ सभी पर्यायें नहीं वर्तती, परन्तु एक के बाद एक वर्तती है और ध्रुवरूप गुण अक्रमवर्ती हैं। सभी गुण तीनों काल एक साथ ही वर्तते हैं।

देखो! यह वस्तुस्वरूप! अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने से ही है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्थारूप होता है। यह बात समझे तो मेरी अवस्था दूसरा कोई पलटा देगा, ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाए और अपने में ध्रुवस्वभाव सन्मुख झुकाव हो जाए; ध्रुव के साथ पर्याय की एकता होने से निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

जिस समय में अपूर्व सिद्धदशा का उत्पाद, उसी समय में संसारदशा का व्यय और आत्मद्रव्य की ध्रुवता; जिस समय में सम्यग्दर्शन का उत्पाद, उसी समय में मिथ्यात्व दशा

का व्यय और श्रद्धागुण की ध्रुवता; इस प्रकार एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना वस्तु में त्रिकाल है, परन्तु जब उसका भान करके स्वाश्रय से परिणमे, तब निर्मलता का उत्पाद और मलिनता का व्यय होता है।

आत्मा के उत्पाद-व्यय स्वयं से ही है, इसलिए विकार भी स्वयं से ही होता है; यह तो सही, परन्तु अपनी पर्याय में जिसे अकेले विकार की ही उत्पत्ति भासित होती है, उसने आत्मा के स्वभाव को वास्तव में जाना ही नहीं है। 'मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव मुझसे ही है'— ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने किसके सामने देखकर यह निर्णय किया। मेरे स्वभाव से ही मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव है—ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि तो अपने स्वभाव के ऊपर आयी, इसलिए अकेले विकार की उत्पत्ति उसको रहती ही नहीं; उसे तो स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय प्रगट होकर साधकदशा शुरु हो जाती है। जिसे ऐसी साधकदशा होती है, उसे ही पर्याय के विकार का यथार्थ ज्ञान होता है। यह मूलभूत न्याय है।

अपने कारण से क्रमबद्ध 'विकार' होता है, ऐसे अकेले विकार पर दृष्टिवाले को वास्तव में क्रमबद्धपर्याय की या उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है, क्योंकि यदि शक्ति की प्रतीति होवे तो शक्तिवान के अवलम्बन से निर्मल परिणमन शुरु हुए बिना नहीं रहे। त्रिकाली गुणी के साथ अभेद होकर पर्याय का परिणमन हो, वह धर्म है।

'सर्वज्ञ भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में देखा है, इसलिए मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होता है,' ऐसे अकेले विकार के क्रम को ही देखनेवाले की दृष्टि बहुत विपरीत है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! तू सर्वज्ञ का नाम न ले, तूने सर्वज्ञदेव को माना ही नहीं। तू सर्वज्ञ को नहीं देखता, परन्तु अकेले विकार को ही देखता है, क्रमबद्धपर्याय की भी तुझे खबर नहीं है। सर्वज्ञदेव को प्रतीति में ले, उसे तो अपने में साधकदशा का क्रम शुरु हो जाता है, अकेले विकार का क्रम उसके रहता ही नहीं। जिसे स्वभाव के आश्रय से अमुक निर्मल परिणमन हुआ है और बाकी अल्प विकार रहा है, ऐसे साधक जीव की यह बात है। उसे ही अपने क्रम—अक्रम स्वभाव की (उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वभाव की) तथा सर्वज्ञदेव की वास्तविक प्रतीति हुई है। अकेले विकार के वेग में बहता आत्मा स्वभावशक्ति की प्रतीति कहाँ से करे? जो विकार के प्रवाह में बह रहा है, वह जीव किसके आधार से

स्वभाव की प्रतीति करेगा ? और किसके आधार से सर्वज्ञ को मानेगा ? स्वभाव-सन्मुख ढला हुआ जीव विकार को भी जैसा है, वैसा जानेगा और वही सर्वज्ञता को यथार्थरूप से मानेगा।

(1) जिस प्रमाण कर्म का उदय आवे, तत्प्रमाण विकार होता है, ऐसा माननेवाले की मान्यता बहुत विपरीत है।

(2) दूसरा कोई ऐसा कहे कि सर्वज्ञ भगवान ने अपनी पर्याय में विकार होना ही देखा है, इसलिए विकार होता है, तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है।

(3) तीसरा कोई ऐसा कहे कि पर्याय का क्रमबद्ध होने का स्वभाव है, इसलिए विकार होता है, तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है, वास्तव में उसने क्रम स्वभाव को जाना ही नहीं है। अकेले विकार का ही क्रम जिसे वर्तता है, उसे वास्तव में क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हुई ही नहीं।

(4) चौथा कोई ऐसा कहे कि विकार होता है, उतना ही आत्मा है, अथवा शुभराग, वह धर्म का कारण है, तो उसकी मान्यता भी विपरीत ही है।

(5) उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति इत्यादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड मेरा आत्मा है, ऐसे अनन्त गुण के पिण्डरूप ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से, गुणों में अक्रमपना और पर्याय में निर्मल क्रम, ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ, और उसे ही शक्तियों का वास्तविक परिणमन हुआ, उसने ही वास्तव में सर्वज्ञदेव को जाना; उसे ही क्रमबद्धपर्याय का भान हुआ; वह कर्म से विकार होना नहीं मानता और विकार से लाभ नहीं मानता। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता रखकर, अस्थिरता का जो अल्प विकार है, उसे ज्ञेयरूप से जैसे है, वैसे वह ज्ञाता जानता है। पर्याय अन्तर में ढलकर, त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ अभेद होकर परिणमी, तब ही 'आत्मा' को वास्तव में माना है और तब ही आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अथवा गुण-पर्यायरूप स्वभाव है। उसकी वास्तविक प्रतीति कब हुई कहलाये ?—कि गुणी के अवलम्बन से निर्मल पर्याय प्रगट करे तब। जो अकेले विकार को ही देखता है और विकार में ही तन्मय होकर परिणमता है, उसने अनन्त शक्तिवाले आत्मा को वास्तव में माना नहीं। यदि अनन्त शक्तिवाले आत्मा को माने तो

उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणमन हुए बिना रहे नहीं। किसी भी शक्ति की प्रतीति ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही होती है। अभेद आत्मस्वभाव का आश्रय लिये बिना उसकी एक भी शक्ति की वास्तविक पहिचान नहीं होती।

आत्मा के अनन्त स्वभावों में से एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव है, उसका यह वर्णन चलता है। आत्मा वस्तुरूप से कायम रहकर, समय-समय में उसमें नयी-नयी अवस्था हुआ ही करती है, ऐसा उसका स्वभाव है। वह अवस्था, यदि अपने स्वभाव के साथ एकता करके परिणमे तो निर्मल होती है और यदि पर के साथ एकता मानकर परिणमने तो मलिन होती है।

यहाँ तो उत्पाद-व्ययरूप पर्याय को क्रमवर्ती कहा है, उसमें से क्रमबद्धपर्याय की बात निकालनी है। इस क्रमबद्धपर्यायरूप स्वभाव के निर्णय में विकार की बात नहीं परन्तु निर्मल पर्याय की ही मुख्य बात है, तथापि उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि विकार पर्याय उल्टी-सीधी हो जाती है! परन्तु क्रमबद्ध स्वभाव का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायकस्वभाव पर होती है, इसलिए वह दृष्टि विकार को स्वीकार नहीं करती, इसलिए निर्मल पर्याय की ही मुख्यता है।

एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता, यह तो जैनशासन की मूल बात है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवता तीनों एक समय में, ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति करे तो वीतरागी दृष्टि हो जाए। जैसे रवि-सोम-मंगल ये सब वार एक के बाद एक क्रमसर होते हैं; उसी प्रकार पर्यायें क्रमसर होती हैं। पहले समय की अवस्था दूसरे समय नहीं रहती परन्तु व्यय पा जाती है; कोई जीव पर्याय को दूसरे समय में रखना चाहे तो भी नहीं रह सकती, ऐसा ही स्वभाव है, इसलिए क्या करना? कि ध्रुवस्वभाव शाश्वत् शुद्ध ऐसा का ऐसा टिकता है, उसके सन्मुख देख और उसमें दृष्टि की एकाग्रता कर, तो उस ध्रुव के आधार से पर्याय का निर्मल पलटा हो जाएगा। वहाँ भी समय-समय में बदलाव तो होगा परन्तु वे पर्यायें निर्मल ज्ञान-आनन्दस्वरूप होती जाएगी।

एक समय की पर्याय दूसरे समय में नहीं रहती, दूसरे समय में नयी पर्याय हो, ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है और द्रव्य का कभी नाश न हो, ऐसा ध्रुवस्वभाव है। उत्पाद-

व्यय और ध्रुव ये भिन्न-भिन्न नहीं परन्तु एक ही वस्तु का वैसा स्वभाव है। ज्ञानी या अज्ञानी सब आत्मा को उत्पाद-व्यय-ध्रुव तो समय-समय में वर्तता ही है, परन्तु उसमें अन्तर इतना है कि ज्ञानी को तो स्वभाव की दृष्टि से निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती जाती है और अज्ञानी को विकार में ही आत्मबुद्धि होने से विकारी पर्यायों की उत्पत्ति होती है। बस, यही धर्म-अधर्म है, मोक्षमार्ग और संसारमार्ग इसमें आ जाता है।

मेरे आत्मा में एक साथ अक्रमरूप से अनन्त गुण वर्तते हैं और पर्याय समय-समय में मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव से पलटती है, इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावी आत्मा को पहिचान कर उसका श्रद्धा-ज्ञान करे, वहाँ मिथ्यात्व का उत्पाद रहता ही नहीं। आहाहा!

आत्मा का कौन सा समय पर्यायरहित होता है ? उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति आत्मा में अनादि-अनन्त है, इसलिए तीन काल में एक भी समय पर्याय बिना का नहीं है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व स्वभाव से प्रत्येक समय में पर्याय हुआ ही करती है। इसीलिए निमित्त आवे तो पर्याय होती है और निमित्त न आवे तो नहीं होती, यह बात नहीं रहती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा होने से ज्ञाता-दृष्टापने का वीतरागभाव प्रगट होता है, पर्याय के क्रम को बदलने की या राग के कर्तापने की बुद्धि नहीं रहती। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति में क्रम-अक्रमपना आता है, उस क्रम-अक्रमपने की प्रतीति अकेली पर्याय को देखने से नहीं हो सकती, अनन्त शक्तिवाले स्वभाव सन्मुख देखने से ही क्रम-अक्रमपने की प्रतीति होती है; और ऐसी प्रतीति करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। इस प्रकार पर्यायबुद्धि का नाश और स्वभावबुद्धि की उत्पत्ति, वह इन शक्तियों की समझ का फल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति आत्मा में भी है और जड़ में भी है। आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में शरीर की क्रिया नहीं है। यह शरीर की क्रिया तो जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे से भिन्न हैं। मन-वाणी-देह-लक्ष्मी इत्यादि के उत्पाद-व्यय का आत्मा में अभाव है, वे जड़ के उत्पाद-व्यय आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए उनसे आत्मा में कुछ नहीं होता और आत्मा उनका कुछ नहीं करता। शरीर, लक्ष्मी इत्यादि जड़ का सदुपयोग करके मैं धर्म प्राप्त करूँ, यह बात भी नहीं रहती। कोई ऐसा

विचार करे कि गधे के सींग में मैं सुन्दर कारीगरी करूँ! तो वह उसकी भ्रमणा है, क्योंकि गधे के सींग का अभाव है। जैसे गधे के सींग का अभाव है, वैसे आत्मा में देहादि जड़ का अभाव है, इसलिए इन देहादि के सदुपयोग द्वारा धर्म करूँ, यह भी अज्ञानी की भ्रमणा ही है।

अपने ज्ञानस्वभाव के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में आत्मा वर्तता है; पुण्य-पाप में वर्ते वह वास्तव में आत्मा नहीं और जड़ की क्रिया में तो आत्मा कभी वर्तता ही नहीं; जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में जड़ वर्तता है। अज्ञानी पर की क्रिया का अभिमान करके अपने अनन्त गुणों का अनादर करता हुआ अनादि से विकार में ही वर्तता है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। अपने गुण-पर्याय में अभेद होकर वर्ते, वह आत्मा है। आत्मा और उसके गुण-पर्याय के बीच वास्तव में भेद नहीं है। अनादि से अपने गुण-पर्याय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से आत्मा वर्त ही रहा है, परन्तु अज्ञानी उसके सन्मुख नहीं देखता, इसलिए विकाररूप परिणमता है। अपने स्वभाव-सन्मुख होकर निर्मलदशारूप से परिणमना और मलिनता का नाश करना तथा ध्रुवरूप से टिका रहना, यह आत्मा का कर्तव्य है। कर्तव्य कहो या मोक्ष का उपाय कहो, अज्ञानी ऐसा कर्तव्य चूककर विकाररूप परिणमता है, परन्तु पर में तो कुछ भी कर्तव्य वह भी कर नहीं सकता। वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को बराबर समझे तो सब घोटाले निकल जाएँ। वस्तु के स्वभाव के स्वीकार बिना किसी प्रकार से धर्म नहीं होता और मिथ्यात्व आदि पाप नहीं मिटते।

जिसने ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर, उसका स्वीकार किया, उसे आत्मा के अनन्त गुणों का आदर है और क्षणिक विकार का आदर नहीं है। जहाँ अनन्त गुण का आदर है, वहाँ ज्ञानी को आसक्ति के पाप परिणाम हों, तो वह बहुत ही हल्के हैं, अनन्त गुण के आदर के समक्ष उनकी कुछ गिनती नहीं है; और अज्ञानी जीव आत्मस्वभाव के अनन्त गुण का अनादर करके क्षणिक विकार का आदर करता है, वह जीव पुण्यपरिणाम करता हो तो भी उस समय भी धर्म के अनादर का अनन्त पाप वह सेवन कर ही रहा है। मूलधर्म क्या है और मूल पाप क्या है, यह समझे बिना जीवों का बड़ा भाग पुण्य में या बाहर की क्रिया में ही धर्म मानकर अटक रहा है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! अनन्त गुण का आधार ऐसा तेरा आत्मस्वभाव है, उसका आदर करना, वही मूलधर्म है; और उस

स्वभाव का अनादर, वही महान पाप है। स्वभाव के आधार से विकार टलता है, उसके बदले विकार के आधार से विकार को टालना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव का तिरस्कार कर रहा है।

शरीर-मन-वाणी के फेरफार की क्रिया (उत्पाद-व्यय) आत्मा के स्वरूप में नहीं है, इसलिए वह क्रिया आत्मा की नहीं और आत्मा को उस क्रिया से धर्म नहीं होता। पुण्य-पाप के उत्पाद-व्ययरूप क्रिया जीव की पर्याय में होती है, परन्तु वह विकारी क्रिया है, वह भी जीव को हित का कारण नहीं है, उसके लक्ष्य से हित नहीं होता।

जीव की पर्याय में निर्मलता के उत्पादरूप क्रिया हो, वह धर्म है परन्तु उस निर्मलता की उत्पत्ति किसके लक्ष्य से होती है? पर्याय के सन्मुख लक्ष्य रखने से तो विकार की उत्पत्ति होती है, निर्मल पर्याय के लक्ष्य से भी निर्मलता की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए पर्याय का लक्ष्य भी हित का कारण नहीं है। पूर्ण शक्ति से भरपूर ध्रुवस्वभाव है। उसके लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट होती है और वही हितरूप है। यहाँ आचार्य भगवान आत्मा की शक्तियाँ बतलाकर उसका ही आश्रय कराना चाहते हैं।

आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि क्रम-अक्रमरूप वर्ते। गुण सब अनादि-अनन्त एक साथ अक्रम रहे हुए हैं और अनादि-अनन्त काल की पर्याय क्रमवर्तीरूप से सुगठित है, वह अपने व्यवस्थित क्रमरूप से एक के बाद एक वर्तती है, ऐसा क्रमवर्ती स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को मानने से एक-एक पर्याय अथवा एक-एक गुण के ऊपर से दृष्टि छूटकर अनन्त गुण के पिण्डरूप अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि स्थिर होती है और उस दृष्टि में क्रम-क्रम से निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती है। इसका नाम साधकदशा है और यह मोक्ष का मार्ग।

अपने ऐसे स्वभाव का यथार्थ श्रवण करके उसका ग्रहण और धारण पूर्व में अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी जीव ने नहीं किया है। एक बार भी ज्ञानी से ऐसे स्वभाव की बात सुनने पर अन्तर के उल्लास से उसकी पकड़ हो जाए तो अल्प काल में उस जीव की मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। 'मेरा स्वभाव क्या है', ऐसा लक्ष्य करके जीव ने कभी सच्चा श्रवण नहीं किया है। पूर्व में किसी समय सुनने को मिला और धारणा भी की, परन्तु आत्मा में उसे रुचिकर नहीं किया—अपने घर का करके बैठाया नहीं।

देखो, यह आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु अनादि-अनन्त है। उसके ज्ञानादि गुण नये किये हुए हैं या अकृत्रिम हैं ? यदि नये किये हुए हों तो वे क्षणिक होंगे और उनका नाश हो जाएगा अर्थात् आत्मा का ही नाश हो जाएगा। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। 'पर्याय' नयी उत्पन्न होती है और उसका नाश होता है। परन्तु गुण कभी नये उत्पन्न नहीं होते तथा उनका कभी नाश नहीं होता। गुण तो वस्तुनिष्ठ है, वस्तु में अनादि-अनन्त बसे हुए हैं। वस्तु या उसके गुण नये नहीं होते परन्तु उनकी अवस्था नयी उत्पन्न होती है तथा वस्तु या उसके गुणों का नाश नहीं होता परन्तु उसकी पर्यायों का नाश होता है। जैसे कि जीव में सिद्धपर्याय की उत्पत्ति नयी होती है, संसार पर्याय का नाश होता है, परन्तु कहीं जीवद्रव्य या उसके ज्ञानादि गुण नये उत्पन्न नहीं होते तथा उनका नाश नहीं होता, वे तो सिद्धदशा के समय या संसारदशा के समय एकरूप ध्रुव रहते हैं। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव है।

वस्तु के सभी गुण ध्रुवरूप से एक साथ रहते हैं। पर्यायें एक साथ नहीं वर्तती— एक के बाद एक वर्तती है। जैसे कि सोने में उसका पीलापन, वजन इत्यादि एक साथ रहते हैं परन्तु उसकी हार, मुकुट इत्यादि अवस्थाएँ एक साथ नहीं वर्तती, ऐसा ही उसका पर्याय स्वभाव है। हार टूटकर मुकुट हुआ, वहाँ वह अवस्था सोनी ने नहीं बनायी परन्तु सोने का ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव के कारण उसमें मुकुट अवस्था की उत्पत्ति और हार अवस्था का व्यय तथा सोने की ध्रुवता है। वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव को जो नहीं जानता, वही दूसरे के कारण अवस्था का होना मानता है, उसकी मान्यता वस्तु स्वभाव से विपरीत है अर्थात् कि खोटी है।

तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव में भी ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य से वीतरागता होती है, उत्पाद -व्यय के लक्ष्य से तो राग-द्वेष होते हैं। जैसे स्वर्ण में हार अवस्था नाश पाकर मुकुट अवस्था की उत्पत्ति हुई, वहाँ जो पुरुष हार-अवस्था को इच्छता है, उसे उस अवस्था का व्यय होने पर द्वेष होता है; जो पुरुष मुकुट अवस्था को इच्छता है, उसे उस अवस्था की उत्पत्ति होने पर राग होता है, परन्तु जो पुरुष सोने की ध्रुवता को देखता है, उसे उस सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता क्योंकि सोना तो हार के समय अथवा मुकुट के समय उतना का उतना ध्रुव है। इसी प्रकार आत्मा के ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागता होती है और क्षणिक पर्याय के उत्पाद-व्यय के लक्ष्य से तो राग-द्वेष होते हैं।

पर से उत्पाद-व्यय होवे, यह तो बात है ही नहीं। और, जिस प्रकार सोने में ताँबे का भाग हो, वह उसका मूल स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष हों, वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है। इसीलिए आत्मा के स्वभाव को देखनेवाला उन राग -द्वेषरूप नहीं उपजता परन्तु वीतरागी निर्मलतारूप से उपजता है। यहाँ स्वभावदृष्टि में निर्मल क्रम की ही बात है। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न हो। जो उस स्वभाव को बदलना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। क्रम-अक्रमरूप से वर्तता जो ज्ञायकस्वभाव, उस स्वभाव में एकाग्र होनेवाला जीव सक्यग्दृष्टि होकर क्रम-क्रम से निर्मल पर्याय में आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तु का स्वभाव, वह धर्म है। उसका यह वर्णन है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप जो वस्तुस्वभाव, उस स्वभाव का भान होने पर पर्याय में धर्म की शुरुआत होती है। मेरा ज्ञानस्वभाव अनन्त गुण का भण्डार है—ऐसी जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ क्रम-अक्रम वर्तनरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति भी उसमें साथ में आ ही गयी, और ऐसी स्वभाव की प्रतीति होने पर शक्ति के भण्डार में से निर्मल पर्याय का क्रम भी शुरु हो ही गया। इस प्रकार शक्ति के साथ पर्याय को इकट्ठी मिलाकर यह बात है।

क्षणिक पर्याय के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती होने से नुकसान होता है, उसके बदले पर्याय के लक्ष्य से लाभ होने का—(सक्यग्दर्शनादि होने का) जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। पर्याय के आश्रय से लाभ माननेवाला क्षणिक पर्याय को ही वस्तु का स्वरूप मानता है अर्थात् कि पर्याय की दृष्टि छोड़कर द्रव्यस्वभाव में दृष्टि नहीं करता, इसलिए उसे सक्यग्दर्शनादि का लाभ नहीं होता। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही सक्यग्दर्शनादि का लाभ होता है। ध्रुवस्वभाव अर्थात् कि परम ज्ञायकस्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्रता से वीतरागी समभाव रहता है, अकेली पर्याय के विश्वास से कभी वीतरागी समभाव रहता ही नहीं।

आत्मा का वीतरागी ज्ञातास्वभाव है, उस स्वभाव के सन्मुख झुककर ज्ञाता रहे तो क्रमबद्धपर्यायों का जैसा है, वैसा वीतरागभाव से जाननेवाला रहता है परन्तु ज्ञातापना छूटकर फेरफार करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। जैसे कुदरत के क्रम में सात वार

का या अट्ठाईस नक्षत्र का जो क्रम है, वह कभी बदलता नहीं। तथा जो उसमें फेरफार होना मानता है, उसके ज्ञान में भूल होती है। उसी प्रकार पदार्थों की सभी पर्यायों का जो क्रम है, वह कभी बदलता नहीं है, तथापि उसमें फेरफार होना जो मानता है, उसके ज्ञान में भूल होती है अर्थात् वह ज्ञाता न रहकर मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता ही रहता है, साधकदशा के क्रम में बीच में अस्थिरता का जो राग होता है, उसका भी वह जाननेवाला है।

देखो, यह 'क्रमबद्धपर्याय' की बात अटपटी है... परन्तु सरल होकर, ज्ञानस्वभाव की महिमा लाकर यदि समझना चाहे तो सीधी-सट्ट है। यह अपने स्वभाव के घर की बात है। यह बात अन्तर में बैठे बिना किसी प्रकार से मार्ग हाथ आवे, ऐसा नहीं है। सबको जाननेवाला स्वयं, स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किये बिना ज्ञान का सच्चा कार्य कहाँ से होगा ?

— आत्मधर्म, (गुजराती) अंक 141, जून-जुलाई 1955

आत्मस्वभाव की अनुभूति में उसके सर्व गुणों के निर्मल कार्य की प्रतीति समाहित

भाद्र शुक्ल 12 (संवत् 2022) के दिन इस उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्ति पर विशेष मन्थन से पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन में जो विशिष्ट भाव कहे उसका भाव यहाँ दिया गया है।

☆☆☆ ☆☆☆

आत्मा की 47 शक्तियों में उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व नाम की एक शक्ति है। क्रमप्रवर्ति अर्थात् उत्पाद–व्यय और अक्रमप्रवर्ति अर्थात् ध्रुवता, आत्मा के स्वभाव को दृष्टि में लेनेवाले को ऐसे क्रम–अक्रम स्वभाव का निर्णय भी हो जाता है। सर्वज्ञदेव ने तीन काल जाने, इसलिए क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसे सर्वज्ञता के आधार से तो क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती ही है, परन्तु यहाँ तो आत्मा की ही शक्ति के आधार से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है, यह बात आज दोपहर के मन्थन में आयी, वह अभी कही जाती है।

अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा को अनुभव में लेने पर उसकी यह उत्पाद–व्यय–ध्रुवशक्ति भी प्रतीति में आ ही गयी और उसकी प्रतीति होने पर अक्रमरूप गुण और क्रमरूप पर्याय, वह भी प्रतीति में आ ही गये। इस प्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्ति द्वारा भी क्रमबद्धपर्याय सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार तो इस क्रमबद्धपर्याय की बात बहुत न्याय से आ गयी है, परन्तु आज यह अलग ढंग से कही जाती है। द्रव्य में ही ऐसी शक्ति है कि पर्यायें क्रम–क्रम से प्रवर्ते और गुण एक साथ अक्रम से रहे। इसलिए द्रव्यस्वभाव की प्रतीति में उसकी प्रतीति भी आ जाती है।

क्रम–अक्रम वर्तनरूप जो उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वस्वभाव, उस स्वभाव का निर्णय करनेवाले की दृष्टि कहाँ जाती है ?—आत्मा के स्वभाव में जाती है, क्योंकि आत्मा के स्वभाव की दृष्टि से ही उसके धर्म का सच्चा निर्णय होता है। एक–एक गुण के भेद के लक्ष्य से यथार्थ निर्णय नहीं होता। गुण किसका ? कि गुणी का; वह गुणी ऐसे आत्मद्रव्य पर दृष्टि गये बिना, उसके उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप धर्म का (या क्रम–अक्रमवर्तीपने का) निर्णय नहीं होता। आत्मा के ऊपर दृष्टि रखकर आत्मा के धर्म का निर्णय होता है, परन्तु अन्यत्र कहीं दृष्टि रखकर आत्मा के धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। आत्मा को प्रतीति में

लेने से उसका उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव भी प्रतीति में आ जाता है, इसलिए उसमें अक्रमरूप गुण और क्रमरूप वर्तती पर्याय भी प्रतीति में आ ही गयी।

देखो, इसमें अपने ही स्वभाव के सामने देखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो गया; उस निर्णय के लिये सर्वज्ञ के सामने देखना नहीं आया।

अनन्त गुण एक साथ अक्रम से रहनेरूप ध्रुवता और क्रम-क्रम से पर्याय होनेरूप उत्पाद-व्यय, ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप आत्मा का एक गुण है; इसलिए जिसमें ऐसे धर्मवाले आत्मा को दृष्टि में लिया, उसे क्रमबद्धपर्याय भी साथ ही प्रतीति में आ ही गयी, क्योंकि वैसा स्वभाव आत्मा की शक्ति में समाहित है।

आत्मा को प्रतीति में लेने पर उसके धर्म भी प्रतीति में आ जाते हैं। यदि क्रम से प्रवर्तती पर्यायरूप उत्पाद-व्यय न माने तो उसने उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्तिवाला आत्मा माना ही नहीं। आत्मा पर दृष्टि जाने से उसके अक्रम गुणों की और उनकी क्रमवर्ती पर्यायों की प्रतीति हो ही जाती है और ऐसे द्रव्य की दृष्टि का फल सम्यग्दर्शन है। उसमें राग का अकर्तापना भी समाहित हो जाता है। 'मेरे द्रव्य का ऐसा धर्म है कि क्रम और अक्रम से वर्ते'—ऐसा निर्णय करने जाने पर दृष्टि द्रव्य पर जाती है और द्रव्य की दृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा की वास्तविक प्रतीति होती है; और आत्मा रागादि परभावों के अकर्तारूप परिणमित होता है।

आत्मा की वास्तविक परिणति तब कहलाती है कि उसके अनन्त गुण की प्रतीति भी साथ में आवे। अकेली पर्याय का या गुणभेद का लक्ष्य छोड़कर जहाँ अखण्ड द्रव्य का लक्ष्य हुआ, वहाँ द्रव्य के सब गुण अनादि-अनन्त क्रम-अक्रमरूप वर्तते हुए प्रतीति में आये। पर्यायरूप से क्रम से परिणमना और गुणरूप से अक्रम से रहना—ऐसा मेरा स्वभाव है, ऐसी दोनों बात द्रव्यदृष्टि में इकट्ठी समाहित हो गयी।

अहो! द्रव्य की दृष्टि में तो गम्भीरता है, वह अनन्त गुण को अपने में समा देती है। अनुभूति में धर्मी को ऐसा द्रव्य आया कि जिसके अनन्त गुण अक्रम से ध्रुव रहते हैं और जिसकी पर्यायें क्रम-क्रम से उत्पाद-व्ययरूप होती है; ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप आत्मद्रव्य दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे उत्पाद-व्यय और ध्रुवतारूप आत्मा का

एक गुण है। ऐसे गुणसहित आत्मा धर्मी को अनुभूति में आया, वहाँ विकल्प का कर्तृत्व नहीं रहा, पर्यायबुद्धि नहीं रही। द्रव्यदृष्टि में राग से भिन्न निर्मल परिणमन हुआ, वहाँ राग उस काल में होता है परन्तु वह कर्तृत्व में से बाहर रह गया, उस काल में उसका ज्ञान रह गया परन्तु कर्तृत्व नहीं रहा। ऐसा द्रव्यदृष्टि का फल है। उसमें अपूर्व धर्म है।

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य! ठेठ अन्तरस्वभाव में दृष्टि गयी, तब क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति सच्ची हुई। सर्वज्ञदेव ने देखा है, इसलिए क्रमबद्ध है—इसमें तो सर्वज्ञ का आधार देकर क्रमबद्ध की सिद्धि हुई।—यह न्याय तो बहुत बार कहा गया है। अभी तो वस्तु के स्वभाव में ही ऐसा धर्म है कि वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वरूप धर्म के आधार से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि हो जाती है, यह बतलाना है। आत्मा की शक्ति के आधार से ही उसकी पर्याय का क्रमबद्धपना सिद्ध हो जाता है।

(ऐसा क्रमवर्ती रूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव तो सभी द्रव्यों में है, जड़ में भी है, परन्तु अपने तो यहाँ आत्मा की बात अभी मुख्य लेनी है।) वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति को ख्याल में लेने से यह बात ख्याल में आ जाती है, क्योंकि आत्मा की इस शक्ति का ही ऐसा कार्य है कि गुणों से अक्रमरूप और पर्यायों से क्रमरूप वर्ते।

आत्मा के अनन्त गुण सर्वज्ञभगवान ने देखे, उनमें एक गुण उत्पाद-व्यय-ध्रुवता है। ध्रुवता अर्थात् अक्रम रहते गुण, और उत्पाद-व्यय अर्थात् क्रम-क्रम से होती पर्यायें। ऐसे गुण-पर्यायसहित उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाववाले आत्मा को दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। आत्मा को अभेद दृष्टि में लिया उसमें साथ ही यह गुण आ ही गया, इसलिए गुण का अक्रमवर्तीपना और पर्याय का क्रमवर्तीपना—ऐसी प्रतीति आत्मा की अनुभूति में समा ही गयी। इसके बिना आत्मा को माना ही नहीं कहलाता।

आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप शक्ति त्रिकाल है। अब उसका कार्य क्या? कि गुणों को अक्रमरूप रखना और पर्यायों को क्रमरूप प्रवर्ताना—ऐसा इस शक्ति का कार्य है। तीनों काल वस्तु में ऐसा अक्रम और क्रमवर्तीपना है।

आत्मा में गुण अपेक्षा से सदृशता और पर्याय अपेक्षा से विसदृशता—ऐसा जो स्वभाव है, उसमें से भी यह बात निकलती है।

21वीं अकर्तृत्व शक्ति में, विकारभाव का कर्तृत्व उपराम पा गया—इसकी बात है। अर्थात् कि द्रव्यदृष्टि होने पर आत्मा विकार का अकर्ता हुआ, राग को जानने का रहा परन्तु उसका कर्तृत्व ज्ञान में नहीं रहा। ऐसी अकर्तृत्वशक्ति से आत्मा राग के अकर्तारूप से शोभित हो उठा। सम्यग्दर्शन होने पर जो अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मद्रव्य प्रतीति में आया, उसके साथ उसकी ऐसी अकर्तृत्वशक्ति भी प्रतीति में आयी, अर्थात् राग का अकर्तापना प्रगट हुआ। ऐसा अकर्तृत्वशक्ति का कार्य है। सम्यग्दर्शन होने पर समस्त गुण स्वकार्य को करते हैं, निर्मलरूप से परिणमन शुरु होता है।

सम्यग्दृष्टि को राग का अकर्तृत्व कैसे हुआ ?—कि आत्मा की अनुभूति में राग के अकर्तापनेरूप अकर्तृत्वशक्ति भी साथ ही अनुभूति में आ गयी है, इसलिए वहाँ राग का कर्तृत्व रहा नहीं, राग के अकर्तारूप परिणमन हुआ है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि होने पर ऐसे अकर्तृत्वरूप निर्मल पर्याय का क्रम शुरु हुआ, वह दृष्टि का फल है। राग का कर्तृत्व आत्मा के किसी गुण में नहीं है; इसलिए आत्मा की प्रतीति होने पर किसी गुण में राग के कर्तृत्वरूप परिणमन नहीं रहता। राग का ज्ञान भले रहे परन्तु उसका कर्तृत्व नहीं रहता। द्रव्य-गुण में जो अकर्तृत्व था, वह अकर्तृत्व (स्वभावदृष्टि होने पर) पर्याय में भी व्याप्त हो गया, इसलिए पर्याय भी राग के अकर्तृत्वरूप होकर परिणमी। इस प्रकार धर्मी को राग के समय भी अकर्तृत्वशक्ति 'राग के कर्तृत्व से उपरमरूप' परिणम रही है, राग के अभावरूप स्वयं परिणमन है। इसका नाम 'ज्ञान आस्रवों से निवृत्त हुआ'—ऐसा कहा जाता है। ऐसा कार्य होवे, तब अकर्तृत्वशक्तिवाले आत्मा को जाना और अनुभव किया कहलाता है। वहाँ धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय के राग का भी कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं रहता। उस-उस काल के व्यवहार को जानता है परन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता। रागरूप व्यवहार है, उसका अकर्ता हुआ, तब उसके व्यवहार को व्यवहार कहा है।

इसमें स्वस्वामित्वशक्ति का भी निर्मल कार्य आ गया। द्रव्यदृष्टि होने पर अपनी निर्मल पर्याय के स्वामित्वरूप से ही परिणमा और रागादि के स्वामित्वरूप से नहीं परिणमा—ऐसा स्वस्वामित्वसम्बन्ध शक्ति का कार्य प्रगट हुआ।

ऐसे आत्मा के स्वभाव में जो आया, वह परभाव से निवृत्त हुआ क्योंकि परभाव का

कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा के अकर्तृत्वस्वभाव को जाने और राग का कर्तृत्व रहे, ऐसा नहीं बनता। स्वभाव को जानने से पर्याय उस ओर ढले, इसलिए रागादि परभावों से निवृत्ति होती ही है। पर्याय अन्तर्मुख होकर आत्मा को जाने और परभावों से निवृत्ति न हो, ऐसा होता ही नहीं। स्वभाव को जानते ही राग का कर्तृत्व छूट जाता है और ज्ञान अपने स्वभाव में ढल जाता है। अर्थात् निर्मल ज्ञान-आनन्द की पर्यायें प्रगट होती है—ऐसा भेदज्ञान का फल है।

इसमें अकारणकार्यत्वशक्ति का निर्मल कार्य भी आ गया। अन्तरस्वभाव की दृष्टि से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसने पूरे आत्मा को अकारणकार्यस्वरूप जाना अर्थात् पर्याय में से भी राग का कारणपना छूट गया तथा वह निर्मल पर्याय स्वयं राग का कार्य भी नहीं है; राग को कारण बनाकर निर्मल पर्यायरूप कार्य हुआ—ऐसा नहीं है। इस प्रकार एक आत्मस्वभाव की प्रतीति और अनुभूति में उसके सर्व गुणों के निर्मल कार्य की प्रतीति इकट्ठी समाहित हो जाती है। **— आत्मधर्म, अंक 275-ए, अक्टूबर 1966, पृष्ठ 14–18**

☆☆☆

अब इन शक्तियों के अतिरिक्त—अनुभवप्रकाश, पद्मनन्दिपच्चीसी, राजवार्तिक इत्यादि में से ली हुई 37 शक्तियों का वर्णन करते हैं।

(36) अनादिसंततिबंधनबंधत्वशक्ति—एक के बाद एक क्रमसर बहे, ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है। क्रमबद्धपर्याय होती है, आड़ी-टेड़ी नहीं होती, टूट (खण्ड) नहीं पड़ती, ऐसी अनादिसंतति चली आती है। जैसे माला के मणके एक के बाद एक होते हैं, पहले के पहले और बाद के बाद मणके होते हैं; उसी प्रकार पर्याय क्रमबद्ध होती है, ऐसी शक्ति आत्मा में है।

— सदगुरु प्रवचनप्रसाद–समयसार 9 (1950–1951) प्रसाद नं. 86, शक्ति पेज 145

☆☆☆

इसका नाम है अनेकान्त

भावशक्ति में तो... एक तो उसमें विद्यमान अवस्था सहित क्रमबद्ध का निर्णय होता है। भावशक्ति के कारण अपनी पर्याय विद्यमान कोई भी होती ही है, उसे करना पड़े—ऐसा नहीं है। वह होती ही है। और अनन्त गुण में भावशक्ति का रूप है, इस कारण से अनन्त गुण की वर्तमान पर्याय विद्यमानसहित ही है। आहाहा! ऐसी विकाररहित निर्मल पर्यायसहित होना, उसे यहाँ भावशक्ति की विद्यमान अवस्था कही जाती है। उसमें राग का अभाव है, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प का अभाव है, यह अनेकान्त है। उससे होता है, ऐसा नहीं, उसके कारण से—भावशक्ति के कारण से अवस्था निर्मल होती है, राग से अवस्था निर्मल होती है—ऐसा नहीं। वह राग से नहीं होती, इसका नाम अनेकान्त है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा!

— समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग 12, पृष्ठ 349

☆☆☆

अकार्यकारणशक्ति और पर्याय में उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमें अकार्यकारणशक्ति है। मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ या परवस्तु कारण होकर मेरा कार्य करे, ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नहीं है। अरे! अन्तर में ज्ञान कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे अथवा राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप उत्पन्न हो, ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नहीं है। ऐसी अकार्यकारणशक्ति आत्मा में है।

प्रश्न : अकार्यकारणपना तो द्रव्य में ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में अकार्यकारणशक्ति है, ऐसा माना किसने? पर्याय ने। जिस पर्याय में द्रव्य सन्मुख होकर अकार्यकारणशक्ति को माना, वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्यकारणरूप हो गयी है। इस प्रकार पर्याय में भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहो तो, ज्ञायकस्वभाव सन्मुख ढलकर जो पर्याय अभेद हुई, उस पर्याय में राग का या पर का कर्तापना नहीं है, वह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

— ज्ञानस्वभाव–ज्ञेयस्वभाव 2, बोल 144

1

अज्ञानी जीव सर्वज्ञ भगवान को किस प्रकार देखता है ?

- केवली भगवान ने मेरे जितने भव देखे होंगे, उतने होंगे न ?
- सर्वज्ञ भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में देखा है, इसलिए मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होता है न ?
- सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा, तब आत्मा की रुचि होती है न ?
- सर्वज्ञ भगवान ने जब मेरा पुरुषार्थ होने का देखा होगा, तब मेरा पुरुषार्थ होगा न ?
- हमारे क्रमबद्ध में जब समकित होना होगा, तब होगा न ?
- हमें भगवान ने कहे हुए नव तत्त्व की श्रद्धा है, तो उसमें मोक्षतत्त्व की श्रद्धा आ गयी, तो अब मोक्ष के लिये अलग उद्यम किसलिए करना ?
- हम जिनमत में कहे हुए जीवादि तत्त्वों को मानते हैं, उनके नाम-भेद आदि को भी जानते हैं, इसलिए हमें सर्वज्ञ की श्रद्धा सच्ची है न ?
- केवली भगवान ने जैसा देखा होगा, वैसा होगा, तो भी निमित्त तो अपने को मिलाना पड़ेगा न ?

— इत्यादि-इत्यादि अनन्त प्रकार...

पूर्व कथित प्रत्येक प्रश्नों का
पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा शास्त्रों के आधार तथा निज अनुभव से प्रदत्त अत्यन्त निःसन्देह सचोट समाधान

(1)

उसे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ ही नहीं

यहाँ कोई विपरीत दृष्टिवाला जीव ऐसा कुतर्क करता है कि 'हमारे क्रमबद्धपर्याय में अनन्त भव होने हों तो ?—अथवा हमारे क्रमबद्धपर्याय में मिथ्यात्व होना हो तो ?' तो श्री आचार्यदेव उसे कहते हैं कि अरे मूढ़! क्रमबद्धपर्याय को तू समझा ही नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ प्रतीति करनेवाले को तो ज्ञानस्वभाव की दृष्टि हुई, उसका परिणमन ज्ञान की ओर ढल गया, उसे अब अनन्त भव होते ही नहीं। ऐसा होने पर भी 'मेरी पर्याय के क्रम में अनन्त भव होंगे तो'—ऐसा जो सन्देह करता है, वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है; उसने नहीं तो आत्मा को देखा, नहीं सर्वज्ञ को माना और नहीं क्रमबद्धपर्याय को माना। अनन्त भव की शंकावाले जीव को धर्म की अंशमात्र रुचि ही नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म तो भव के नाश का कारण है। ऐसे धर्म का सेवन करे और अनन्त भव की शंका रहे—ऐसा कभी होता ही नहीं। सरोवर के किनारे जाए तो भी ठण्डी हवा आती है और विश्वास हो जाता है कि अब पानी निकट ही है; इसी प्रकार जिसे आत्मा के धर्म की सम्यक् रुचि हुई, उसे अन्दर से अपूर्व शान्ति के भनकार आते हैं और अल्प काल में मोक्ष होने का निःसन्देह विश्वास हो जाता है। जिसे ऐसी निःशंकता नहीं और भव का सन्देह है, वह जीव कर्म से भिन्न आत्मा को नहीं देखता, परन्तु कर्म को ही और अशुद्ध आत्मा को ही देखता है।

जैसे – 'केवली भगवान ने मेरे अनन्त भव देखे होंगे... ऐसे सन्देहवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसने वास्तव में केवली भगवान को जाना ही नहीं।' इसी प्रकार 'क्रमबद्धपर्याय में अपने को मिथ्यात्व आयेगा...' ऐसी शंकावाला जीव भी मिथ्यादृष्टि ही है, उसने वास्तव

में क्रमबद्धपर्याय को जाना ही नहीं। जैसे केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति हो जाती है और भव की शंका छूट जाती है; उसी प्रकार क्रमबद्धपर्याय जिसने वास्तव में जानी हो, उसे कर्म से भिन्नता की दृष्टि होकर द्रव्य का आश्रय हो जाता है और मिथ्यात्व का अवश्य नाश हो जाता है। कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के ऊपर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का प्रवाह तो द्रव्य में से आता है, इसलिए द्रव्य सन्मुख दृष्टि से ही उसका निर्णय होता है; और जिसने ऐसा निर्णय किया, उसकी वर्तमान पर्याय तो द्रव्यसन्मुख झुक गयी है, इसलिए उस पर्याय में मिथ्यात्व रहा ही नहीं तथा मिथ्यात्व के क्रम की शंका भी वहाँ रहती ही नहीं। जैसे केवलज्ञान की प्रतीति और अनन्त भव की शंका-ये दोनों कभी साथ में नहीं होते; उसी प्रकार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय और मिथ्यात्व का क्रम—ये दोनों भी साथ में होते ही नहीं। जिसे क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ हो, उसे कर्म और आत्मा की भिन्नता का विवेक हो ही गया होता है और उसकी दृष्टि पर से हटकर आत्मा की ओर ढल गयी होती है, उसे अनन्त संसार होने का सन्देह नहीं होता। 'मेरा अभी अनन्त संसार बाकी होगा तो ?'—ऐसा जिसे सन्देह है, उसकी दृष्टि कर्म के ऊपर ही है, उसे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ ही नहीं।

— आत्मधर्म, (गुजराती), अंक 119, सितम्बर 1953, पृष्ठ 233–234

(2) किसके आधार से.... ?

सर्वज्ञ भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में देखा है, इसलिए मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होता है, इस प्रकार अकेले विकार के क्रम को ही देखनेवाले की दृष्टि बहुत विपरीत है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! तू सर्वज्ञ का नाम न ले, तूने सर्वज्ञदेव को माना ही नहीं। तू सर्वज्ञ को नहीं देखता परन्तु अकेले विकार को ही देखता है, क्रमबद्धपर्याय की भी तुझे खबर नहीं है। सर्वज्ञदेव को प्रतीति में ले, उसे तो अपने में साधकदशा का क्रम शुरु हो जाता है, अकेले विकार का क्रम उसे रहता ही नहीं। जिसे स्वभाव के आश्रय से अमुक निर्मल परिणमन हुआ है और बाकी अल्प विकार रहा है, ऐसे साधक जीव की यह बात है। उसे ही अपने क्रम-अक्रम स्वभाव की (उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप स्वभाव की) तथा

सर्वज्ञदेव की वास्तविक प्रतीति हुई है। अकेले विकार के वेग में बहता आत्मा स्वभावशक्ति की प्रतीति कहाँ से करे ? विकार के प्रवाह में बह रहा है, वह जीव किसके आधार से स्वभाव की प्रतीति करेगा और किसके आधार से सर्वज्ञ को मानेगा ? स्वभावसन्मुख ढला हुआ जीव विकार को भी जैसा है, वैसा जानेगा और वही सर्वज्ञता को यथार्थरूप से मानेगा।

(1) जिस प्रमाण कर्म का उदय आवे, तत्प्रमाण विकार होता है, ऐसा माननेवाले की मान्यता बहुत विपरीत है।

(2) दूसरा कोई ऐसा कहे कि सर्वज्ञ भगवान ने अपनी पर्याय में विकार होना ही देखा है, इसलिए विकार होता है, तो उसकी दृष्टि भी उल्टी है।

(3) तीसरा कोई ऐसा कहे कि पर्याय का क्रमबद्ध होने का स्वभाव है, इसलिए विकार होता है तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है, वास्तव में क्रमस्वभाव को उसने जाना ही नहीं। अकेले विकार का ही क्रम जिसे वर्तता है, उसे वास्तव में क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हुइ ही नहीं।

(4) चौथा कोई ऐसा कहे कि विकार होता है, उतना ही आत्मा है अथवा शुभराग वह धर्म का कारण है तो उसकी मान्यता भी विपरीत ही है।

(5) उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति इत्यादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड मेरा आत्मा है, ऐसा अनन्त गुण के पिण्डरूप ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से, गुण में अक्रमपना और पर्याय में निर्मल क्रम ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ और उसे ही शक्तियों का वास्तविक परिणमन हुआ, उसने ही सर्वज्ञदेव को वास्तव में जाना, उसे ही क्रमबद्धपर्याय का भान हुआ, वह कर्म से विकार होना नहीं मानता और विकार से लाभ नहीं मानता। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता रखकर, अस्थिरता का जो अल्प विकार है, उसे ज्ञेयरूप से जैसा है, वैसा वह ज्ञाता जानता है।

— आत्मधर्म, गुजराती, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 89 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321-323)

(3) प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतन्त्र पर्याय को नहीं मानता और 'मैं पर का बदलूँ या पर मुझे राग-द्वेष कराता है' ऐसा मानता है, उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है तथा

वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो ज्ञात हुआ, उसमें मैं फेरफार दूँ, ऐसा जिसने माना, उसने सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं माना। सर्वज्ञ का ज्ञान और उनकी श्रीमुख वाणी के न्याय को जो नहीं मानता, वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव तीन काल-तीन लोक के सब द्रव्यों की पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्याय प्रगटरूप से उससे स्वयं होती है, तथापि उससे विरुद्ध (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध) जो मानता है, वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है। — आत्मधर्म, गुजराती, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 89

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321-323)

(4) ज्ञानी की भावना

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है, इसलिए वह वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में शंका करता है कि यह ऐसा कैसे बना? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है; ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शंका नहीं पड़ती। वह जानता है कि जिस काल में जिस वस्तु की जो पर्याय होती है, वह उसकी क्रमबद्ध व्यवस्था है, मैं मात्र जाननेवाला हूँ; इस प्रकार ज्ञानी को अपने जाननहार स्वभाव का भान है, इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने जाने हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करके वह अपने ज्ञान की भावना बढ़ाता है कि जिस काल में जैसा बने, वैसा मैं उसका ज्ञायक ही हूँ, मेरे ज्ञायकस्वरूप की भावना करते-करते मेरा केवलज्ञान प्रगट होनेवाला है।

— आत्मधर्म, गुजराती, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 81

(5)

जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता, वह केवली आदि को नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है; जीव में अनन्त गुण होने से एक समय में उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम होते हैं; उनमें प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान, स्वसन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ, वहाँ साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है, किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व-

परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, उसकी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि उस समय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम में फेरफार करना माने तो वह जीव, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता; केवली भगवान को भी वह नहीं मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं, उन्हें भी वह नहीं जानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया, उसे सम्यग्दर्शनादि हुए हैं और उसी ने वास्तव में केवलीभगवान को, उनके शास्त्रों को और गुरु को माना है।

ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 38

(6)

'केवली ने देखा होगा, वैसा होगा'—ऐसी मात्र भाषा पकड़नेवाले को किंचित् भी धर्म नहीं

हे जीव! 'केवली ने देखा होगा, वैसा होगा'—ऐसा मानकर पुरुषार्थ नहीं उठाता और मात्र भाषा बोलता है, उस जीव के श्रद्धा-ज्ञान मिथ्या हैं। उसे वीतराग के शास्त्र की या सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। अर्थात् कि अपनी भी श्रद्धा नहीं है। होनेवाला होगा, वैसा होगा, ऐसी मात्र भाषा बोलकर अपने मिथ्यात्व को नहीं टालता, संयोगबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि करके, अक्रमस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता, उसे धर्म नहीं होता। उसने भाषा पकड़ी है। भाषा के पीछे रहा हुआ मर्म नहीं पकड़ा। जिसे होना होगा, वैसा होगा, अर्थात् क्रमबद्ध का निर्णय है, उसे रागरहित ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुए बिना नहीं रहेगा। उसे भव नहीं हो सकते, परन्तु जो मात्र भाषा पकड़कर पुरुषार्थ नहीं करता, उसे संसार खड़ा है। जैसे संसार में 'रोते हुए जाए, वह मरे हुए के समाचार लाता है' अर्थात् कि वह कोई काम पूरा नहीं करता; इसी प्रकार जितने भव होनेवाले होंगे, उतने होंगे, वह रोनेवाले जैसा है, पुरुषार्थहीन है। वह संसार से पार नहीं उतरता।

सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, समयसार 9 (1951-52) प्रसाद नं० 198, कलश 126, पृष्ठ 234

(2)
सर्वज्ञ भगवान
जीव को किस प्रकार देखते हैं

(7)
सर्वज्ञदेव ने तो ऐसा देखा

'अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है।' देखो! स्वयं स्वभाव चैतन्यमूर्ति है, जाननेवाला आनन्दकन्द वस्तु आत्मा है। सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी ने तो ऐसा देखा कि तू तो ज्ञान और आनन्द है। ऐसा नहीं देखा कि तू रागवाला और परवाला है, ऐसा देखा है भगवान ने? इस आत्मा को भगवान केवलज्ञानी ऐसा देखा है कि यह तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है और परवस्तु, वह ज्ञेयस्वरूप है—ऐसा भगवान ने देखा। ऐसा तू तुझे न देखकर, मैं जाननेवाला-देखनेवाला और आनन्द हूँ, ऐसा न देखकर पर को देखकर तुझे तेरी पर्याय में विकार की दशा उत्पन्न होती है, वह तो स्वरूप के अज्ञान के-अभान से उत्पन्न होती है। समझ में आया? — कलशामृत भाग 7, पृष्ठ 76-77

(8)
सम्यग्दर्शन उसे होता है...

भगवान इस आत्मा को और अनन्त आत्माओं को कैसा देखते हैं? (कि) निज सत्ता से अपना अस्तित्व (जो) पवित्र और शुद्ध है, उसे हे भगवान! आप आत्मा कहते हो और जानते हो। (जब) अन्दर पुण्य और पाप के विकल्प हैं, वे तो आस्रव तत्त्व हैं (और) जो जड़ है, वह तो अजीव तत्त्व है, हे भगवान! आपके ज्ञान में - हे वीतराग परमेश्वर प्रभु नाथ! आपके ज्ञान में—हमारा (जो) यह आत्मा निज अस्तित्व से शुद्ध है, उसे आप आत्मा जानते हो (और) कहते हो। आहाहा! ऐसा - जैसा भगवान ने जाना है, उस प्रकार से-जो आत्मा को जानता (है, उसे सम्यग्दर्शन होता है।)। आहाहा!

जो निज सत्ता है, अपना जो अस्तित्व है, अपनी मौजूदगी (जो) है, जो मौजूदगी

चीज़ है, वह तो अत्यन्त अनन्त-अनन्त गुणों की पवित्रता की खान है। आहाहा! पवित्रता की खान कहना, वह तो पर्याय की अपेक्षा से है। बाकी वह तो अनन्त-अनन्त गुणस्वरूप है (कि) जिसमें से अनन्त आनन्द (आता है)। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग को शुद्धोपयोग के फलरूप से जो अनन्त आनन्द प्रगट हुआ है, (वह तो) एक समय का आनन्द है। ऐसा दूसरे समय में अनन्त आनन्द, ऐसा तीसरे समय में अनन्त आनन्द, ऐसा सादि-अनन्त काल अतीन्द्रिय आनन्द जो (है, वह) पराश्रयरहित और स्वाश्रयवाला है। (ऐसे) शुद्धोपयोग का फल परम आनन्द है। आहाहा! (और वह) पराश्रय से निरपेक्ष है। (अर्थात् कि) पाँच इन्द्रियाँ, शब्द और मन के संकल्प-विकल्प के आश्रय की अपेक्षा रहित होने से विषयातीत है—विषय से रहित है। आहाहा! मन और पंचेन्द्रिय के विषय से वह सुख रहित है। आहाहा!

— प्रवचन सुधा, भाग 1, पृष्ठ 93 94

(3)
राग-द्वेष क्रमबद्ध होते हैं, वह उल्टे से चला है

(9) उसकी मुक्ति ही है

प्रश्न : यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनेवाली हो, वही होती है तो फिर विकारी भाव भी होनेवाले थे, तभी हुए हैं न ?

उत्तर : अरे भाई ! तेरा प्रश्न उल्टे से शुरु हुआ है । 'विकारी पर्याय होनेवाली थी, तब हुई' ऐसी जिसने अपने ज्ञान में प्रतीति की है, उसकी रुचि कहाँ अटकी है ? विकार को जाननेवाले ज्ञान की रुचि है या विकार की रुचि है ? विकार को यथार्थरूप से जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और वह ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटका है; स्वभाव के ज्ञान में अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि में अटकता ही नहीं परन्तु स्वभाव के जोर से विकार का अल्प काल में क्षय करता है। जिसे विकार की रुचि है, उसकी दृष्टि का जोर (वीर्य का वजन) विकार की ओर जाता है । 'होनेवाली हो, वही पर्याय क्रमबद्ध में होती है' ऐसा किसका वीर्य स्वीकार करता है ? यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में पर में सुखबुद्धि नहीं होती, परन्तु स्वभाव में ही सन्तोष होता है ।

जैसे बड़े पुरुष के घर में विवाह प्रसंग हो, और मण्डप में सामूहिक निमन्त्रण से सबको आमन्त्रण करके हर्ष से बादाम-पिस्ता के मैसूरपाक जिमावे; उसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर का सामूहिक आमन्त्रण हैं, 'मुक्ति के मण्डप में' सबको आमन्त्रण है, पूरे जगत को आमन्त्रण है, मुक्ति के मण्डप के प्रीतिभोज में सर्वज्ञ भगवान ने दिव्यध्वनि में परोसे हुए न्यायों में से ऊँची-ऊँची जाति के न्याय परोसे जाते हैं—कि जिसे पचाते हुए आत्मा पुष्ट होता है । तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी यह बात मान, जिसने यह बात मानी, उसकी मुक्ति ही है ।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 88 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321-323)

(10) उसे आत्मा के स्वरूप की अरुचि है

इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में तो अध्यात्मस्वरूप की बात है, यह समझते हुए जिसे उकताहट लगती है, उसे आत्मा के स्वरूप की अरुचि है। स्वरूप समझने की उकताहट के कारण उसे राग की बात सरल लगती है। अध्यात्मपद्धति में तो राग का उपदेश होता नहीं, आगमपद्धति में राग और विकल्प की बात व्यवहार से की हो, उसे सुनते हुए जिसे उत्साह आता है और अध्यात्मस्वरूप की बात समझने का उत्साह नहीं आता, उसे आत्मा के परमार्थस्वरूप की उकताहट है, और स्वरूप की उकताहट, वही मिथ्यात्व है।

कुन्दकुन्द भगवान पडकार लगाकर चेताते हैं कि भाई रे! ध्यान रखना, स्वभाव की साधकदशा में बीच में राग आ अवश्य पड़ेगा, मुनिदशा में भी विकल्प उठेगा, परन्तु उसे साधक नहीं मानना, उसका उत्साह नहीं करना, वह बाधक है, उसे बाधकरूप जानकर छोड़ देना और निश्चयस्वभाव के जोर से आगे कदम रखना अर्थात् निश्चयस्वभाव की दृष्टि से ही तेरी पर्याय क्रम-क्रम से शुद्ध होती जाएगी।

— आत्मधर्म, अंक 30, मार्च–अप्रेल 1946, पृष्ठ 112, समयसार

(11) सम्यक् नियतवाद

प्रश्न : यह तो नियतवाद हो गया ?

पूज्य गुरुदेवीश्री : यह 'सम्यक् नियतवाद' है। मिथ्या नियतवाद नहीं। सम्यक् नियतवाद अर्थात् क्या ? जिस पदार्थ में जिस समय, जिस क्षेत्र में जिस निमित्त से जैसे होनेवाला है, वैसा होना ही है, उसमें किंचित् परिवर्तन करने में कोई समर्थ नहीं है—ऐसा ज्ञान में निर्णय करना, वह सम्यक् नियतवाद है और उस निर्णय में स्वभावसन्मुख का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। सब ही नियत है, ऐसा जिस ज्ञान ने निर्णय किया, उस ज्ञान में ऐसा भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी बदलने में मैं समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार नियत का निर्णय करने से 'मैं पर का कर सकता हूँ' ऐसा अहंकार टल गया और ज्ञान पर से उदासीन होकर स्वभावसन्मुख झुका।

अब अपनी पर्याय भी क्रमबद्ध ही है, उस क्रमबद्धपने का निर्णय करनेवाला ज्ञान,

राग होने पर भी उसका निषेध करके द्रव्यस्वभाव सन्मुख ढलता है। किस प्रकार ढलता है ? जब राग को जानता है, तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्धपर्यायें मेरे द्रव्य में से प्रगट होती है, त्रिकाली द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवता है, वह त्रिकाली द्रव्य रागस्वरूप नहीं है, इसलिए यह जो राग हुआ है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार सम्यक् नियतवाद का अपने ज्ञान में जिसने यथार्थ निर्णय किया, उस जीव का ज्ञान अपने शुद्धस्वभाव की ओर ढला और उसे स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान हुए, पर से उदासीन हुआ, राग का अकर्ता हुआ, और पर से तथा विकार से हटकर बुद्धि स्वभाव में ही रुक गयी—यह सम्यक् नियतवाद का फल है; उसमें ज्ञान और पुरुषार्थ का स्वीकार है। परन्तु जो नियतवाद को मानता है अर्थात् जैसे होना होगा, वैसा होगा—ऐसा मानता है, परन्तु नियतवाद के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसका स्वीकार नहीं करता अर्थात् स्वभाव सन्मुख नहीं ढलता, वह मिथ्यादृष्टि है; और नियतवाद वह गृहीतमिथ्यात्व का भेद है, इसलिए वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

— आत्मधर्म, अंक 47, सितम्बर–अक्टूबर 1947, पृष्ठ 244–245

(12) अज्ञानी की भूल

प्रश्न : क्रमबद्ध के वास्तविक रहस्य को न समझनेवाला अज्ञानी, क्रमबद्ध की गीत गाते रहने पर भी भूल क्या करता है ?

उत्तर : एक तो कहता है कि पर्याय को क्रमबद्ध स्वीकार करने से नियतवाद हो जाता है और दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में मेरे राग आना ही था, वह आ गया। यह दोनों ही जीव भूल में हैं—मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ने मिथ्यात्व को पुष्ट करके निगोद का मार्ग अपनाया है। जिसकी दृष्टि में क्रमबद्ध यथार्थ रीति से बैठ गयी है, उसकी दृष्टि, पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा के ऊपर है, उसके क्रमबद्ध में राग आने पर भी वह उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, जो राग आता है, वह राग दु:खरूप लगता है और ऐसे जीव ने ही क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। वह जीव उस आनन्द के साथ जब अपने रागरूप दु:ख का मिलान करता है, तब उसे प्रतिभासित होता है कि अरे! यह राग

दु:खरूप है। इस प्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला, आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दु:खरूप जानता है, उसके राग की मिठास उड़ गयी है। जिसे राग में मिठास पड़ी हुई है और पहले जो अज्ञानदशा में राग के टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध का पाठ पढ़कर मिट गयी है, उसके तो मिथ्यात्व की पुष्टि ही हुई है—मिथ्यात्व तीव्र ही हुआ है। राग मेरा नहीं—ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि न हो, तो उसने मिथ्यात्व की वृद्धि ही को है। भाई! यह तो कच्चे पारा जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर में पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो और उसका रहस्य न समझे तो उलटा मिथ्यात्व ही पुष्ट हो।

— आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 24–25, ज्ञानगोष्ठी : 592

(13) .... तो क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

देखो, इसमें ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले तो ही यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ में आये ऐसी है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो, उसे यह बात यथार्थ समझ में आये ऐसी है। दूसरे ढीटाईवाले जीव तो इसे समझे बिना उल्टा लेते हैं और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छन्द का पोषण करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, केवली की प्रतीति नहीं है, अन्तर में वैराग्य नहीं है, कषाय की मन्दता भी नहीं है, स्वच्छन्दता छूटी नहीं है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेते हैं, ऐसे दीढ़, स्वच्छन्दी जीव की यहाँ बात नहीं है। यह क्रमबद्धपर्याय समझे, उसे स्वच्छन्द रहता ही नहीं, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझाकर हम तो तुझे तेरे ज्ञायक आत्मा का निर्णय कराना चाहते हैं और आत्मा पर का अकर्ता है, यह बताना चाहते हैं। यदि तेरे ज्ञायकस्वभाव का निर्णय न करे तो तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं।

— योगसार प्रवचन, भाग 1, पृष्ठ 112

(14) उसे आत्मा का लाभ नहीं होता

जीव की पर्याय में अनादि से जो संकोच है, वह कोई पर के कारण से नहीं है परन्तु अपनी ही पर्याय में भूल के कारण से है। जो जीव अपनी पर्याय की भूल को न पकड़े और पर के कारण अपनी पर्याय संकोचित हुई है, ऐसा मानता है, वह जीव भले राग घटाकर

बहुत शब्दों की धारणा कर जाए, तो भी उसे आत्मा का लाभ नहीं होता और मेरी पर्याय में संकोच है, वह मेरी अपनी भूल के कारण से है, किसी पर के कारण से नहीं—ऐसा तो माने, परन्तु यदि भूलरहित स्वभाव के सामने देखकर उस भूल का नाश न करे, तो उसे भी आत्मा का लाभ नहीं होता। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का पिण्ड आत्मा है, उसकी सन्मुखता से ही आत्मा का लाभ होता है तथा संकोच टलकर विकास प्रगट होता है। मेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है और परिणमन में संकोच कैसे है—यह बात समझे बिना किसके सामने देखकर पर्याय का विकास करेगा? मन्द कषाय हुई, उसे ही चैतन्य का विकास जो जीव मान बैठा हो, उसे कषाय से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, इसलिए उसे चैतन्य का विकास प्रगट नहीं होता। मूल भूल क्या है और उस भूलरहित स्वभाव क्या है?—यह जाने नहीं और अभिमान-भ्रमणा में रह जाए, उसे चैतन्य का विकास नहीं होता; उसे कदाचित् कषाय की मन्दता और ज्ञान का उघाड़ भले हो, परन्तु उसमें आत्मा का हित नहीं है, वह चैतन्य का वास्तविक विलास नहीं है। चैतन्य के विलास की अतीन्द्रिय मौज तो कोई परम अद्भुत है!

कोई जीव ज्ञान के उघाड़ के बल से यह बात धार ले, परन्तु अपने आत्मा की पर्याय में जो भूल है, उसकी यदि खबर न पड़े तो उसे ज्ञान के उघाड़ की यह बात ख्याल में आने पर भी उसकी भूल मिटती नहीं और अपूर्व कल्याण प्रगट नहीं होता। भूल का ही ख्याल न आवे तो वह भूल मिटाकर भगवान कहाँ से होगा? भगवानपना और भूल—इन दोनों को जो जीव समझे, उसे अपने में भूल टलकर भगवानपने का विकास हुए बिना नहीं रहता। मेरा स्वभाव क्या है और अन्तर की सूक्ष्म भूल कहाँ रह जाती है, इसकी खबर पड़े बिना ग्यारह अंग पढ़ा हो तो भी जीव की भूल मिटती नहीं। यदि वर्तमान में भूल है तो निश्चित होता है कि निज स्वभाव की जैसी रुचि होनी चाहिए, वैसी रुचि नहीं की और यदि भूल न हो तो निजस्वरूप समझ में आया होना चाहिए और उसके आनन्द इत्यादि का विलास खिलना चाहिए। संकोचरहित मेरा स्वभाव कैसा है और अभी तक पर्याय में संकोच क्यों रहा—यह बात जिसे पकड़ना न आवे, वह जीव संकोच पर्याय का नाश नहीं कर सकता और उसे संकोचरहित का विकास प्रगट नहीं होता।

आत्मधर्म, अंक 112, जनवरी 1953, पृष्ठ 75-76 (असंकुचितविकासत्व शक्ति)

(15) आत्मा प्रभु है

देखो, 'रागादिरूप परिणमने में भी आत्मा स्वयं स्वतन्त्र प्रभु है'—ऐसा कहा, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि राग क्रमबद्धपर्याय में भले हुआ करे!—रे भाई! क्या अकेले विकार में ही परिणमने की आत्मा की प्रभुता कही है ?—या विकार में और अविकार में दोनों में परिणमने की आत्मा की प्रभुता कही है ? विकार या अविकार दोनों में स्वतन्त्ररूप से परिणमने की मेरे आत्मा की प्रभुता है—ऐसा जो निर्णय करे, वह 'प्रभु' होकर निर्मलरूप परिणमे; विकाररूप अल्प परिणमन हो, उसकी रुचि उसे नहीं होती। एकान्त आस्रव-बन्धरूप मलिनभाव से परिणमे, उसने वास्तव में आत्मा की प्रभुता को जाना ही नहीं। ऐसे अन्तर्मुख स्वभावसन्मुख ढलकर निर्मल पर्याय के कर्तारूप परिणमा, वहाँ प्रभुता का भान हुआ कि अहो! मेरी यह सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप परिणमने में मेरी ही प्रभुता है, मेरी पर्याय को करने में मैं ही समर्थ हूँ, और मलिन पर्याय को करने में भी मैं ही स्वतन्त्ररूप से कर्ता था। रत्नत्रय लक्षणवाले जो संवर-निर्जरारूप भाव हैं, उन्हें करने में भी आत्मा स्वयं स्वतन्त्र होने से आत्मा प्रभु है। — आत्मधर्म, अंक 177, जून-जुलाई 1958, पृष्ठ 20 (पंचास्तिकाय)

(16) तो स्वसन्मुख परिणमन हुए बिना रहे नहीं

यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का वर्णन चलता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति तो जड़ में भी है, परन्तु उसकी शक्ति उसमें रही, आत्मा में उसका नास्तिपना है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञानमात्र भाव के साथ रही हुई शक्तियों का यह वर्णन है। ज्ञानमात्र भाव के साथ यह शक्तियाँ परिणमती है। जिसे ज्ञानमात्र भाव की खबर नहीं और अकेले विभाव का ही परिणमन वर्तता है, उसे शक्ति का वास्तविक परिणमन नहीं है। पर्याय के क्रम को आड़ा-टेड़ा बदल डालने की बात तो दूर रही, परन्तु अपनी पर्याय के क्रम में जिसे अकेले विभाव का ही परिणमन है, उसे भी वस्तु के क्रम-अक्रम स्वभाव की खबर नहीं है। वस्तु के क्रम-अक्रम स्वभाव को जाने तो स्वसन्मुख परिणमन हुए बिना रहे नहीं, इसलिए उसके क्रम में अकेला विभाव परिणमन रहता ही नहीं, परन्तु साधकदशा हो जाती है। विभाव परिणमन में क्रमपना होने पर भी,वह आत्मा की त्रिकाली शक्ति के अवलम्बन से हुआ परिणमन नहीं है, इसलिए वह वास्तव में आत्मा का ही नहीं है।

आत्मधर्म, अंक 139, अप्रेल-मई 1955, पृष्ठ 170 (प्रवचनसार-ईश्वरनय)

(17) ज्ञान की अस्ति में विकार की नास्ति

ज्ञान में विकार ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य ही वैसा खिला है— ऐसा कहकर ज्ञान और विकार के बीच भेद किया है। उसके बदले कोई ऐसा मान बैठे कि 'भले विकार हुआ करे, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है न!' तो वह ज्ञान का स्वरूप ही समझा नहीं है। भाई! जिसके पुरुषार्थ का प्रवाह ज्ञान की ओर ढला है, उसके पुरुषार्थ का प्रवाह विकार की ओर से रुक गया है अर्थात् उसे क्षण-क्षण में विकार का नाश ही होता है। साधकदशा में जो-जो विकार की वृत्ति उठती है, वह-वह ज्ञान में ज्ञात होकर छूट जाती है, परन्तु रहती नहीं है। इस प्रकार क्रमबद्ध प्रत्येक पर्याय में ज्ञान का झुकाव स्वभाव में झुकता जाता है और विकार से छूटता जाता है। 'विकार भले हो'—यह भावना मिथ्यादृष्टि की ही है। ज्ञानी तो जानता है कि कोई विकार मेरा स्वरूप ही नहीं है, इसलिए वह ज्ञान की ही भावना करता है और विकार की ओर से उसका पुरुषार्थ विमुख हो गया है। ज्ञान की अस्ति में विकार की नास्ति है।

पहले रागादि कुछ पहिचाना नहीं जाता था, और अब सूक्ष्म रागादि को भी ज्ञान जान लेता है, उस ज्ञान का सामर्थ्य खिल गया है। सूक्ष्म विकल्प को भी बन्धभावरूप से ज्ञान जान लेता है, वहाँ राग का सामर्थ्य नहीं रहा परन्तु ज्ञान का ही सामर्थ्य है। ऐसे स्वाश्रय ज्ञान की प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और स्थिरता के अतिरिक्त दूसरे सभी उपाय आत्महित के लिये व्यर्थ है। अहो! अपने परिपूर्ण स्वाधीन स्वतत्त्व के सामर्थ्य की प्रतीति बिना जीव अपनी स्वाधीन दशा कहाँ से लायेगा? स्व की प्रतीतिवाला स्व में ढलेगा और मुक्ति पायेगा; और जिसे स्व की प्रतीति नहीं, वह विकार में ढलेगा और संसार में भटकेगा।

ज्ञान चेतनेवाला है अर्थात् सदा चेतता—जागृत रहता है। जो वृत्ति आवे, उसे ज्ञान द्वारा पकड़कर एकदम तोड़ डालता है और पर्याय-पर्याय में ज्ञान सामर्थ्य बढ़ता ही जाता है। एक भी वृत्ति को कभी भी मोक्षमार्गरूप से जो स्वीकार नहीं करता, ऐसा भेदज्ञान वृत्तियों को तोड़ते-तोड़ते, स्वरूप की एकाग्रता बढ़ाते-बढ़ाते, मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्षरूप परिणम जाता है। ऐसे पूरे ज्ञानस्वभाव सामर्थ्य का जोर जिसे प्रतीति में बैठा है, उसे अल्पकाल में मोक्ष ही है। मोक्ष का मूल भेदज्ञान ही है। राग को जानकर राग से भिन्न रहनेवाला ज्ञान, मोक्ष को पाता है और राग को जानते हुए, राग में अटक जानेवाला ज्ञान बँधता है।

ज्ञानी को प्रज्ञाछैनी का जोर है कि—यह वृत्तियाँ तो क्षण-क्षण में चली ही जाती है और वृत्तिरहित मेरा ज्ञान बढ़ता ही जाता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे! मेरे ज्ञान में यह वृत्ति हुई, उसे वृत्ति के साथ मेरा ज्ञान भी चला ही जा रहा है। अज्ञानी को राग और ज्ञान के बीच अभेदबुद्धि (एकत्वबुद्धि) है, वह मिथ्याज्ञान है; ज्ञानी ने प्रज्ञाछैनी द्वारा राग और ज्ञान को भिन्न पहिचाना है—वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है और ज्ञान ही मोक्ष है। जो सम्यग्ज्ञान साधकपद दशारूप था, वही सम्यग्ज्ञान बढ़कर साध्यदशारूप होता है। इस प्रकार ज्ञान ही साधक-साध्य है। आत्मा को अपने मोक्ष के लिये अपने गुण के साथ सम्बन्ध होगा या परद्रव्यों के साथ होगा? आत्मा को अपने ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है; परद्रव्य के साथ आत्मा के मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा पर से तो पृथक् है ही, परन्तु यहाँ तो विकार से भी पृथक्—ऐसा अन्तर में भेदज्ञान कराते हैं। विकार से आत्मा का भेद करना, वही विकार के नाश का उपाय है। राग की क्रिया मेरे स्वभाव में नहीं है, ऐसे स्वभाव सामर्थ्य का सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वीकार किया, वहाँ विकार का ज्ञाता ही हो गया। जैसे पर्वत में बिजली पड़ने से दरार पड़ जाती है, उसी प्रकार प्रज्ञारूपी छैनी पड़ने पर स्वभाव और विभाव के बीच दरार पाड़कर ज्ञान स्व में ढला, अनादि का विपरीत परिणमन था, वह रुककर अब स्वभाव सन्मुख का परिणमन शुरु हुआ। अहो! इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ है। — आत्मधर्म, अंक 34, जुलाई–अगस्त 1946, पृष्ठ 183–184 (समयसार)

(18) ऐसा निर्णय करनेवाला कौन?

यहाँ कोई पूछता है कि जीव को क्रोध क्रमबद्ध होनेवाला था, इसलिए हुआ?

समाधान—यह क्रोध होनेवाला था, वह हुआ—ऐसा निर्णय करनेवाला कौन है? क्रोध क्षणिक है और आत्मा शान्तस्वभावी है, उसके सन्मुख दृष्टि करनेवाला 'यह क्रोध होनेवाला था तो हुआ'—ऐसा कह सकता है। उसकी दृष्टि वर्तमान पर्याय पर नहीं है-ज्ञानस्वभाव त्रिकाली है, उसके निर्णय बिना 'यह क्रोध होनेवाला था, वह हुआ'—यह निर्णय नहीं कर सकता।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद–मोक्षमार्गप्रकाशक (1951–1952), भाग 1, पृष्ठ 168

(19) ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्द का सेवन करता है

अलौकिक निश्चय की बात बाहर आयी, तब कितने ही लोग ऐसे स्वच्छन्दी हुए कि हमारे अशुभ-राग की पर्याय क्रमबद्ध होनेवाली है, इसलिए होती है, ऐसा मानकर स्वच्छन्द का सेवन करते हैं। सत्समागम का व्यवहार से भी उत्साह नहीं रहा। स्वभाव की दृष्टि किये बिना राग के समय राग आता है, ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्दता सेवन करता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णयवाले को ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि है, दूसरे पर दृष्टि नहीं है, पर्याय पर दृष्टि नहीं है। और कितने ही क्रमबद्ध को एकान्त नियत कहते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

और नियमबद्ध अवस्था की बात करो, तब कोई कहे कि 'हमें स्वाध्याय का विकल्प आने के काल में आयेगा' ऐसा कहकर उल्टा दिग्मूढ़ होता है, अपने स्वच्छन्द को पोषण करना चाहता है। और कोई कहे कि देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय होना होगा तो होगा, वह भी मूढ़ है। अरे! तेरे आत्मा का निर्णय हुआ हो तो देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय होना चाहिए।

अनुभवप्रकाश में कहा है कि 'तेरी हरामजादी ने भव खड़े किये हैं' चैतन्यतत्त्व को नहीं पहिचानकर उल्टे रास्ते दौड़ गया है। राग के समय राग आयेगा, ऐसा कहनेवाले का लक्ष्य कहाँ है ? अपेक्षा क्या है ? उसे यथार्थ जानना चाहिए। प्रथम व्यवहार से स्वाध्याय का उत्साह था, वह क्रमबद्ध के बहाने स्वच्छन्द सेवन करने से वह उत्साह भी चला गया।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद-मोक्षमार्गप्रकाशक (1951-1952), भाग 2, पृष्ठ 435

(20) ऐसा कहने का अधिकार किसे... ?

प्रश्न – विकार तो क्रमबद्ध होता है न ?

उत्तर – ऐसा कहनेवाला किसकी दृष्टि और मुख्यता रखकर कहता है ? नित्य, ज्ञातादृष्टा शुद्ध द्रव्य पर जिसकी दृष्टि है, उसे क्षणिक निर्बलता से राग हुआ, उसे भूमिकानुसार क्रमबद्ध कहा जाता है। राग हुआ या राग का अभाव हुआ, वह क्रमबद्ध है, ऐसा कहने का अधिकार किसे है कि यह द्रव्यस्वभाव निर्मल है, उसमें राग है नहीं—ऐसे शुद्धस्वरूप की रुचि में मिलकर वहाँ ही दृष्टि को मुख्य करे और इससे विकार क्षण-क्षण में घटे, पश्चात् अल्पविकार रहा, उसकी हेयबुद्धि वर्तती है। वह क्रमबद्ध की बात ज्ञाता रहकर करता है। परन्तु स्वच्छन्दी क्रमबद्ध की मात्र बातें करे तो वह यथार्थ नहीं है।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद-समयसार 9 (1950-1952), प्रसाद नं. 165, कलश 111, पृष्ठ 85

(4)
अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही होने पर भी अभी निर्मल पर्याय क्यों नहीं हुई

(21) वही क्रमबद्धपर्याय को समझा है

प्रश्न : यह क्रमबद्धपर्याय कब से चलती है ?

उत्तर : अनादि से चलती है। जैसे द्रव्य अनादि है, वैसे उसकी पर्याय का क्रम भी अनादि से चल ही रहा है। जितने तीन काल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रश्न : अनादि से क्रमबद्धपर्याय हुआ करती है तो भी अभी निर्मल पर्याय क्यों नहीं हुई ?

उत्तर : सब जीवों को अनादि से क्रमबद्धपर्याय होती होने पर भी ज्ञायक सन्मुख के सुलटे पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय हो जाए, ऐसा कभी नहीं होता। उल्टा पुरुषार्थ हो, वहाँ क्रमबद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव के भान बिना क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है और ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय नहीं होती। ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने पर क्रमबद्धपर्याय की भी सच्ची प्रतीति है और ज्ञायकस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ करने का यह उपदेश है। ऐसा समझे वही क्रमबद्धपर्याय समझा है।

— आत्मधर्म, अंक 134–135, नवम्बर–दिसम्बर–जनवरी 1954–55, पृष्ठ 88, समयसार

(22) ऐसी दृष्टि किये बिना...

आत्मा ज्ञायकस्वरूप... समभावी सूर्य है, ऐसे स्वभाव को जो जानता नहीं और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तापना मानता है—पर में उल्टा-सीधा

करना चाहता है, उसने वास्तव में जीव को नहीं माना, ज्ञायकस्वरूप जीव तत्त्व को उसने जाना नहीं। कर्तापना मानकर कहीं भी फेरफार करने गया, वहाँ स्वयं ज्ञातारूप नहीं रहा और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है, उसे भी नहीं माना; इसलिए अकर्ता-साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह ज्ञाता है-अकर्ता है तथा निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप वह उपजता है; ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है, उसे विपरीत दृष्टि में क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है। पर की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है। ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूप से समझ में आये, ऐसी नहीं है। — योगसार प्रवचन, भाग 1, पृष्ठ 270

(23) तब निर्णय होता है

श्रोता : आत्मा की दृष्टि करने चाहे तब होती है या जब होनी हो, तब होती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जब आत्मा की दृष्टि करना चाहे, तब होती है परन्तु वह होनेवाली हो, तब ही होती है। जब करना चाहे, तब होती है अर्थात् स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ करे, तब काललब्धि आदि पाँचों समवाय साथ ही होते हैं, काललब्धि का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थ जगे, तब निर्णय होता है। — पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत

(24) पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, पुरुषार्थों को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ की बात है। 'क्रमबद्धपर्याय' का ऐसा अर्थ नहीं है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो, तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायों में वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय में वर्तता हो, तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय में सम्यग्दर्शनादि हो जायें—ऐसा कभी कहीं होता। जो कुधर्म को मानते हैं, तीव्र विषय-कषाय में वर्तते हैं, या एकेन्द्रिय में पड़े हैं, उन्हें कहाँ अपने ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है ? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नहीं होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे, उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और

जो वैसा पुरुषार्थ नहीं करता, उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल दशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। जो जीव, कुदेव को-कुगुरु को-कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायों में वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नहीं है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जब तक कुदेव-कुधर्म आदि को माने, तब तक उसकी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नहीं सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यतावाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते हैं; एकेन्द्रियपना आदि पर्याय में उस प्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नहीं होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, उसे सम्यग्दर्शन हुआ; इसलिए पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसी ने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थरूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान में शक्ति नहीं है, उस जीव में ज्ञायकस्वभाव का और अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी? और यथार्थ निर्णय के बिना क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता हो जाये—ऐसा नहीं होता।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 39

(25) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणों के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है, और उन परिणामों में अनन्यरूप से वह जीव ही है, अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनन्त परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य में कारण नहीं है और कोई पर उसके कार्य में कारण नहीं है; किसी के कारण किसी की अवस्था के क्रम में फेरफार हो—ऐसा कभी नहीं होता। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है, किन्तु पर्याय को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 62

(5)
क्रमबद्ध से पुरुषार्थ सिद्ध होता है या स्वच्छन्दता ?

(26)

क्रमबद्ध के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ

प्रश्न : यदि सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर : सब क्रमबद्ध है, ऐसे निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाहित है। पर का फेरफार करना, वह कहीं आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब मात्र जानते ही हैं परन्तु वे भी कुछ बदल नहीं सकते तो इससे क्या भगवान का पुरुषार्थ परिमित (मर्यादावाला) हो गया ? नहीं, नहीं; भगवान का अनन्त—अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाहित है। भगवान का पुरुषार्थ स्व में है, पर में नहीं; पुरुषार्थ, वह जीवद्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में आता है परन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं आता।

सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ बिना होती है, ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी तो क्षण-क्षण में स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है; अहो ! जिन्हें पूरा ज्ञानस्वभाव उघड़ गया, वे केवलज्ञानी हैं, उनके ज्ञान में सब एक साथ ज्ञात होता है, ऐसी प्रतीति करने से स्वयं भी स्वदृष्टि से देखनेवाला ही रहा, ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व या रागादि, वह सब अभिप्राय में से टल गया; ऐसी द्रव्यदृष्टि के जोर से, ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप चिन्तवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की यह भावना नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव तो पर का कर्तृत्व मानता है। कर्तापने की मान्यतावाला जीव ज्ञातापने की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तापने को और ज्ञातापने को परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा ही होता है, हम उसमें कुछ फेरफार नहीं कर सकते, तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता'।—ऐसा जो मानता है, वह अज्ञानी है। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है? तेरे ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू तेरे ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान में सर्वज्ञ का और सर्व द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो, यह बने ही कैसे? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

और तेरे तर्क में 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा होगा' ऐसा कहा है तो वह मात्र बात करने के लिये कहा है या तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है? प्रथम तो, यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो पहले वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य काम करता है, तथापि उसका निषेध करके तू कहता है कि 'क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ आया?' तो तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं हुई तथा केवलज्ञान को स्वीकार करनेवाला अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ की अस्ति आती है, तथापि स्वीकार नहीं करता तो तू मात्र बातें ही करता है परन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय हुआ नहीं; यदि सर्वज्ञ का निर्णय हुआ हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका नहीं हो। सच्चा निर्णय आवे और पुरुषार्थ न आवे, ऐसा होता ही नहीं।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 83 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321 से 323)

(27) वस्तुदृष्टि हुए बिना क्रमबद्ध की श्रद्धा नहीं

प्रश्न : वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही है, तब पुरुषार्थ करने का नहीं रहा न?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसने की? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसके द्वारा की? क्रमबद्ध की श्रद्धा करनेवाला जीव समस्त पदार्थों से उदास हो गया और पर का लक्ष्य छोड़कर ज्ञान को स्व में एकाग्र किया। अब स्ववस्तु में भी क्रमबद्धपर्याय ही है, उस स्व की क्रमबद्धपर्याय कहाँ से आती है? पर्याय में से आती नहीं, वस्तु में से आती है; इसलिए वस्तुदृष्टि हुई। वस्तुदृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने से पर में से तो उदास ही हो गया–ज्ञाता ही रह गया, अब स्व की जो क्रमबद्धपर्याय होती है, वह स्वभाव में से ही आती है और स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार विकाररहित वस्तुस्वभाव की जिसे श्रद्धा हुई है, उसे ही क्रमबद्धपर्याय की बात बैठी है और उसमें ही अनन्त पुरुषार्थ है।

एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में से भी आत्मा पूरा भगवान सिद्ध होता है। एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को जानने से उसमें सब आ जाता है। 'क्रमबद्ध' कहने से अनेक पर्याय लक्ष्य में आती हैं, इसलिए सभी पर्यायों का पिण्ड वह वस्तु है, उसमें से ही पर्याय प्रगट होती है, ऐसी प्रतीति करने से परपदार्थ के ऊपर या विकार के ऊपर या पर्याय के ऊपर दृष्टि नहीं रही, परन्तु वस्तु पर दृष्टि गयी। वस्तुदृष्टि में अनन्त वीर्य आता है और वही वीर्य आगे बढ़कर पूर्ण होने पर केवलज्ञान होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने में कितना वीर्य आया ? जगत के जितने पदार्थ हैं, उन सबकी पर्याय क्रमबद्ध होती है, उन किन्हीं पदार्थों का मैं कुछ नहीं करता और मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध होती है, इसलिए मुझे किसी परद्रव्य का आधार नहीं; बस, यह भेदविज्ञान प्रगट हो गया।

मेरी पर्याय का आधार द्रव्य है, ऐसी जिसे द्रव्यदृष्टि हुई, (1) पर से अपने को भिन्न जाना, (2) विकार से मेरी पर्याय प्रगट नहीं होती, ऐसा जाना और (3) स्वभावदृष्टि होने पर हीनदशा जितना भी मैं नहीं—ऐसे पूरे स्वभाव का ही जोर आया। पूरे स्वभाव के जोर से अल्पकाल में केवलज्ञान होता ही है, इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में तो केवलज्ञान लेने का पुरुषार्थ समाहित है।

यह बात स्वभाव की है, स्वभाव से ही यह बात बैठे ऐसी है, कुतर्क से बैठे ऐसी नहीं। स्वभाव के परिणमन में यदि यह बात न बैठे और न रुचे तो स्व की दृढ़ता में पुरुषार्थ ढला ही नहीं; पुरुषार्थ जब स्व की दृढ़ता में नहीं ढला, तब वह कहीं पर की रुचि में अटका है, इसलिए उसे भव की शंका रहती ही है। स्वभाव की क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्ष की नि:सन्देह प्रतीति हो जाती है क्योंकि स्वभाव के परिणमन से ही मोक्ष होता है।

— आत्मधर्म, अंक 30, मार्च–अप्रेल 1946, पृष्ठ 111, समयसार

(28) क्रमबद्ध का तात्पर्य : वीतरागता

प्रश्न : जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है, ऐसा जीव 'क्रमबद्ध में जो होना होगा सो होगा'—ऐसा मानकर प्रमाद में पड़ा रहेगा और पुरुषार्थहीन हो जाएगा ?

उत्तर : अरे भाई ! 'क्रमबद्ध' के निर्णय में अकर्तावाद का अनन्त पुरुषार्थ होता है। अनन्त पुरुषार्थ हुए बिना 'क्रमबद्ध' माना नहीं जा सकता। 'क्रमबद्ध' का सिद्धान्त ऐसा है कि सारे ही विरोधों का अभाव कर दे। क्रमबद्ध में ज्ञातापने का—अकर्तापने का पुरुषार्थ है। राग को बदलना तो नहीं, किन्तु पर्याय को भी करना या बदलना नहीं। बस, जाने.. जाने और जाने। समयसार, गाथा 320 में कहा है कि जीव बन्ध-मोक्ष को भी करना नहीं, जानता ही है। क्रमबद्ध के निर्णायक का लक्ष्य द्रव्य को ऊपर है, द्रव्य के ऊपर लक्ष्यवाला ज्ञाता है। उसको 'क्रमबद्ध' के काल में रागादि आते हैं, किन्तु उनके ऊपर लक्ष्य नहीं है; अत: वह रागादि का जाननेवाला ही है।

एक 'क्रमबद्ध' को समझे तो सब निर्णय स्पष्ट हो जाए। निमित्त से होता नहीं, पर्याय आगे-पीछे होती नहीं और हुए बिना भी रहती नहीं। अपनी पर्याय के भी अकर्ता बन जाओ। 'क्रमबद्ध' का तात्पर्य वीतरागता है।

— आत्मधर्म, अंक 428, जून 1979, पृष्ठ 25; ज्ञानगोष्ठी, बोल 574

(29) क्रमबद्ध का तात्पर्य : अकर्तापना

प्रश्न : पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आएगा, तभी प्रगट होगी—ऐसी स्थिति में अब करने को रह क्या गया ?

उत्तर : व्यवस्थित पर्याय है—ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय, द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसर पर्याय जिसमें से प्रगट होती—ऐसे द्रव्य सामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं।

— आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 27; ज्ञानगोष्ठी, बोल 582

(30) ज्ञायक का निर्णय कर!

प्रश्न : जब आत्मा ज्ञायक है ही, तो फिर और करना क्या ?

उत्तर : भाई ! तू ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय कर। ज्ञायक तो है, परन्तु उस ज्ञायक का निर्णय नहीं है, वही करना है। पुरुषार्थ करूँ.. करूँ.. परन्तु यह पुरुषार्थ तो द्रव्य में भरा है। बस, द्रव्य पर लक्ष्य जाते ही पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है परन्तु इसे करूँ.. करूँ.. करके कुछ नवीन कार्य करना है, परन्तु जब द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब सभी कुछ जैसा है, वैसा है; इस प्रकार मात्र जानता है। पर का तो कुछ पलटना है नहीं और स्व का भी कुछ पलटना नहीं। स्व का निर्णय करते ही दिशा पलट जाती है।

— आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 32; ज्ञानगोष्ठी, बोल 581

(31) क्रमबद्ध और पुरुषार्थ विरोधी नहीं

प्रश्न : पर्याय तो क्रमबद्ध होती है न, तो फिर पुरुषार्थ करने को कैसे कहते हो ?

उत्तर : अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय के निर्णयवाले को भी पुरुषार्थ तो साथ ही है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय को और प्रयत्न को कुछ विरोध नहीं है, अर्थात् क्रमबद्धपर्याय मानी, इसलिए अब पुरुषार्थ नहीं रहा—ऐसा नहीं है। पर्याय क्रमबद्ध होती है, यह बात तो ऐसी ही है, परन्तु वह क्रमबद्धपर्याय क्या पुरुषार्थ बिना होती है ? भाई ! क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय भी ज्ञानस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा ही होता है और मोक्ष का मार्ग भी उसी प्रयत्नपूर्वक साध्य है। **— आत्मधर्म, अंक 145, नवम्बर–दिसम्बर 1955, पृष्ठ 10**

(32) जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ, वहाँ नियम से मोक्ष

भले पर्याय क्रमबद्ध होती है, परन्तु पुरुषार्थ के बिना पर्याय नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करे, उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है।

कोई पूछता है कि इसमें तो नियत आया न ?

तो उत्तर—भाई ! तीन काल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है ? जिसने तीनों काल की पर्याय निर्णय की, उसने द्रव्य ही निर्णीत किया है। परलक्ष्य से स्व का नियत माने तो वह एकान्तवादी बातूनी है और अपने स्वभाव के लक्ष्य से स्वभाव में

स्वयं मिलकर—स्वभाव की एकता करके, राग टालकर जो ज्ञायक हो गया है, उसे तो अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाहित हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ, वहाँ नियम से मोक्ष है, इसलिए पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है, जहाँ पुरुषार्थ नहीं, वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नहीं।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 89; कार्तिकेयानुप्रेक्षा 321-323

(33) क्रमबद्ध के निर्णय में द्रव्यदृष्टि

बहुतों को ऐसा प्रश्न उठता है कि द्रव्य की पर्यायें तो क्रमबद्ध ही होती है—ऐसा आप कहते हो, तो उसमें पुरुषार्थ कहाँ आया ?

उसका समाधान—देखो भाई ! द्रव्य की क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने ऐसा भी निर्णय किया ही है कि वे पर्यायें द्रव्य में से आती हैं, बाहर से नहीं आती; इसलिए ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि बाहर में नहीं रहती परन्तु अन्तर में अपने द्रव्य के ऊपर उसकी दृष्टि है और द्रव्य में तो संकोचरहित विकास होने का स्वभाव है, इसलिए उस द्रव्य की दृष्टि के जोर से पर्याय में क्रमबद्ध विकास ही होता जाता है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में द्रव्यदृष्टि और मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। आत्मधर्म, अंक 112, जनवरी 1953, पृष्ठ 76 (असंकुचितविकासत्वशक्ति)

(34) क्रमबद्ध में अकर्ता का पुरुषार्थ

कोई ऐसा कहता है कि उल्टी-सीधी पर्याय तो होती नहीं और पुरुषार्थ चाहिए है, अर्थात् क्या ? (प्रत्येक पर्याय) क्रमबद्ध तो होती है।

उत्तर—क्रमबद्ध में अकर्ता का पुरुषार्थ है और अकर्ता का पुरुषार्थ नास्ति से है। अस्ति से ज्ञाता का पुरुषार्थ है। समझ में आया ? क्रमबद्ध में जिस समय में जिस द्रव्य की (जो) पर्याय होती है, वह होती है। उस क्रमबद्ध में अकर्ता-अकर्तापने का पुरुषार्थ है। उसे अस्ति से ज्ञाता का पुरुषार्थ है। अकर्ता अर्थात् करना नहीं; यह करना, ऐसा नहीं। अर्थात् ज्ञातापने का पुरुषार्थ है। आहाहा ! ऐसी बात है।

'केवलज्ञान तक पुरुषार्थ ही चाहिए' आहाहा ! जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जगा। वह जाननेवाला, जाननेवालेरूप से ही पुरुषार्थ करता है। चाहे तो

उदय हो, उसे जाने; निर्जरा हो, उसे जाने; बन्ध हो, उसे जाने; मोक्ष हो, उसे जाने। यह तो ज्ञाता का पुरुषार्थ ही वहाँ वर्तता है, हुआ करता है, आहाहा!

— अमृत प्रवचन भाग 1, बोल 7, पृष्ठ-27

(35) यह सब एक ही साथ है

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय या सर्वज्ञ का निर्णय भी ऐसे शुद्ध द्रव्य के निर्णय से ही होता है। यद्यपि पर्याय तो पहले क्रमबद्ध ही होती थी परन्तु अज्ञानदशा में उसका निर्णय नहीं था, शुद्ध द्रव्य के निर्णयपूर्वक क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति यथार्थ हुई और शुद्धता का क्रम भी उसे शुरु हो गया। शुद्ध द्रव्य के सन्मुख ढलकर जहाँ क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करे, वहाँ अकेली अशुद्धता का क्रम रहे – ऐसा नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध द्रव्य का निर्णय, स्वभावसन्मुख दृष्टि, सर्वज्ञ का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, शुद्ध पर्याय के क्रम की शुरुआत, अपूर्व पुरुषार्थ—यह सब एक ही साथ है।

— आत्मधर्म, अंक 167, अगस्त–सितम्बर 1957, पृष्ठ 8 (एकत्व–अनेकत्वशक्ति)

(36) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गम्भीरता

अहा! देखो तो सही! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गम्भीरता है! द्रव्य की पर्याय पर से बदले, यह तो बात है ही नहीं परन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उल्टी–सीधी बदलना चाहे तो भी नहीं बदलती। जैसे त्रिकाली द्रव्य पलटकर दूसरेरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार उसका एक–एक समय का अंश—परिणाम भी पलटकर दूसरेरूप नहीं होता। 'मुझे जीव नहीं रहना परन्तु अजीव हो जाना है।' ऐसे जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है? नहीं बदल सकता। जीव पलटकर कभी अजीवरूप नहीं होता और अजीव पलटकर कभी जीवरूप नहीं होता। जैसे त्रिकाली सत् नहीं बदलता, उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जैसे त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता, उसी प्रकार द्रव्य की एक–एक समय की अनादि–अनन्त अवस्थाएँ भी जिस समय में जैसी है, उसमें फेरफार या आगे–पीछे नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने–अपने काल में सत् हैं। बस, पर में या स्व में कहीं फेरफार की बुद्धि नहीं रही अर्थात् ज्ञान जाननेवाला ही रह गया। पर्यायबुद्धि में अटकने का नहीं रहा। इस प्रकार ज्ञान

जानने का काम करे, ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है। अभी केवलज्ञान होने से पहले वह जीव केवली भगवान का लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा अपेक्षा से तो वह साधक भी सर्व का ज्ञायक हो गया है।

सभी पदार्थों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव को निर्णय करने से, स्व में या पर में फेरफार की बुद्धि नहीं रही, परन्तु ज्ञान में ही जानने का काम रहा। इसलिए ज्ञान में से 'ऐसा कैसे' ऐसी खलबलाहट निकल गयी और ज्ञान धीर होकर अपने में स्थिर हुआ।—ऐसा ही ज्ञान का परम पुरुषार्थ है, इसमें ही मोक्षमार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर में कर्तृत्वबुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती और उसे ज्ञान के स्वभाव का ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात नहीं होता।

— आत्मधर्म, अंक 87, जनवरी 1951, पृष्ठ 49 (प्रवचनसार गाथा 99)

(37) पुरुषार्थ के बिना प्राप्ति नहीं

पहली यह शर्त है कि मुझे दूसरी कोई चीज़ चाहिए नहीं, मुझे एक आत्मा ही चाहिए—ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। दुनिया की कोई चीज़—पैसा, इज्जत आदि कुछ नहीं परन्तु एक आत्मा ही मुझे चाहिए—ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। ऐसा जिसे दृढ़ निश्चय हुआ हो, उसे चाहे जैसे प्रतिकूल संयोगों में भी तीव्र और कठोर पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। पुरुषार्थ के बिना प्राप्ति नहीं है। क्रमबद्ध प्रमाण ही आत्मा प्राप्त होगा, परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायक सन्मुख ही जाती है और तब क्रमबद्ध की सच्ची श्रद्धा होती है। और दूसरी बात यह कि एक द्रव्य की पर्याय को पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा निर्णय हो, तभी उसकी दृष्टि सच्ची होती है।

— द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल 292

(38) स्वभाव की प्रतीति होने पर...

आत्मा के स्वभाव को देखनेवाला, उन राग-द्वेषरूप उत्पन्न नहीं होता परन्तु वीतरागी निर्मलतारूप से उत्पन्न होता है। यहाँ स्वभावदृष्टि में निर्मल क्रम की ही बात है। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से उपजे, उस स्वभाव को जो बदलना चाहता

है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। क्रम-अक्रमरूप से वर्तता जो ज्ञायकस्वभाव, उस स्वभाव में एकाग्र होनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होकर क्रम-क्रम से निर्मल पर्याय में आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान पाता है।

वस्तु का स्वभाव वह धर्म है, उसका यह वर्णन है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप जो वस्तुस्वभाव है, उस स्वभाव का भान होने पर पर्याय में धर्म की शुरुआत होती है। मेरा ज्ञायकस्वभाव अनन्त गुण का भण्डार है, ऐसी जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ क्रम-अक्रम वर्तनरूप उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति भी उसमें साथ ही आ गयी और ऐसी स्वभाव की प्रतीति होने पर शक्ति के भण्डार में से निर्मल पर्याय का क्रम भी शुरु हो ही गया। इस प्रकार शक्ति के साथ पर्याय को भी साथ ही मिलाकर यह बात है।

— आत्मधर्म, अंक 141, जून-जुलाई 1955, पृष्ठ 228 (उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति)]

(39) —ऐसी प्रतीति आयी है ?

सर्वज्ञ ने देखा है, ऐसा होगा, उससे कौन इनकार करता है ? परन्तु सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञानी हैं, एक समय में तीन काल-तीन लोक के जाननेवाले हैं, ऐसी प्रतीति आयी है ? और वह प्रतीति कब आवे ? पर्याय के लक्ष्य से आयेगी ? पूरा ज्ञानमूर्ति भगवान अन्दर सर्वज्ञस्वभावी है। तब उस समय तो ज्ञान कहा, परन्तु यह सर्वज्ञस्वभावी भगवान अन्दर है, उसके ऊपर जब दृष्टि जाए, तब भगवान ने देखा, ऐसा होगा—इसका सच्चा निर्णय होता है। आहाहा! यह तो पच्चीस वर्ष की उम्र में (....) अभी तो 91 चलता है। संस्कार थे न! 80 गाथा का भाव अन्दर से आया। प्रवचनसार में है न? **'जो जाणदि अरहंतं'** जो अरिहन्त को जानता है, वह आत्मा को जानता है। अरिहन्त के केवलज्ञान को वास्तविक जाने, वह आत्मा के साथ मिलान करे कि मेरी पर्याय में कैसे अरिहन्तपना नहीं है ? क्या है ? पर्याय कहाँ से उत्पन्न होती है ? द्रव्य में से। द्रव्य क्या है ? पूर्णानन्द का नाथ। द्रव्य के ऊपर दृष्टि पड़ने पर क्रमबद्ध का और केवलज्ञान का निर्णय तब होता है, यह पुरुषार्थ है। आहाहा! भागचन्दजी! थोड़ा समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, भगवान!

— समयसार सिद्धि, भाग 8, पृष्ठ 43

(40) ऐसी अकर्ताबुद्धि होती है

जगत के द्रव्य की क्रमबद्धपर्याय जिस समय में जो होनेवाली है, वह होती है, उस समय में (होती है), दूसरे समय दूसरी, तीसरे समय तीसरी। मोती के हार की भाँति। मोती के हार में जहाँ-जहाँ मोती, वहाँ-वहाँ (उसका) स्थान है। वह स्थान। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर्याय, वहाँ-वहाँ उसका काल। आहाहा! परन्तु उसकी दृष्टि जाए कहाँ? क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि अकर्ता पुरुषार्थ में जाती है, अकर्ता पुरुषार्थ में जाती है। आहाहा! नियतवाद में जाती नहीं। आहाहा! राग का भी कर्ता नहीं और पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसी अकर्ताबुद्धि होती है। आहाहा! क्या हो? — **समयसार सिद्धि, भाग 8, पृष्ठ 299**

(41) उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं

यहाँ यह कहते हैं, 'मुनि उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं...' यह आया न भावार्थ में? उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं। अचिरात् कहा था न, इसलिए उसका अर्थ किया है। 'वे शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।' धर्मात्मा अन्दर अपने में उद्यम करते हैं। क्रमबद्ध में अनन्त स्वतन्त्रता है और वह अनन्त स्वतन्त्रता स्वसन्मुख बल से है। वह स्वसन्मुख शुद्धता में झुकता है, उसमें कर्मबन्ध का नाश होता है। आहाहा! ऐसा उद्यम है। आहाहा! 'मुनि उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं...' देखा? उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं। जो त्रिकाल स्वभाव है, उसमें उद्यम से प्रवर्तते हैं। बहुत विवाद था। — **समयसार सिद्धि, भाग 9, पृष्ठ 266**

(42) केवली का स्वीकार है?

मुमुक्षु : आपने नया धर्म क्यों चलाया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नया नहीं है। अनादि से सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं, वह बात है। समझ में आया? आहाहा! यह तो कहा न? (संवत्) 1972 के वर्ष, 1972, कितने वर्ष हुए? 61। 60 और 1। 1972 में चर्चा चली। दो वर्ष सुना कि केवली ने देखा, वैसा होगा, हम क्या पुरुषार्थ करें? यह बात दो वर्ष सुनी। नवदीक्षित थे। साढ़े तेईस वर्ष में दीक्षा ली थी। पच्चीस वर्ष की उम्र थी। अभी 88 हुए। कितने वर्ष हुए? 61। हमारे गुरु भाई बारम्बार ऐसा कहते कि केवलज्ञानी ने देखा, वैसा होगा, हम क्या पुरुषार्थ करें? दो वर्ष तो सुना,

फिर एक बार कहा, केवलज्ञान है—ऐसी सत्ता का स्वीकार है ? लालचन्दभाई ! यह तो 1972 की बात है।

केवलज्ञान एक समय प्रभु ! ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय अनन्त केवली को जाने, उन केवली को जाने, यह कहना भी व्यवहार है। उस पर्याय का सामर्थ्य इतना है। आहाहा !

एक गुण की एक समय की एक पर्याय में इतनी ताकत है कि अनन्त केवली जाने। अपनी पर्याय से; केवली है तो नहीं। केवली है तो केवली को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! ऐसी एक समय की केवलज्ञान की सत्ता जगत में है, उसका जिसे स्वीकार है, उसकी दृष्टि ज्ञान में घुस जाती है। समझ में आया ? उस समय इतना था। 1972 का वर्ष था। तब द्रव्य का आश्रय और इतना नहीं था। समझ में आया ?

जिसने... आहाहा ! सर्वज्ञ पर्याय एक गुण की एक समय की पर्याय इतनी ताकतवाली है कि वह पर्याय द्रव्य और गुण को जाने, अपने त्रिकाली द्रव्य-गुण को जाने, वह द्रव्य को जाने, अनन्त सिद्धों को जाने। एक ही पर्याय का अस्तित्व है, बाकी सबका उसमें नास्तित्व है। समझ में आया ? ऐसी एक समय की पर्याय द्रव्य-गुण के कारण से भी नहीं है। इतना तो उस समय नहीं था। परन्तु केवलज्ञान है, एक समय की सत्ता जगत में है, आहाहा ! उस सत्ता का जिसे स्वीकार है तो वास्तव में सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार, सर्वज्ञशक्तिवान आत्मा है, उसके ऊपर दृष्टि पड़ने से सर्वज्ञ की सत्ता का यथार्थ श्रद्धान होता है। समझ में आया ? आहाहा ! — **समयसार सिद्धि, भाग 12, पृष्ठ 208-209**

(43) जहाँ स्वच्छन्द है, वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है।

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तर : ऐसा हो ही नहीं सकता। भाई ! जो क्रमबद्धपर्याय को श्रद्धा करे, उसके पर्याय में स्वच्छन्द का क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर

उसने वह प्रतीति की है। ज्ञानस्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्ध-पर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नहीं है क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की, वहाँ तो अनन्तगुणों का अंश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है; श्रद्धा में सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वोन्मुख हुआ—इस प्रकार समस्त गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नहीं हुए हैं, आनन्द का भान नहीं है, वीर्यबल अन्तरस्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है; श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; इसलिए वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा में अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नहीं होता; और जो राग है, उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो-यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्धपर्याय श्रद्धावाले को हठ भी नहीं रहती और स्वच्छन्द भी नहीं रहता। सम्यक्श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण कर लेना चाहिए—ऐसी हठ नहीं होती, और चाहे जैसा राग हो, उसमें कोई हर्ज नहीं है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता; ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी में अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्य का दोष नहीं मानता।

— ज्ञेयस्वभाव ज्ञानस्वभाव, बोल 44

(44) वही धर्म है

प्रश्न : पुरुषार्थ क्रमबद्ध होता है न ?

उत्तर : स्वभावसन्मुख होने पर क्रमबद्ध का निर्णय होता है, पर की कर्ताबुद्धि और राग की कर्ताबुद्धि छूट जाती है। स्वभावसन्मुख दशा सहज होती है।

उपदेश की पद्धति अमुक प्रकार से आती है परन्तु मर्म दूसरा है। स्वभाव का पुरुषार्थ

किया, उसमें केवली भगवान का निर्णय भी हो गया और वही मोक्षमार्ग है। स्वभाव सन्मुख दशा होना, वही धर्म है।

— सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, मोक्षमार्गप्रकाशक (1952–53) भाग 1, 289

(45) वह भी ज्ञान का ज्ञेय है

भाई ! तू चेतनद्रव्य है। ज्ञातादृष्टा का पुरुषार्थ होने पर राग उत्पन्न होता ही नहीं, इसलिए पुद्गल का कहा है, ऐसा कहे तो स्वयं स्वभाव को समझे नहीं, स्वच्छन्दता से राग किया करे और वह पुद्गल का है, ऐसा कहे तो वह अज्ञानी राग के स्वरूप को समझा ही नहीं। और क्रमबद्धपर्याय के नियम में आया है, इसलिए राग करना पड़ेगा—ऐसा माननेवाले को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नहीं है। क्योंकि क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले को स्वभाव के ऊपर लक्ष्य होता है, राग करने के ऊपर उसका लक्ष्य नहीं होता, परन्तु उस राग को जानने का काम करता है, तो ही क्रमबद्धपर्याय को समझा कहलाता है।

क्रमबद्धपर्याय में जो राग हुआ, वह राग कर्म ने नहीं कराया और स्वभाव में वह राग नहीं है—ऐसा जाने तो स्वभाव की दृष्टि से उस राग का ज्ञाता रहता है। तब वह राग पुद्गलद्रव्य का परिणाम कहा जाता है क्योंकि उसे राग के ऊपर रुचि नहीं रहती। जिस समय राग होता है, उस समय त्रिकाली ध्रुवद्रव्य है, उसकी रुचि से राग का ज्ञान होता है परन्तु राग की रुचि रखकर, उसकी मिठास से स्वच्छन्दता से राग करे और वह जड़ की पर्याय है, ऐसा कहे तो ऐसा कहनेवाला क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं मानता। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा, वह द्रव्य की श्रद्धा कराती है, उसे अस्थिरता से राग होता है, वह भी उसके ज्ञान का ज्ञेय है। — सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, समयसार 9 (1950-52) प्रसाद नं. 33, गाथा 50–55, पृष्ठ 103

(6)
क्रमबद्ध नहीं समझनेवाले की कितनी ही भ्रमणाएँ

(46) द्रव्य का निर्णय किये बिना...

श्रोता : सर्व गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है, तो फिर उसे पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसे व्यवस्थित बैठा ही कहाँ है ?

श्रोता : उसे व्यवस्थित नहीं बैठा, ऐसा उसका परिणमन भी व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थित का निर्णय न कर सके, ऐसा उसका परिणमन व्यवस्थित ही है, तो फिर उससे निर्णय कर–ऐसा क्यों कहा जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका परिणमन व्यवस्थित ही है, ऐसी उसे कहाँ खबर है ? व्यवस्थित परिणमन है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का कहाँ निर्णय है ? पहले वह सर्वज्ञ का तो निर्णय करे, फिर व्यवस्थित की खबर पड़ेगी।

श्रोता : व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, ऐसा भगवान का कहा हुआ उसे बैठा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; सर्वज्ञ भगवान का भी सच्चा निर्णय उसे कहाँ है ? प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? यों ही ज्ञानी की बातें धारणा करके करे, वह नहीं चल सकता, पहले सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय भी यथार्थ नहीं हो सकता। — **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल 446**

(47) तो क्रमबद्ध का ज्ञान सच्चा

मुमुक्षु : वह पर्याय भी स्वतन्त्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र। यहाँ तो अभी गुण को अनुसरकर कहा है। वहाँ प्रवचनसार की 101 गाथा में कहा है कि जो कोई केवलज्ञान या मति आदि की पर्याय उत्पन्न होती है, वह उत्पाद, उत्पाद के आश्रय से है। ध्रुव के आश्रय से नहीं, व्यय के आश्रय से नहीं। आहाहा !

मुमुक्षु : क्रमबद्ध हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रमबद्ध ही है। परन्तु क्रमबद्ध ऐसे मानना, ऐसा नहीं। वस्तु में से पर्याय आती है, वह वस्तु कैसी है ? उसका भान होने पर इसे क्रमबद्ध का ज्ञान सच्चा कहलाता है। — कारणकार्य नियम, भाग 1, पृष्ठ 206

(48) उसका क्रमबद्ध का निर्णय सच्चा नहीं

पर्याय को आगे-पीछे होना माने तो वस्तुस्वभाव सिद्ध नहीं होता। अपने-अपने अवसर में परिणाम होते हैं, (प्रवचनसार, गाथा 99) तथा प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का जन्मक्षण होता है, वस्तु के परिणाम क्रमबद्ध ही होते हैं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का जिसे निर्णय होता है, उसका क्रमबद्ध का निर्णय सच्चा है, पर्याय के क्रम को देखा करे परन्तु अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव की दृष्टि नहीं करे, उसका क्रमबद्ध का निर्णय सच्चा नहीं है, मात्र धारणारूप है। — आत्मधर्म, अंक 388, फरवरी 1976, पृष्ठ 22 (ज्ञानगोष्ठी)

(49) उसे स्वच्छन्द तो होता ही नहीं

मुमुक्षु : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो परन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द न टले तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होता ही नहीं, भाई ! क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे, उसमें पर्याय में स्वच्छन्द का क्रम रहता ही नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञानस्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझा। ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की, वहाँ तो अनन्त गुणों का अंश निर्मलरूप परिणमने लगा है। श्रद्धा में सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वसन्मुख झुका - इस प्रकार सब गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता की शुरुआत हो गयी।

अभी जिसे श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए नहीं, आनन्द का भान नहीं, वीर्यबल अन्तर स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ, उसे क्रमबद्धपर्याय की वास्तविक प्रतीति नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव के सन्मुख का पुरुषार्थ है, श्रद्धा-ज्ञान

सम्यक् हुए हैं, आनन्द और वीतराग का अंश प्रगट हुआ है, अर्थात् वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा में अस्थिरता का राग आता है परन्तु वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं और जो राग है, उसका भी परमार्थ से तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो या क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो—यह सब इसमें समाहित ही है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले को हठ भी नहीं रहती तथा स्वच्छन्द भी नहीं रहता। सम्यक् श्रद्धा होने पर साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनिपना ले लेना चाहिए—ऐसी हठ नहीं होती और चाहे जैसा राग हो, उसकी दिक्कत नहीं, ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता। ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसे चला ही करता है।

— योगसार प्रवचन, भाग 1, पृष्ठ 349

(50) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय!

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया ? ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ, तभी भगवान के ज्ञायकपने का यथार्थ निर्णय हुआ।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 49

(51) 'योग्यता' कब मानी कहलाती है ?

प्रश्न : एक प्याले में पानी भरा है, पास में अनेक प्रकार के लाल, हरे आदि रंग रखे हैं, उनमें से जैसा रंग लेकर पानी में डालेंगे, वैसा ही पानी का रंग हो जायेगा। उस पानी में योग्यता तो सर्व प्रकार की है, किन्तु जिस रंग का निमित्त देंगे, उसी रंग का वह हो जायेगा; इसलिए निमित्तानुसार ही कार्य होता है ! भले ही उसकी योग्यता से होता है, किन्तु जैसा निमित्त आता है, वैसा होता है ?

उत्तर : अरे भाई ! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवाले ने 'योग्यता' को माना ही नहीं, अर्थात् वस्तु के स्वभाव को ही नहीं माना। पानी के परमाणुओं में जिस समय जैसी हरे या लाल रंगरूप होने की योग्यता है, उसी रंगरूप वे परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हैं, दूसरा कोई निमित्त उसमें रंग ला सके या फेरफार कर सके– ऐसा नहीं है, क्योंकि रंग के परमाणु पृथक् और पानी के परमाणु भी पृथक्; इसलिए रंग

का निमित्त आने से पानी के परमाणुओं का रंग बदला—ऐसा भी नहीं है परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग-अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं में से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है-ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टान्त-अनुसार समझ लेना चाहिए।

स्कन्ध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्ररूप से अपनी क्रमबद्धयोग्यता से परिणमित होता है; स्कन्ध के अन्य परमाणुओं के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु उसी में स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतन्त्र योग्यता हुई है। देखो, एक परमाणु पृथक् हो, तब उसमें स्थूल परिणमन नहीं होता, किन्तु उसके स्कन्ध में मिलता है, तब उसमें स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणाम में इतना फेरफार हुआ या नहीं ?—हाँ, फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण ?-तो कहते हैं कि अपनी ही क्रमबद्धपर्याय के कारण; पर के कारण नहीं। एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिला, वहाँ वह जैसा पृथक् था, वैसा ही स्कन्ध में नहीं रहा किन्तु सूक्ष्म में से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है। उसमें सर्वथा फेरफार नहीं हुआ—ऐसा भी नहीं है, और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता में से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक् परमाणु में स्थूलतारूप परिणमन नहीं होता, उसी प्रकार स्थूल स्कन्ध में भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नहीं होंगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिलने से उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल ४४

(52) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्न : प्रवचनसार के 47 नयों में तो कहा है कि अस्वभावनय से आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है; जिस प्रकार लोहे के तीर में संस्कार डालकर लुहार नई नोंक निकालता है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं—ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमबद्धता का नियम कहाँ रहा ?

उत्तर : पर्याय निरन्तर नयी-नयी होती है, आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय में मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान थे, उनके बदले अब ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान दूर होकर, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े; इसलिए पर्याय में नये संस्कार कहे, तथापि वहाँ क्रमबद्धपर्याय का नियम नहीं टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने जैसा नहीं देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्ध-पर्याय में वैसा नहीं था और हो गया ?-ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ, केवलीभगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जो निर्मलपर्याय होना देखा था, वही पर्याय आकर उपस्थित हो गयी। इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पड़े बिना नहीं रहते और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नहीं टूटता।—ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आयेगा। — **ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 91**

(53) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्न : तीन काल की पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यों नहीं होती ?

उत्तर : उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है, उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीन काल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा; और देखो ! गयी कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा— इस प्रकार सातों वारों की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नहीं ? ''बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो ! ....ऐसी शंका कभी नहीं होती क्योंकि उस प्रकार का क्रमबद्धता का निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो 'क्रमबद्धपर्याय'' कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं स्वकाल में क्रमबद्ध परिणमित होता है और उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिए उनका वह कर्ता नहीं होता। — **ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 99**

(54) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, पण्डित बनारसीदासजी भी कहते हैं कि:—

उपादान बल जहाँ-तहाँ, नहि निमित्त को दाव।
एक चक्रसों रथ चले, रवि को यहै स्वभाव॥5॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें निमित्त का कोई दांव-पेंच नहीं है; 'निमित्त के कारण कार्य हुआ'—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नहीं; जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। 'ऐसा क्यों?' कहते हैं—उपादान की वैसी ही योग्यता। 'निमित्त के कारण हुआ?'-कहते हैं, नहीं।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 149

(55) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिए जीव अकर्ता है, ज्ञायक है

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव-कर्ता और अजीव उसका कर्म-ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता-कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता-कर्म में बीच में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है; वहाँ 'यह हो तो ऐसा हो'—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। पर की अपेक्षा के बिना अकेले स्वद्रव्य में ही कर्ता-कर्म की सिद्धि हो जाती है, यह निश्चय है।—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना, वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य में कुछ हुआ-ऐसा नहीं है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उसने कार्य में कुछ भी कर दिया! 'व्यवहार-कर्ता' का अर्थ ही 'वास्तव के अकर्ता' है। कर्ता-कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिए निमित्त से भी निरपेक्ष हैं; अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहों कारक (कर्ता-कर्म-करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष हैं और अपने स्वद्रव्य में ही उनकी सिद्धि होती है। कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण-यह छहों कारक जीव के जीव में हैं और अजीव के अजीव में हैं।-ऐसा होने से जीव और अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध

नहीं होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है-ज्ञायक ही है-ऐसा बारबार सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 193

(56) क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब... ?

प्रश्न : आप कहते हैं ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीव को तथा क्रमबद्धपर्याय को हम मानें, और साथ ही साथ कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को भी मानें, तो क्या हर्ज ?

उत्तर : अरे ! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के पास इस बात की गन्ध भी नहीं है, तो उनके पास जो नहीं है, वह बात तुझमें कहाँ से आयी ? किसी के पास धारणा करके—चोरी करके—इस बात के नाम से तुझे अपने मान की पुष्टि करना है, यह बड़ा स्वच्छन्द है ! जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो, उस जीव को कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन होता ही नहीं। किसी के शब्द लेकर रट ले, तो ऐसा नहीं चल सकता। सर्व प्रकार की पात्रता हो तो यह बात समझ में आ सकती है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2 / 29

(57) सच्चा समझनेवाले जीव का विवेक कैसा होता है ?

प्रश्न : प्रत्येक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपने से ही होती है—ऐसी क्रमबद्धपर्याय की बात सुनेंगे तो लोग देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान छोड़ देंगे; और जिन-मन्दिरादि नहीं बनवायेंगे।

उत्तर : अरे भाई ! जो यह बात समझेगा, उसी को समझानेवाले का सच्चा बहुमान आयेगा। निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव को जाना, तब क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की अपूर्व बात जो समझा, उसे वह बात समझानेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहेगा। 'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार ज्ञायक की श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्याय को जानेगा, वह अपनी भूमिका के राग को भी जानेगा। किस भूमिका में कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते हैं, उनका भी वह विवेक करेगा। यह तो जागृतमार्ग है, यह कहीं अन्धमार्ग नहीं है। साधकदशा में राग होता है, किन्तु उस राग की वृत्ति कुदेवादि के प्रति नहीं जाती,

किन्तु सच्चे देव-गुरु के बहुमान की ओर वृत्ति जाती है। जो सच्चा समझे, वह स्वच्छन्दी हो ही नहीं सकता; सच्ची समझ का फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव-गुरु का बहुमान आने से बाह्य में जिनमन्दिर बनवाने आदि के भाव आते हैं, किन्तु बाह्य में तो उसके अपने काल में जैसा होने योग्य हो, वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजादि में भी समझ लेना चाहिए। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है; तथापि उस ज्ञान के या राग के कारण बाह्यक्रिया नहीं होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव, जीवतत्त्व है;

राग, आस्रवतत्त्व है; और

बाह्य शरीरादि की क्रिया, अजीवतत्त्व है।

उसमें किसी के कारण कोई नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिए, तभी सच्ची तत्त्वार्थश्रद्धा होती है। — **ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2 / 57**

(58) ज्ञायक और क्रमबद्ध का निर्णय करके स्वाश्रय का परिणमन हुआ, उसमें व्रत-प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्न : इस क्रमबद्धपर्याय में व्रत-समिति-गुप्ति-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-प्रायश्चित्त आदि कहाँ आये ?

उत्तर : जिसका ज्ञान पर से हटकर ज्ञायक में एकाग्र हुआ है, उसी को क्रमबद्ध -पर्याय का निर्णय है, और ज्ञायक में एकाग्र होकर परिणमित हुआ, उसमें व्रत-समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव में ज्ञान की एकाग्रता-वह ध्यान है और उस ध्यान में निश्चय व्रत-तप-प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसार की 119वीं गाथा में कहा है कि —

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
शक्नोति कर्तु जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम्॥119॥

निज आत्मा का आश्रय करके ज्ञान एकाग्र हुआ, वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह

निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावों का अभाव करने में समर्थ है; 'तम्हा झाण हवे सव्वं'— इसलिए ध्यान सर्वस्व है; शुद्ध आत्मा के ध्यान में सर्व निश्चय आचारों (पंचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं करता, उसे कभी धर्मध्यान नहीं होता। ध्यान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञायक की ओर ढले नहीं, क्रमबद्धपर्याय को न जाने और पर में फेरफार करना माने—ऐसे जीव का ज्ञान, परसन्मुखता से हटकर स्व में एकाग्र होता ही नहीं, इसलिए उसे धर्मध्यान होता ही नहीं; पर में एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायक का और क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय करके ज्ञायक में ही एकाग्रदृष्टि से क्रमबद्ध ज्ञातारूप से ही परिणमित होता है। ज्ञायक में एकाग्रता का जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ, उसमें निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-सामायिक-व्रत-तपादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायक-भावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ही परिणमित होता है; वहाँ निर्मल पर्यायें होती जाती हैं, बीच में जो व्यवहार परिणति होती है, उसे ज्ञान जानता है, किन्तु उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तित नहीं होता; स्वभाव में एकाग्ररूप से वर्तता है और उसमें जैनशासन आ जाता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2/60

(59) केवली को क्रमबद्ध, और छद्मस्थ को अक्रम-ऐसा नहीं है

प्रश्न : 'सब क्रमबद्ध है'—यह बात केवली भगवान के लिये बराबर है। केवली भगवान ने सब जाना है, इसलिए उनके लिये तो सब क्रमबद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थ को तो पूर्णज्ञान नहीं है, इसलिए उसके लिये सब क्रमबद्ध नहीं है; छद्मस्थ के तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह बराबर है ?

उत्तर : नहीं; यह बात बराबर नहीं है। वस्तुस्वरूप सबके लिये एक-सा ही है। केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा दो प्रकार का वस्तुस्वरूप नहीं है। केवली के लिये सब क्रमबद्ध और छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमें उल्टा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवाले को क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप की खबर नहीं है। केवली भगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जानें और छद्मस्थ पूर्ण

प्रत्यक्ष न जानें, तथापि वस्तुस्वरूप का (क्रमबद्धपर्याय आदि का) निर्णय तो दोनों को एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय होना जानें, और छद्मस्थ उनका अक्रम से होना माने, तब तो उसके निर्णय में ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायकस्वभावसन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानी को तो ज्ञाताभाव का ही परिणमन विकसित होते-होते अनुक्रम से केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु अभी जिसके निर्णय में ही भूल है, उसके ज्ञातापने का परिणमन नहीं होता, किन्तु विकार का ही कर्तापना रहता है। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2/89

(60) आगम को जानेगा कौन?

प्रश्न : यह पर्याय की बात आप जैसी कहते हैं, वैसी आगम में नहीं मिलती।

उत्तर : अरे भाई! अभी तुझे सर्वज्ञ का तो निर्णय नहीं है; तब फिर सर्वज्ञ के निर्णय बिना, 'सर्वज्ञ के आगम कैसे होते हैं और उनमें क्या कहा है' उसकी तुझे क्या खबर पड़ेगी? गुरुगम के बिना, अपनी विपरीतदृष्टि से आगम के यथार्थ अर्थ भासित हों, ऐसा नहीं है। आगम कहता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उसमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को और सर्वज्ञता को न जाने तो उसने आगम को जाना ही नहीं है; और यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को माने तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय उसमें आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्याय को सीधी रीति से न समझे, उसे समझाने के लिये यह केवलज्ञान की दलील दी जाती है; बाकी वस्तु तो स्वयं ही वैसे स्वभाववाली है; क्रमबद्धपर्याय वह वस्तु का ही स्वरूप है, वह कहीं केवलज्ञान के कारण नहीं है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2/91

(61) जहाँ रुचि, वहाँ पुरुषार्थ

यह मोक्षमार्ग का स्वरूप है। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और लीनता, वह मोक्षमार्ग है। वह पुरुषार्थ से होता है या कर्म हटने से होता है? ऐसा प्रश्न चलता है। पुरुषार्थ करे तो सब कारण मिल जाते हैं। संसार के कार्यों में वीर्य काम करता है। जहाँ रुचि है, वहाँ पुरुषार्थ ढलता है। यदि मोक्षमार्ग की रुचि हो तो उस ओर पुरुषार्थ ढले बिना रहे नहीं। कोई भी विवाह आदि व्यवहारिक कार्य में पुरुषार्थ लगाता है परन्तु धर्म की बात आवे, वहाँ होना

होगा तो होगा, ऐसा कहकर प्रमाद सेवन करता है। सब होना होगा, वैसा होगा–ऐसा यथार्थ निर्णय होवे तो पर में फेरफार करना नहीं रहे परन्तु स्वस्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ ढलता ही है, परन्तु अज्ञानी स्वच्छन्द सेवन करता है। संसार के कार्य भी केवलज्ञान की नोंध में है, अर्थात् कि केवलज्ञान में वह बात ज्ञात हो गयी है, तथापि उसमें फेरफार करना चाहता है और धर्म में होना होगा, वैसा होगा—ऐसा कहकर स्वच्छन्द सेवन करता है; इसलिए केवलज्ञान की श्रद्धा नहीं है। यदि केवलज्ञान का निर्णय हो तो अपनी ओर ढले बिना रहे नहीं।

और कोई जीव क्रमबद्धपर्याय के नाम से स्वच्छन्द सेवन करता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णयवाले को परसन्मुख की विमुखता हो गयी हो और स्वभाव की ओर दृष्टि हुई होती है। अज्ञानी देखादेखी से कथनमात्र बोलता है।

अहो! आत्मा ज्ञानस्वभावी है। ज्ञान, ज्ञेय को जानता है। राग को तथा निमित्त को भी जानता है, ऐसा स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ है, उसे राग और निमित्त की ओर की दृष्टि हट गयी होती है और स्वभाव सन्मुख की दृष्टि हुई है, उसे क्रमबद्ध का निर्णय सच्चा है।

साधारण चीज़ लेने जाए तो वहाँ परीक्षा करके लेता है, वहाँ क्रमबद्ध में आनेवाला होगा, वह आयेगा—ऐसा नहीं मानता और धर्म में क्रमबद्ध के नाम से स्वच्छन्द सेवन करता है। धर्म का काल आयेगा, तब काम होगा और कर्म मार्ग देगा, तब होगा—ऐसा कहकर स्वच्छन्द सेवन करता है। व्यापार में रुपयों का मिलान न मिले तो सब हिसाब जाँचता है। वहाँ ज्ञान और वीर्य को रोकता है, समाधान नहीं रखता और मोक्ष को देखादेखी से उत्कृष्ट कहता है। क्रमबद्धपर्याय का न्याय बहुत ऊँचा है, ऐसा मात्र देखादेखी से अज्ञानी बोलता है, परन्तु उसका यथार्थस्वरूप नहीं पहिचानता। क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। जिसे हितरूप जानता है, उसका उद्यम वह न करे, यह असम्भवित है।

भगवान ने ज्ञान में देखा होगा, वैसा होगा और तब भव घटेंगे—ऐसा अज्ञानी कहता है परन्तु भगवान का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दशा होती है। केवलज्ञान का जैसा स्वरूप है, वैसा पहिचानकर स्वभाव का पुरुषार्थ न करे, ऐसा बनता नहीं और स्वभाव जाने, उसे भव होते नहीं।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, मोक्षमार्गप्रकाशक (1951-52) भाग 2, पृष्ठ 490-491

(62) वहाँ अज्ञानी भड़कता है

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आ जाता है परन्तु यह क्रमबद्धपर्याय की बात बाहर आने पर अज्ञानी भड़कते हैं। वस्तु के केवलज्ञान को निश्चित कर अथवा क्रमबद्ध को निश्चित कर अथवा शुद्ध आत्मा आनन्द से भरपूर है, उसकी उपादेयबुद्धि कर, यह सब एक ही बात है। भाषा बदले, वहाँ अज्ञानी भड़कता है।

अपने शुद्ध आत्मा की उपादेयबुद्धि करके उसमें भावना कर। मैं आनन्दस्वभाव से भरपूर हूँ। शुद्ध आत्मा आदरणीय है–ऐसा कहो, सम्यग्दर्शन का विषय कहो, द्रव्यदृष्टि कहो, वह सब एक ही है। — **सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, बृहद्द्रव्य संग्रह (1951-52) भाग 2, पृष्ठ 195**

(63) इसमें संशय कैसा ?

प्रश्न – क्या श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान प्रकट करने की उतावली नहीं होती ?

उत्तर – श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान होने ही वाला है, अत: उतावली—अधैर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान प्रगट होने के काल में प्रगट होगा ही, इसलिए उतावली नहीं होती। क्रमबद्ध में अकर्तापना होने से वीतरागता है। पूर्ण स्वरूप में दृष्टि है, इसलिए वीतरागता है। जैसे द्वितीया का उदय हुआ है, वह पूर्णचन्द्र बनकर ही रहेगा। इसमें संशय कैसा ? वैसे ही जिसे अन्तर आत्मभान हुआ है, उसके केवलज्ञान होना ही है, केवलज्ञान दौड़ा आ रहा है; वह तो अल्प काल में प्रकट होगा ही, इसमें संशय या सन्देह श्रुतज्ञानी को नहीं होता।

— **आत्मधर्म, अंक 426, अप्रेल 1979, पृष्ठ 26, ज्ञानगोष्ठी, बोल 588**

(64) पहले निरपेक्ष स्वभाव को दृष्टि में स्वीकार किये बिना...

प्रश्न : व्यवहारनय को हेय कहा है तो क्या सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन को भिन्न कहनेरूप जो व्यवहार है, वह भी हेय है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप जानना, वह व्यवहार है। व्यवहार को जानना, वह मिथ्यात्व नहीं, क्योंकि वस्तु के स्वभाव में ही कथंचित् गुणभेद है। परन्तु उस भेद को जानने से छद्मस्थ को विकल्प आता है, उस भेद के विकल्प का आश्रय करना,

वह मिथ्यात्व है। गुणभेदरूप व्यवहार तो वस्तु में ही है, परन्तु पर का करने की ताकत तो किसी वस्तु में नहीं है। पुण्य-पाप के भावों को जानना, वह व्यवहारनय है, परन्तु उन पुण्य-पाप या व्यवहारनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन ऐसी चीज़ है कि वाणी-विकल्प से वह पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने से भी वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि वह भी परवस्तु है। असंगी चेतनस्वभाव की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जड़ की अवस्था जड़ से स्वतन्त्र जैसे होनेवाली हो, वैसे ही होती है—ऐसी मान्यता, वह नियतवाद नहीं परन्तु सम्यक्श्रद्धा का कारण है, क्योंकि वैसा वस्तुस्वभाव है। जैसे जड़ की अवस्था स्वतन्त्र क्रमबद्ध है, वैसे चैतन्य की अवस्था भी क्रमबद्ध स्वयं से होती है। आत्मा में जिस समय में जो पर्याय होनी हो, वही क्रमबद्ध होनी है, इस श्रद्धा में अनन्त पुरुषार्थ है। जिसने एक समय की पर्याय का स्वीकार किया, उसे केवलज्ञान और आत्मा की प्रतीति हो गयी। जड़ की अवस्था उसके क्रमबद्ध नियम प्रमाण होती है, ऐसी श्रद्धा होने पर जड़ का तो ज्ञाता होकर उसके प्रति उदासीन हुआ। अब अपने में जो क्रमबद्ध अवस्था होती है, उसका आधार आत्मद्रव्य है—ऐसी द्रव्यदृष्टि हुई, अर्थात् पर्यायदृष्टि और राग की दृष्टि टल गयी। इस प्रकार वस्तुस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती। क्रमबद्धपर्याय कहो या स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव कहो, उसकी प्रतीति में ही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

जहाँ सभी द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध अपने-अपने से होती है, वहाँ 'निमित्त होवे तो हो' यह बात ही कहाँ रही ? पहले स्वतन्त्र स्वभाव का ज्ञान करे और प्रत्येक पर्याय को भी स्वतन्त्र स्वीकार करे, पश्चात् ही निमित्त का ज्ञान सच्चा होता है। जब तक स्वतन्त्र द्रव्य-गुण-पर्याय को न समझे, तब तक जीव को निमित्त का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

निमित्त है, वह तो सम्यग्ज्ञान का विषय है। सम्यग्ज्ञान स्व और पर दोनों को जानता है। पहले निरपेक्ष स्वभाव को दृष्टि में स्वीकार किये बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और ज्ञान सच्चा न हो तब तक वह स्व-पर को यथार्थ नहीं जानता। दूसरी चीज़ है, परन्तु उससे इस जीव में कुछ भी विकृति नहीं होती, अपने पुरुषार्थ से ही होती है।

— आत्मधर्म, अंक 41, मार्च 1947, पृष्ठ 98

(7)
क्रमबद्ध अनुसार रुचि या रुचि अनुसार क्रमबद्ध ?

(65) जिस ओर की रुचि, उस ओर की क्रमबद्धदशा

आत्मा सामान्य-विशेष स्वरूप वस्तु है। अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप, वह सामान्य और उसमें से समय-समय में जो पर्याय होती है, वह विशेष है। सामान्य स्वयं कायम रहकर विशेषरूप से परिणमता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय-समय में विशेष में शुद्धता होती है और यदि उस विशेष पर्याय में 'रागादि, देहादि वह मैं' ऐसी विपरीत रुचि करे तो विशेष में अशुद्धता होती है। इस प्रकार स्वरूप की रुचि करे तो शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और यदि विकार की, पर की रुचि होवे तो अशुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु क्रमबद्ध का नियम ऐसा है कि जिस ओर की रुचि करे, उस ओर की क्रमबद्ध दशा होती है। जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है, उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है, इसलिए सर्वज्ञ भगवान के जाने अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है, उसमें अन्तर पड़ता ही नहीं, इतना निर्णय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। पर्याय का क्रम बदलना नहीं परन्तु रुचि स्वसन्मुख करनी है।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946 पृष्ठ 79 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321-323)

(66) नियतवाद नहीं, किन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद

प्रश्न : सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, तब आत्मा की रुचि होगी न ?

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान सब जानते हैं, ऐसा निर्णय किसने किया ? जिसने सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान सामर्थ्य को अपनी पर्याय में निर्णीत किया, उसकी पर्याय संसार से और राग से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव-सन्मुख ढली है, तब ही उसने सर्वज्ञ का निर्णय किया है, जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव सन्मुख झुकी है, उसे आत्मा की ही रुचि है। 'अहो!

केवली भगवान तीन काल-तीन लोक के जाननेवाले ही हैं, वे अपने ज्ञान से सब जानते हैं, परन्तु किसी का कुछ करते नहीं'—ऐसी जिसने यथार्थरूप से कर्तृत्वपने की बुद्धि टल गयी—अर्थात् कि अभिप्राय अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हुआ है। ऐसा स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा, वह नियतवाद नहीं परन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946 पृष्ठ 80 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321-323)

(67) स्वकाल में प्रगट होती है

अनन्त गुण आत्मा में एकमेकरूप है। उस पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा उसका विकास होता है, पर के कार्य का वह-वह पदार्थ कर्ता है। पर का कर्ता, हर्ता या भोक्ता कोई जीव नहीं है और अजीव, जीव के कार्य का कर्ता नहीं है। कोई किसी का निमित्तकर्ता नहीं हो सकता। स्वतन्त्र ज्ञातास्वभाव बतानेवाली क्रमबद्धपर्याय की स्वतन्त्रता का अधिकार चलता है। प्रत्येक द्रव्य स्वकाल में अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वयं से उपजता है, बदलता है और टिकता है। कोई किसी का कर्ता नहीं, कारण नहीं, आधार नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव को ज्ञानस्वभाव रुचता ही नहीं, इसलिए मैं पर के काम कर सकूँ और पर मेरे कार्य कर सके, ऐसा मानता है। अपने को भूलकर पर को अपना मानता है। द्रव्य गुण अक्रम से है, क्रम से नहीं और प्रगट होती पर्यायें अपने-अपने काल में क्रमसर है, अक्रम नहीं।

द्रव्य में से द्रव्य के आश्रय से पर्यायें प्रत्येक समय में नयी-नयी उपजती है और पूर्व पर्यायें बदलती हैं। एक-एक द्रव्य में प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, इसलिए एक समय में अनन्त गुण की अनन्त अवस्था उत्पाद-व्ययरूप होकर स्वद्रव्य में मिलती है। परद्रव्य के साथ किसी का एक अंश भी नहीं मिलता, ऐसी मर्यादा है। जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय किसी से किये हुए नहीं हैं, उसी प्रकार द्रव्य के अनन्त गुणों की क्रम-क्रम से होती पर्यायें भी किसी के द्वारा नहीं, किसी के आधार से नहीं, स्वयं से ही है, स्वकाल में प्रगट होती है। कोई पर्याय जल्दी-देरी से अथवा आड़ी-टेड़ी हो, ऐसा नहीं है। ऐसी सच्ची वस्तुस्थिति का निर्णय करे तो पर्याय के भेद के आश्रय से लाभ मानने की श्रद्धा छूट जाए,

ग्रहण-त्याग की कर्ताबुद्धि छूटकर, अंश में पूरा माननेरूप पर्यायबुद्धि छूटकर मैं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ, उसमें एकत्वबुद्धि हो और मिथ्या अहंकार जाए।

— आत्मधर्म, अंक 226, अगस्त 1962, पृष्ठ 5, (समयसार गाथा 308-311)

(67) जहाँ रुचि वहाँ जोर

'निमित्त से और व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न!'—ऐसा अज्ञानी जोर देता है; किन्तु भाई! तेरा जोर उल्टा है; तू कर्म की ओर जोर देता है किन्तु 'आत्मा अकर्ता है-ज्ञान ही है'—इस प्रकार ज्ञायक पर जोर क्यों नहीं देता? जिसे ज्ञायक की रुचि नहीं है और राग की रुचि है वही कर्म के कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाला काल के प्रवाह की ओर नहीं देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर देखता है; क्योंकि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय कहीं काल के कारण नहीं होती। कालद्रव्य तो परिणमन में सर्व द्रव्यों को एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु स्कन्ध में जुडे, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमें से पृथक् होता है, एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार जीव-अजीव द्रव्यों में अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से क्रमबद्ध परिणाम होते हैं। इसलिए, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से बहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 121

(8)
क्रमबद्धपर्याय : द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि

(69) क्रमबद्ध के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ

यह (श्री समयसार गाथा 308) बहुत सरस गाथा है। यह गाथा मोक्ष अधिकार की चूलिका है। यहाँ आचार्यदेव आत्मा का अकर्तापना बतलाते हैं। अकर्तापना अर्थात् कि ज्ञायकस्वभाव की सिद्धि क्रमबद्ध द्वारा की है। एक के बाद एक हो और जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही हो, इसका नाम क्रमबद्ध है। प्रत्येक द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही होती है अर्थात् उसे अन्य द्रव्य तो करता नहीं, परन्तु उस पर्याय को वह द्रव्य भी आगे-पीछे कर सके—फेरफार कर सके, ऐसा भी नहीं है। क्रमबद्ध तो महासिद्धान्त है। क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय करने जाए, वहाँ दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाती है और तब ही क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय नहीं होता। अकर्तास्वभाव की दृष्टि करने से क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है। इसलिए क्रमबद्ध के निर्णय में पुरुषार्थ का निषेध नहीं हो जाता, परन्तु क्रमबद्ध के निर्णय में द्रव्यस्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ है। अकर्तापना, यह नास्ति का कथन है। क्रमबद्धपर्याय द्वारा ज्ञायकस्वभाव की यहाँ सिद्धि की गयी है। — द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल 130

(70) ऐसा सच्चा निर्णय आता है

मुख्य बात तो यह है कि भगवान आत्मा त्रिकाली वस्तुरूप से तो पर्याय से रहित है, तथापि पर्यायार्थिकनय से उसका जो परिणमन है, वह क्रमसर होता है, आगे-पीछे नहीं होती; तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ? कि क्रमसर होगा, ऐसा निर्णय कब होता है ? पर्याय में रहकर पर्याय का निर्णय नहीं होता, ज्ञायकस्वभाव के लक्ष्य से क्रमबद्ध का निर्णय होता है और वही पुरुषार्थ है। जो पर्याय होनेवाली होगी, वह होगी, इसका निर्णय किसने किया ? कि त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का जिसने निर्णय किया है, उसे 'जो होनेवाला होगा, वह होगा' ऐसा सच्चा निर्णय आता है। — द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल 283

(71) ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद-व्यय का ज्ञान सच्चा

वस्तु एक समय में पूरी है; उसके परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना निर्णीत करने पर, द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि जाती है। वर्तमान परिणाम से उत्पाद है, पूर्व परिणाम से व्यय है और ध्रुव तो धारावाही प्रवाह अपेक्षा से है। अर्थात् धारावाही प्रवाह की दृष्टि में ही ध्रुवस्वभाव के ऊपर दृष्टि गयी, और तब ही परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रुव निश्चित हुए।

इसमें पुरुषार्थ कहाँ काम करता है ? कि ऐसा निर्णय किया, वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही काम करने लगा और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम उसके स्वकाल में होते हैं, वे तो हुआ ही करते हैं, परन्तु ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि ध्रुव के ऊपर पड़ी है। द्रव्यदृष्टि हुए बिना यह बात जँचे, ऐसी नहीं है।

इस ज्ञेय अधिकार में अकेले परप्रकाशक की बात नहीं है, परन्तु स्वसन्मुख स्वप्रकाशकसहित परप्रकाशक की बात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता से स्वप्रकाशक हुआ, वहाँ पूरे जगत के सब पदार्थ भी ऐसे ही हैं, ऐसा परप्रकाशकपना भी ज्ञान में खिल ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव कब निर्णीत हो ? ज्ञायक चैतन्यद्रव्य की यथार्थ रुचि तथा उस ओर झुकाव होने पर सब निर्णीत हो जाता है। जैसे स्व के ज्ञानसहित ही पर का सच्चा ज्ञान होता है; उसी प्रकार ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद-व्यय का सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कहीं पर के ऊपर तो देखना नहीं है और अपनी अकेली पर्याय के सन्मुख भी देखना नहीं है; विकल्प टालकर निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्ष्य से निर्विकल्पता नहीं होती परन्तु ध्रुव के लक्ष्य से निर्विकल्पता हो जाती है। अर्थात् पर्याय के उत्पाद-व्यय के सामने भी देखना नहीं है। पर्यायों के प्रवाह क्रम में द्रव्य वर्त रहा है, किस पर्याय के समय पूरा द्रव्य नहीं है ? जब देखो तब द्रव्य पूरा-पूरा वर्तमान में है, ऐसे द्रव्य की सन्मुखता होने पर प्रवाहक्रम निश्चित होता है। पश्चात् उस प्रवाह का क्रम बदलने की बुद्धि नहीं रहती परन्तु ज्ञातापने का ही अभिप्राय रहता है। वहाँ वह प्रवाह क्रम ऐसा का ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है। उस द्रव्यदृष्टि में क्रम-क्रम

से वीतरागी परिणामों का ही प्रवाह ऊगा करेगा। ऐसा इस 99वीं गाथा (प्रवचनसार) का सार है। — आत्मधर्म, अंक 87, जनवरी 1951, पृष्ठ 68, (प्रवचनसार, गाथा 99)

(72) उसमें अनन्त पराक्रम है

द्रव्य में अनन्त गुण हैं और अनन्त पर्यायें हैं। वे सभी पर्यायें समय-समय में क्रमबद्ध होती है, ऐसे द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा, वह पुरुषार्थ द्वारा होती है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होने पर पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख झुका, पराश्रय टल गया, कर्म का, काल का, गुरु का, देव का और पुस्तक का आश्रय दृष्टि में से छूट गया और मेरी अवस्था मुझमें मेरे कारण से होती है, ऐसी प्रतीति हुई। आत्मा में पर्याय एक के बाद एक अपने में से होती है, ऐसी प्रतीति होने पर परद्रव्य का आश्रय टला, यह पुरुषार्थ हुआ, इस पुरुषार्थ द्वारा जो स्वभाव प्रगट हुआ, वह स्वभाव, इत्यादि पाँचों समवाय एक पुरुषार्थ करने पर आ जाते हैं।

अपने द्रव्य में सभी क्रमसर और क्रमवार अवस्था होती है, आड़ी-टेढ़ी नहीं होती, ऐसी प्रतीति हुई, इसलिए दुश्मन का और मित्र का पराश्रय गया। वस्तु के ऊपर दृष्टि जाने से अनन्त पराक्रम खिला। जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है, वह वस्तु में और पर्याय में भेद नहीं देखता, वस्तु और वस्तु की पर्याय के बीच भेद का विकल्प नहीं रहता। वस्तु के ऊपर दृष्टि जाने से मुक्ति कब होगी, ऐसा आकुलता और खेद का विकल्प टल जाता है, विकल्प जाने के पश्चात् द्रव्य और पर्याय में भेद नहीं देखता; उसमें ज्ञातादृष्टा का अनन्त पराक्रम आया। उस ज्ञातादृष्टा के जोर में स्वरूप में स्थिर होकर मुक्ति की पर्याय लेगा।

मोक्ष की पर्याय और मोक्ष के मार्ग में पराश्रयपना नहीं है, मुझमें जो अवस्था होती है, वह क्रमसर होती है; इस प्रकार पराश्रय दृष्टि टलकर स्वाश्रय दृष्टि हुई, वह अनन्त पुरुषार्थ हुआ। वस्तु पर दृष्टि जाने से मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्याय में भेद और विकल्प नहीं रहता, उसमें अनन्त पराक्रम है।

भगवान आत्मा में अनन्त गुण भरे हैं, उनमे प्रत्येक समय में अवस्था क्रमसर, क्रमवार, क्रमबद्ध होती है, वह अवस्था शरीर या पर इत्यादि कोई नहीं करता, ऐसी स्वाश्रय दृष्टि हुई और पराधीन दृष्टि टल गयी, यह अनन्त पुरुषार्थ हुआ। द्रव्य पर दृष्टि जाने से आकुलता का विकल्प टूट जाता है और ज्ञातादृष्टा की तीव्रता द्वारा स्थिर होकर मोक्षपर्याय

को पाता है। द्रव्य पर दृष्टि है, इसलिए उसके जोर में मुक्ति की पर्याय शीघ्र हो जाती है, आकुलता का विकल्प टूटा, इसलिए मुक्ति की पर्याय शीघ्र हो जाती है, एक-दो भव में मुक्ति लेनेवाला है।

अज्ञानी को विपरीत दृष्टि है, वहाँ भी उसकी पर्याय क्रमसर होती है। ऐसा समझ में आये, उसे विपरीतता नहीं रहती। सच्ची समझ हुई, वहाँ उसने ऐसा किया और इसने ऐसा किया—ऐसे पर के दोष निकालना मिट गया। वस्तु के सामने देखे तो वस्तु में राग-द्वेष नहीं है परन्तु जो नया-नया राग-द्वेष होता है, वह अपने उल्टे पुरुषार्थ द्वारा होता है, उसमें दूसरे का दोष नहीं है। जीव की क्रमबद्धपर्याय का भान हुआ, इसलिए जड़ की क्रमबद्धपर्याय का भी भान होता है।

— आत्मधर्म, अंक 13, अक्टूबर 1944, पृष्ठ 6 (समयसार गाथा 308-311)

(73) शक्तियों की पहिचान का फल

पर्याय में क्रमवर्तीपना तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को है, परन्तु ज्ञानी को स्वभाव सन्मुखता के कारण क्रमवर्तीपर्यायें निर्मल होती हैं और अज्ञानी को परसन्मुखता के कारण क्रमवर्तीपर्यायें मलिन होती हैं। विभावरूप परिणमन, वह शक्ति का वास्तविक परिणमन नहीं है। शक्ति में अभेद होकर निर्मल स्वभावरूप परिणमन हो, वही उसका वास्तविक परिणमन है। अक्रमरूप गुण और क्रमरूप पर्यायें, ऐसे गुण-पर्यायों के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का आश्रय करके जीव परिणमा, तब उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व इत्यादि शक्तियों का यथार्थ भान हुआ और तब ही शक्तियों का वास्तविक परिणमन प्रगट हुआ। इस प्रकार साधकदशा की यह बात है। शक्ति तो त्रिकाल है, परन्तु पहले अभानदशा में उसका विभाव परिणमन था और भान होने पर उसका स्वभाव परिणमन शुरु हुआ। इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से निर्मल परिणमन होता है, वह इन शक्तियों की पहिचान का फल है।

— आत्मधर्म, अंक 139, अप्रेल-मई 1955, पृष्ठ 186 (उत्पादव्ययध्रुत्वत्वशक्ति)

(74)

यहाँ तो शक्ति का वर्णन है तो शक्ति का परिणमन होता है, वह क्रमसर शुद्ध होता है। क्रमसर क्रमवर्ती परन्तु शुद्ध होता है, अशुद्ध नहीं, अशुद्ध तो ज्ञेय में-परज्ञेय में जाता

है। आहाहा! शुद्धता की पर्याय है, वह भी परिपूर्ण है, त्यागोपादानशून्यत्व से परिपूर्ण कही गयी है। क्यों? कि भले एक समय की शुद्ध सम्यग्दर्शन आदि की पर्याय हो, वह पर्याय पूरे द्रव्य को सिद्ध करती है, साबित करती है।

मुमुक्षु : विकार तो अभी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ विकार लेना नहीं है। वहाँ तो विकार भी है। जहाँ अंश लिया है, अंश लिया है कि राग का अंश भी अपना है, यदि उसे निकाल डालो तो त्रिकाल पर्याय का समूह, (वह द्रव्य), यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ यह नहीं लेना। यहाँ तो शुद्धता लेनी है। वह शुद्धपर्याय भले अल्प हुई, परन्तु परिपूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है, साबित करती है। वह अंश भी अंशी पूर्ण है, उसे सिद्ध करता है। यदि वह अंश निकाल डालो तो पूर्ण द्रव्य सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? बात सूक्ष्म, बापू! यह तो तत्त्वज्ञान है।

मुमुक्षु : बराबर समझ में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आया? वहाँ तो ऐसा लिया है 'आप्तमीमांसा में (लिया है) कि चाहे तो अशुद्धपर्याय हो या शुद्ध हो, वह पर्याय एक अंश पूरे द्रव्य को सिद्ध करती है। क्योंकि नय-उपनय का समूह, वह द्रव्य है। श्लोक है। समझ में आया? नय-उपनय का समूह, विषयसमूह पूरा द्रव्य है। अत: वहाँ अशुद्धनय भी उसमें लिया है। यहाँ तो वह नहीं लेना। यहाँ तो अशुद्ध जो राग होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय में उस राग का पर्याय में ज्ञान होता है। वह ज्ञान भी राग है तो होता है, ऐसा नहीं है। राग है तो ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। उस पर्याय में क्रमवर्ती में स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से होती है। वहाँ राग परज्ञेय है, ऐसा व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! निश्चयपर्याय अपनी है, बस इतना। राग को जानता है, यह भी नहीं। आहाहा!

— समयसार सिद्धि, भाग 12, पृष्ठ 206

(75) पर्यायवान की दृष्टि बिना क्रमबद्ध का निर्णय नहीं

प्रश्न : स्वभाव को पूरा-पूरा देखना, ऐसा कहते हो तो क्रमबद्धपर्याय कहाँ रही?

समाधान : एक के बाद एक जो क्रमबद्धपर्याय होती है, उसका आधार अक्रम द्रव्य है। पर्यायें क्रमसर हो रही हैं, उस क्रम को देखता नहीं। और सब पर्यायें एक साथ

होती नहीं परन्तु पर्यायें क्रमसर होती हैं, ऐसी प्रतीति तो अक्रम द्रव्य की श्रद्धा और ज्ञान से होती है। जिस पर्याय ने प्रतीति में निर्णय किया कि क्रम का आधार तो द्रव्य है, तो जब तक वह पर्याय द्रव्यसन्मुख पूरी-पूरी न ढले, तब तक वह पर्याय पूरी नहीं होती। पर्याय पर्यायवान में से आती है। शक्ति की व्यक्ति शक्तिवान में से होती है। क्रमबद्ध का उपदेश जो कहा है और यहाँ जो कहा है, वह एक ही है। पर्यायें क्रमसर होनेवाली हैं, यह बात बराबर है परन्तु पर्याय की सन्मुखता किसकी ओर जाती है ? चैतन्यवस्तु अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसकी अनन्त पर्यायें हैं। एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें हैं। ज्ञानी की पर्याय पर्यायवान में अभेद है। गुण-गुणी अभेद है। पर्यायवान के ऊपर अथवा गुणी के ऊपर दृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता। यह दृष्टि बिना प्रतीति नहीं हो सकती, टिक नहीं सकती, बढ़ नहीं सकती। इसलिए स्वभाव की प्रतीति करके स्वभाव में स्थिर होने का कहो या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, वह एक ही है।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, समयसार 9, (1950-1052) प्रसाद नं० 178, गाथा 172, पृष्ठ 144

(9)
क्रमबद्धपर्याय : ज्ञातापना

(76) बहुम सूक्ष्म बात

ज्ञान पर्याय जो (होती) है, वह भी क्रमबद्ध ज्ञान की पर्याय है और क्रमबद्ध में राग जिस प्रकार का आया, वह है, इसलिए यहाँ जानता है—(ऐसा) नहीं है। उसके ज्ञान के क्रम में स्व का और पर का ज्ञान (करनेवाली) पर्याय (उसके) क्रम में आयी, इसलिए उसमें वह ज्ञात हुआ है। बहुत सूक्ष्म, बापू! यह तुक्हारे धन्धे के थोथा में कहीं हाथ आवे, ऐसा नहीं है।

— प्रवचन सुधा, भाग 2, पृष्ठ 235

(77) सर्वज्ञ ने उसके अनन्त भव देखे ही नहीं

द्वादशानुप्रेक्षा की 321-322 गाथा में कार्तिकेयस्वामी ने महासिद्धान्त बताया है। सम्यग्दृष्टि को वस्तुस्वरूप का कैसा निश्चय होता है, वह यहाँ बताया है, इसमें गहरा रहस्य है। चेतन या जड़ जिस पदार्थ की जिस समय में जैसी पर्याय होने का स्वभाव है, वैसी ही पर्याय होती है, उसे जानने का आत्मा का स्वभाव है। क्रमबद्धपर्यायें तो ज्ञेय हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान है, उस ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना ज्ञेय का अर्थात् क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन? सर्वज्ञता के निर्णयपूर्वक जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, उसके अनन्त भव सर्वज्ञ ने देखे ही नहीं। वास्तव में जिसने क्रमबद्धपर्याय का और सर्वज्ञ का निर्णय किया है, उसने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है, उसे वर्तमान में ही परित संसारपना हो गया है और सर्वज्ञदेव ने भी ऐसा ही देखा है। जिसे अनन्त काल के पश्चात् संसारपरित होना केवली भगवान ने देखा, उसे वर्तमान में परित संसार हो जाए, ऐसा कभी नहीं होता, परन्तु केवलज्ञान का ऐसा निर्णय जिसके ज्ञान में हुआ, उसके अनन्त भव केवली भगवान ने देखे हों—ऐसा भी नहीं होता। मुझे अनन्त भव करना पड़ेंगे—ऐसे भयवाले जीव ने वास्तव में सर्वज्ञ को माना ही नहीं है। सर्वज्ञ को पहिचाने और अनन्त भव का भय न मिटे—ऐसा होता ही नहीं। देखो तो सही, वस्तुस्थिति का सुमेल! अन्तर में 'ज्ञान' का निर्णय करना, वह अपूर्व चीज़ है, परन्तु बाह्य दृष्टिवाले जीवों को उसकी कीमत भासित

नहीं होती। — आत्मधर्म, अंक 119, सितम्बर 1953, पृष्ठ 233-234

(78) आहाहा! गजब काम किया है

क्रमबद्ध का अर्थ भी यह है। मेरी पर्याय क्रमसर ही होगी। क्रमसर होगी उसमें... वहाँ (समयसार गाथा 308-311 में) ऊपर (उपोद्घात में) लिया है न? अकर्तापना सिद्ध करते हैं। आहाहा! गजब काम किया है! क्रमसर पर्याय होती है, वहाँ अकर्तापना सिद्ध होता है। अकर्तापना सिद्ध होता है, वहाँ ज्ञातापना सिद्ध रहता है। आहाहा! ज्ञातापना सिद्ध होता है, वहाँ पूर्ण ज्ञातापना ही रहता है। चाहे तो उदय आओ और जाओ। आहाहा!

उसका जो ज्ञातादृष्टा (रहता है)। क्रमबद्ध के निर्णयवाला ज्ञातादृष्टा रहता है। आहाहा! क्रमबद्ध का निर्णय नहीं, वह कर्ता होकर राग में दब जाता है। आहाहा! दब जाता है। आहाहा! — अमृत प्रवचन, भाग 1, बोल 17, पृष्ठ 67-68

(79) द्रव्य तो परिणाम को भी करता नहीं

उस काल में वह होनेवाली पर्याय हो, उसके क्रमबद्ध में होती है, योग्यता से होती है। वह किसे है? कि जिसने ज्ञायक को दृष्टि में लिया है, उसके लिये यह है। आहाहा!

क्रमबद्ध कहो, योग्यता से होता है, उस समय में उस योग्यता से। आहाहा! यह किसके लिये? जिसे ज्ञायक के अनन्त गुण भाव जो कर्तृत्व आदि पड़े हैं, ऐसी जो योग्यता के काल में उसके परिणाम। आहाहा! उसे ज्ञान जानता है। बहुत सूक्ष्म, भाई! द्रव्य तो परिणाम को भी करता नहीं। आहाहा! — अमृत प्रवचन, भाग 5, बोल 346, पृष्ठ 155

(80) जब भी स्वीकार करो, मार्ग तो यह है

पहली बात यह कि यदि क्रमबद्ध की बात न जँचे तो उसका अकर्तापना नहीं होता। अकर्तापना नहीं होता तो ज्ञातापना का वस्तुस्वभाव है, (उसकी दृष्टि नहीं होती)। दृष्टि का विषय वह ज्ञाता है। इसका अर्थ ही (यह) हुआ कि क्रमबद्ध है, उसे वह जानता है। (उसका) कर्ता नहीं है। यह बात तब (एक विद्वान को) नहीं जँचती थी। परन्तु अब स्वीकार किया है। भाई! मार्ग तो यह है। जब भी स्वीकार करो परन्तु मार्ग यह है। भले कठोर लगे। आहाहा! — अमृत प्रवचन, भाग 1, बोल 10, पृष्ठ 32

(81) तात्पर्य वीतरागता है

ज्ञानपर्याय क्रमबद्ध होती है, ऐसा जानने का तात्पर्य वीतरागता है। भगवान ने देखा है, वैसा होगा, इसका तात्पर्य भी वीतरागता है। जिस काल में जो होता है, उस काल में वही उसका प्राप्य कार्य है। परमाणु में जिस काल में जो कार्य होता है, वही उसका प्राप्य कार्य है और उस सम्बन्धी का उस समय में ज्ञान होता है, वह ज्ञान का प्राप्य कार्य है। ऐसा जानने से ज्ञाता पर दृष्टि जाती है, अकर्ता होता है और वीतरागता प्रगट होती है।—यह उसका तात्पर्य है।

— आत्मधर्म, अंक 404, जून 1977, पृष्ठ 21

(82) उसकी यहाँ मुख्यता है

मुमुक्षु : जीव के परिणाम तो समुच्चय लेना है न ? जीव के कौन से परिणाम लेना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : समस्त। निर्मल। समस्त अनन्त गुणों के परिणाम, अनन्त गुण के परिणाम अक्रम से (होते हैं)।

मुमुक्षु : शुद्ध और अशुद्ध दोनों परिणाम ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध-अशुद्ध दोनों। परन्तु उस अशुद्ध का जाननेवाला है, साथ ही उसकी मुख्यता है। अशुद्धता है अवश्य। क्रमबद्ध में अशुद्धता भी आती है, अशुद्धता नहीं आती-ऐसा नहीं है। परन्तु उसे भी जाननेवाला 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' जो जाननेवाला जीव है। जीव जाननेवाला है, उसकी यहाँ प्रधानता है। आहाहा!

— समयसार सिद्धि, भाग 9, पृष्ठ 329

(83) 'ज्ञायकपना' वही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव-भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्मा का परम भाव है, वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है। द्रव्य और गुण, वह त्रिकाल सत् और पर्याय, वह एक एक समय का सत्, उस सत् का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी पर का उत्पादक, नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नहीं है। यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायकभावपने की प्रतीति नहीं रहती। इसलिए जो ज्ञानस्वभाव को नहीं

मानता और पर में फेरफार करना मानता है, उसे ज्ञायकत्व नहीं रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 8

(84) ज्ञायक भगवान जागृत हुआ... वह क्या करता है ?

इस ज्ञायक की प्रतीति की वहाँ उस ज्ञायकभूमि में ही पर्याय उछलती है, ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ पर्याय उछलती है-अर्थात् निर्मल-निर्मलरूप से बढ़ती ही जाती है। अथवा द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय में कूदता है,-उस पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है, किन्तु कहीं बाह्य में नहीं कूदता। पहले ज्ञायक के भान बिना मिथ्यात्वदशा में सोता था, उसके बदले अब स्वसन्मुख होकर, ज्ञायक-भगवान जागृत हुआ वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय में उछलने लगा; अब बढ़ती हुई निर्मल पर्याय में कूदते-कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 196

(85) इस समय पर्याय का पर में 'अकर्तृत्व' सिद्ध करने की मुख्यता है, पर में निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है

यहाँ, पर्याय का पर में अकर्तृत्व बतलाना है, इसलिए 'द्रव्य उत्पन्न होता है'—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्याय में वह तन्मय है—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों की अभेदता बतलाकर पर का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनों धर्म ही सिद्ध करना हों, तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्म से ही है-द्रव्य के कारण नहीं है। क्योंकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनों धर्मों को निरपेक्ष न मानकर, सामान्य के कारण विशेष मानें तो विशेषधर्म की हानि होती है; इसलिए पर्याय भी अपने से सत् है।—पर्यायधर्म को निरपेक्ष सिद्ध करना हो, तब इस प्रकार कहा जाता है।

* श्री समन्तभद्रस्वामी 'आप्तमीमांसा' में कहते हैं कि—

(श्लोक : 73) जो धर्म-धर्मी आदि के एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो

धर्म-धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा बिना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य-विशेषपणां न ठरहे।

(श्लोक : 75) धर्म अर धर्मी के अविनाभाव है, सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है; धर्म बिना धर्मी नाहीं। बहुरि धर्म, धर्मी का स्वरूप है, सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नांहीं है, स्वरूप है सो स्वत: सिद्ध है।

* प्रवचनसार की 172 वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के अर्थ में कहा है कि— '×××इस प्रकार आत्मा द्रव्य से न आलिंगत ऐसा शुद्धपर्याय है।'

* फिर 101 वीं गाथा में कहते हैं कि—'अंशी ऐसे द्रव्य के नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अंश-भंग-उत्पाद-ध्रौव्य-स्वरूप-निजधर्मों द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं।' व्यय नष्ट होते हुए भाव के आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भाव के आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भाव के आश्रित है।

* फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि :—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥18॥

उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥19॥

—इसमें कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानादिक की हीनता या अधिकता अपनी पर्याय के कारण ही होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का न तो इन्द्रियों के विषय से हरण होता है, और न तो गुरुओं की निरन्तर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वयं परिणमनशील होने से प्रति समय उसके गुणों की पर्याय बदलती है-मतिज्ञानादिक पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है; इसलिए मतिज्ञानादि का उत्पाद या विनाश पर से भी नहीं है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नहीं है। प्रति समय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है; सामान्य द्रव्य को उसका दाता कहना, वह सापेक्ष है; पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो वह पर्याय स्वयं वैसी परिणमित हुई है। उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्य द्रव्य को

उसका दाता कहना, वह सापेक्ष है; किन्तु द्रव्य-पर्याय की निरपेक्षता के कथन में यह बात नहीं आती। निरपेक्षता के बिना एकान्त सापेक्षता ही मानें तो सामान्य-विशेष दो धर्म ही सिद्ध नहीं हो सकते।

✻ प्रवचनसार की 16 वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धोपयोग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो, उसमें आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है; इसलिए 'स्वयंभू' कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है; इसलिए स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है; उसे बाह्य-सामग्री कुछ भी सहायता नहीं दे सकती। अहो! प्रत्येक पर्याय के छहों कारक स्वतन्त्र हैं।

✻ षट्खण्डागम-सिद्धान्त में भी कहा है कि — 'सर्वत्र अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिए।' वहाँ अन्तरंगकारण कहने से पर्याय की योग्यता बतलाना है। भिन्न-भिन्न कर्मों के स्थितिबन्ध में हीनाधिकता क्यों है ?—ऐसे प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्तकार कहते हैं कि—प्रकृतिविशेष होने से, अर्थात् उस-उस प्रकृति का वैसा ही विशेष स्वभाव होने से, इस प्रकार हीनाधिक स्थितिबन्ध होता है; उसकी योग्यतारूप अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है; बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। (विशेष के लिये देखिये-इसका ही चौथा प्रवचन, नं. 67)

✻ (यहाँ समयसार गाथा 308 से 311 में) कहते हैं कि—अन्य द्रव्य से निरपेक्ष-रूप से, स्वद्रव्य में ही कर्ता-कर्म की सिद्धि है; और इसलिए जीव, पर का अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकार में पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य को अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तन्मयता होने से पर के साथ उसे कर्ताकर्मपना नहीं है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, 'ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है'—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है। ज्ञायक आत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ, उसमें वह तन्मय है, किन्तु रागादि में तन्मय नहीं है; इसलिए वह रागादि का कर्ता नहीं है और कर्मों का निमित्तकर्ता भी नहीं है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 2/77

(86) तीनों अंश सत् हैं

कोई शास्त्र या कोई भी गाथा या शब्द अथवा तो कोई भी अनुयोग की बात करो— इन सबका तात्पर्य वीतरागता है। द्रव्य है, ऐसा कहने पर वह पर से भिन्न है; इसलिए पर के कारण से नहीं है और पर के आश्रय से नहीं है—ऐसा निर्णय होने से, पर की रुचि टलकर ध्रुवबुद्ध होता है। उसमें वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। इसलिए छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ—इन सबमें द्रव्यदृष्टि की ही बात आती है और उसमें ही वीतरागता है। पुद्गल की पर्याय क्रमबद्ध होती है। इसलिए उसके सन्मुख मुझे देखने का रहता नहीं। मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है—ऐसा निर्णय होने पर उसमें द्रव्य का अवलम्बन आता है। द्रव्यदृष्टि कहो, क्रमबद्ध का निर्णय कहो, या सम्यग्दर्शन कहो, वह सब एक ही है। इस प्रकार द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रुव, ऐसे तीनों अंश सत् हैं, उसकी बात हुई।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद-वृहद्द्रव्यसंग्रह (1951-52), भाग 1, पृष्ठ 234

(10)
क्रमबद्धपर्याय : भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण

(87) कर्म

प्रश्न : यदि कर्म, वह परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैन में तो कर्म सिद्धान्त के ढ़ेरों शास्त्र भरे हुए हैं, उसका क्या समझना ?

उत्तर : भाई रे ! वे सब शास्त्र आत्मा को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है, उसे आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम कैसे-कैसे प्रकार के होते हैं, यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है; निमित्त-नैमित्तिक समझ का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन है, परन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा को कर्ताकर्म सम्बन्ध जरा भी नहीं है।

प्रश्न : बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत, निकाचित—ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे हैं ?

उत्तर : अहो ! उसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहिचान करायी है। कर्म के जो दस प्रकार किये हैं, वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार से हो सकता है, यह बताने के लिये कर्म के प्रकार डालकर समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के समय सामने परमाणु उनकी योग्यताप्रमाण स्वयं परिणमते हैं। इसमें तो दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु कर्म आत्मा का कुछ करे, यह बात नहीं की है।

एक कर्म—परमाणु भी द्रव्य है, उसमें अनादि-अनन्त जो पर्याय होनेवाली है, वही समय-समय में क्रमबद्ध होती है।

प्रश्न : कर्म की उदीरणा होती है, ऐसा कहा है न ?

उत्तर : उदीरणा का अर्थ ऐसा नहीं कि बाद में होनेवाली अवस्था को उदीरणा

करके पहले लाया। कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस प्रकार की होनी है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया, यह बताने के लिये उपचार से 'कर्म में उदीरणा हुई', ऐसा कहा है; वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया, परन्तु जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है, उसका ज्ञान कराने के लिये ही 'उदीरणा' कही गयी है।

पुनश्च, 'जीव बहुत पुरुषार्थ करे तो बहुत कर्म खिरते हैं', ऐसा कहा जाता है, वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्म खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया है, परन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये आरोप से ऐसा बोला जाता है कि बहुत काल के कर्म परमाणु अल्प काल में खिरा डाले, इस आरोप कथन में सच्चा वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी, वे कर्म खिर गये। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग नहीं पड़ता। बहुत काल के कर्म क्षण में टाल दिये, इसका अर्थ इतना ही समझना कि जीव ने बहुत पुरुषार्थ अपनी पर्याय में किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी हैं और वे अपने आप क्रमबद्धपर्याय में परिणमते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता बिना स्वयं परिणमते हैं। यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती, मात्र पुरुषार्थ का झुकाव स्वसन्मुख करने के बदले परसन्मुख जीव करता है, वही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा पर्याय का परिणमन स्वभाव-सन्मुख झुके, इसलिए पर्याय क्रम-क्रम से शुद्ध ही होती है।

— आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 86–87 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 321–323)

(88) अनेकान्त / सात तत्त्व

प्रश्न : होनेवाला हो वह होता है – ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया?

उत्तर : होनेवाला हो, वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझसे होता है—ऐसा जानकर, पर से हटकर अपनी ओर झुका, उसने स्वभाव के लक्ष्य से माना है, उसकी मान्यता में अनेकान्तस्वरूप है। 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती'—ऐसा अनेकान्त है; तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से

क्रमबद्ध जो होनेवाली हो, वह होती है, मैं उसकी पर्याय नहीं करता'—ऐसा अनेकान्त है; 'होनेवाला हो, वही होता है'—ऐसा जानकर अपने द्रव्यसन्मुख ढलना चाहिए, परन्तु 'होनेवाला हो, वही होता है'—ऐसा जो अकेला पर से मानता है, परन्तु स्वद्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है, उसकी प्रतीति नहीं करता अर्थात् कि परलक्ष्य छोड़कर स्वलक्ष्य नहीं करता, वह एकान्तवादी है। — आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 90

(89) क्रम–अक्रम–सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—'सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं—ऐसा कहने में तो एकान्त हो जाता है; इसलिए कुछ पर्यायें क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमबद्ध हैं—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिए;'—तो ऐसा कहनेवाले को एकान्त-अनेकान्त की खबर नहीं है। सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही 'हैं' और अक्रमरूप 'नहीं हैं'—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इस प्रकार है कि सर्व गुण, द्रव्य में एक साथ सहभावीरूप से वर्तते हैं; इसलिए उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रमरूप ही है और पर्याय-अपेक्षा से क्रमरूप ही है—इस प्रकार ही कथंचित् क्रमरूप और कथंचित् अक्रमरूप-ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्यायें क्रमरूप और कुछ पर्यायें अक्रमरूप—ऐसा मानना तो अनेकान्त नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय-अपेक्षा से तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है, तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी आ जाती है। गुणों की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायों की अपेक्षा से क्रमपना—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु में (1) स्यात् क्रमपना, (2) स्यात् अक्रमपना, (3) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (4) स्यात् अवक्तव्यपना, (5) स्यात् क्रम-अवक्तव्यपना, (6) स्यात् अक्रम-अवक्तव्यपना, और (7) स्यात् क्रम-अक्रम-अवक्तव्यपना—इस प्रकार क्रम-अक्रम-सम्बन्ध में सप्तभंगी भी उतरती है; किस प्रकार? वह कहा जाता है:—

(1) पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं; इसलिए पर्यायों की अपेक्षा से कहने पर, वस्तु क्रमरूप है।

(2) सर्व गुण एकसाथ सहभावी हैं; इसलिए गुणों की अपेक्षा से कहने पर, वस्तु अक्रमरूप है।

(3) पर्यायें तथा गुण—इन दोनों की अपेक्षा से (एकसाथ) लेकर कहने पर, वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(4) एक साथ दोनों नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

(5) वस्तु में क्रमपना और अक्रमपना दोनों एक साथ होने पर भी, क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(6) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(8) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रम से कहे जा सकते हैं, किन्तु एकसाथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इस प्रकार क्रम-अक्रम-सम्बन्ध में सप्तभंगी समझना चाहिए।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 69

(90)

अज्ञानी विरोध की पुकार करे तो करो, इससे उसकी मान्यता मिथ्या होगी, परन्तु कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदलेगा

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्याय के साथ अनन्य है और पर के साथ अनन्य नहीं है—ऐसा अनेकान्त है; जीव अपनी पर्याय में तन्मय है; इसलिए उसका कर्ता है, और पर की पर्याय में तन्मय नहीं है, इसलिए उसका कर्ता नहीं है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और पर का भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। वस्तु का अनेकान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, पर का तीन काल में नहीं करता। अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता। 'आप्तमीमांसा' गाथा 110 का टीका में कहते हैं कि—''वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप

दिखावै है तो हम कहा करैं ? वादी पुकारै है 'विरुद्ध है रे... विरुद्ध है...' तो पुकारो किछु निरर्थक पुकारने में साध्य है नहीं।''—वस्तु ही स्वयं अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करें ? वादी-अज्ञानी पुकारते हैं कि 'विरुद्ध है रे... विरुद्ध है'—तो भले पुकारो; उनकी निरर्थक पुकार से कुछ साध्य नहीं है। अज्ञानी विरोध की पुकार करें तो उससे कहीं वस्तुस्वरूप बदल नहीं जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और पर के चतुष्टयरूप वह नहीं है;—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। पर के चतुष्टयरूप से आत्मा अभावरूप है, तो पर में वह क्या करेगा ? अज्ञानी चिल्ल-पों मचाते हैं तो भले मचायें; किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में भी अज्ञानी अनेक प्रकार से विरुद्ध मानते हैं; वे विरुद्ध मानते हैं तो भले मानें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है, वही रहेगा; वह नहीं बदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीन काल-तीन लोक को सम्पूर्णतया जानता है और जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है, वह किसी से नहीं बदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, ज्ञायकसन्मुख ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होते हैं, अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, भाग 2, बोल 62

(91) ज्ञायकभाव के क्रमबद्ध परिणमन में सात तत्त्वों की प्रतीति

अपने क्रमबद्ध होनेवाले परिणामों के साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमित हो रहा है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों प्रति समय नयी-नयी पर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं। स्वस्वभावसनमुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभाव के साथ अभेद है और राग से पृथक् है—ऐसे आत्मा की प्रतीति जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायक आत्मा ज्ञायकभावरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ उसी में तन्मय है, और अजीव में तन्मय नहीं है—राग में तन्मय नहीं है; ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में सात तत्त्वों की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन आ जाता है।

(1) ज्ञायकभाव के साथ जीव की अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई, उसमें ज्ञायकस्वभावी जीव की प्रतीति आ गयी।

(2) अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ एकत्व नहीं है; तथा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले अजीव का जीव के साथ एकत्व नहीं है;—इस प्रकार अजीवतत्त्व की श्रद्धा भी आ गयी।

(3-4) अब ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला साधक-जीव उस-उस काल के रागादि को भी जानता है—किन्तु उन रागादि को अपने शुद्ध जीव के साथ तन्मय नहीं जानता, उन्हें आस्रव-बन्ध के साथ तन्मय जानता है—इस प्रकार आस्रव और बन्ध तत्त्वों की श्रद्धा भी आ गयी।

(5-6) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने को श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द आदि के निर्मल परिणाम होते हैं, वह संवर-निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते हैं, और इसलिए संवर-निर्जरा की प्रतीति भी आ गयी।

(7) संवर-निर्जरारूप अंश में शुद्धपर्यायरूप से तो स्वयं परिणमित होता ही है, और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—वह भी प्रतीति में आ गया है, इसलिए मोक्षतत्त्व की श्रद्धा भी आ गयी।

— इस प्रकार ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित जीव को सातों तत्त्वों की प्रतीति आ गयी है। ('क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सातों तत्त्वों की श्रद्धा और जैन-शासन'—इसके लिये देखिये, आत्मधर्म, अंक 119-20 प्रवचन चौथा, नं० 93-95)

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, भाग 2, बोल 64

(92) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनों की अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतन्त्र होती है, उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्यकारणपना नहीं है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति में सातों तत्त्वों की श्रद्धा भी आ जाती है; इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमें आ जाता है। सातों तत्त्वों की श्रद्धा किस प्रकार आती है, वह कहते हैं:—

(1-2) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता-दृष्टा परिणामरूप

से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमें मैं तन्मय हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में जीव-तत्त्व की प्रतीति आ गयी; ज्ञाता-दृष्टारूप से उत्पन्न हुआ मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का—कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया; इसलिए अजीव तत्त्व की प्रतीति हो गयी।

(3-4-5-6) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए हैं, चारित्र में भी अंशत: शुद्धता प्रगट हुई है और अभी साधकदशा होने से अमुक रागादि भी होते हैं। वहाँ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है, उतने ही संवर-निर्जरा हैं, और जितने रागादि होते हैं, उतने ही अंश में आस्रव-बन्ध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनों का ज्ञान रहता है; इसलिए उसे आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरातत्त्वों की प्रतीति आ गयी।

(7) पर का अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होने से क्रमबद्धपर्याय में अंशत: शुद्धता प्रगट हुई है और अभी इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव में पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता-दृष्टापना (केवलज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी—ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमें आ गयी।

इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' भी आ जाता है। — **ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 93**

(93) पाँच समवाय

प्रश्न – भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप तो एक पुरुषार्थ-पुरुषार्थ ही करते हो, तो फिर उसमें दूसरे चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर – जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं दूसरे चारों समवाय होते ही हैं। पाँच समवाय का संक्षिप्त स्वरूप निम्नानुसार समझना।

1- मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है—ऐसी स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि तोड़ी, यह **पुरुषार्थ**।

2- स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करने से जो निर्मल दशा प्रगट हुई, वह दशा स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई है, इसलिए जो शुद्धता प्रगट हुई, वह **स्वभाव**।

3– स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय में प्रगट होनेवाली थी, वही शुद्धपर्याय, उस समय में प्रगट हुई, वह **नियत**। स्वभाव की दृष्टि के जोर से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की ताकत थी, वही पर्याय प्रगट हुई है। बस! स्वभाव में से जिस समय में जो दशा प्रगट हुई, वही पर्याय उसकी नियत है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव को स्वभाव में जो नियत है, वही प्रगट होता है, परन्तु बाहर से नहीं आता।

4– स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई, वही उस समय का **स्वकाल** है। पहले परसन्मुख ढलता था, उसके बदले स्व में ढला, वही स्वकाल है।

5– स्वभावदृष्टि से जब ये चार समवाय प्रगट हुए, तब निमित्तरूप कर्म अपनी स्वयं की योग्यता से स्वयं हट गये हैं, वह **'कर्म'** है।

इस प्रकार पुरुषार्थ, स्वभाव, नियत और काल, ये चार समवाय अस्तिरूप है अर्थात् ये चारों उपादान की पर्याय में लागू पड़ते हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त में लागू पड़ता है। अथवा यदि पाँचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परसन्मुखता से हटकर स्वभाव-सन्मुख ढलने पर पूर्व के चार का अस्तिरूप और कर्म का नास्तिरूप से ऐसे आत्मा में पाँचों समवाय का परिणमन हो गया है, इसलिए स्व के पुरुषार्थ में पाँच समवाय अपनी पर्याय में समा जाते हैं। पहले चार अस्ति से और पाँचवाँ नास्ति से अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तब विकारी भाव के लिये कर्म निमित्त कहा गया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया, तब कर्म का अभाव निमित्त कहा गया है। जीव अपने में पुरुषार्थ द्वारा चार समवाय प्रगट करे और सामने कर्म की दशा बदलने की न हो, ऐसा होता ही नहीं। जीव स्वलक्ष्य करके चार समवायरूप से परिणमा और कर्म की ओर लक्ष्य करके नहीं परिणमा (अर्थात् उदय में नहीं जुड़ा), तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा गया। जीव स्वसन्मुख परिणमा, तब भले कर्म उदय में हो परन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं स्व में मिला और कर्म की ओर नहीं ढला, यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्वसन्मुख दशा में पाँचों समवाय आ जाते हैं, जीव जब

पुरुषार्थ करे, तब उसे पाँच समवाय एक ही समय में होते हैं, स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है। — **आत्मधर्म, अंक 28, फरवरी 1946, पृष्ठ 90-91 (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 321-323)**

(94) अकाल की सही अर्थ

प्रवचनसार में 47 नय (आते हैं)। कालनय से काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में मोक्ष होता है, ऐसा शास्त्र में पाठ है। ऐ... नन्दकिशोरजी! यदि क्रमबद्ध ही हो, जिस काल में जो होना है, वह होगा तो अकाल में मोक्ष कहाँ आया? अकाल में मोक्ष है, ऐसा पाठ है।

इसका उत्तर—कालनय से मोक्ष और अकालनय से मोक्ष, ऐसा ४७ नय में पाठ है। यह तो ४७ शक्तियाँ हैं, प्रवचनसार में ४७ नय हैं। इसका अर्थ तो ऐसा है कि कालनय से तो जिस समय में मोक्ष होना है, उसी समय में मोक्ष होगा परन्तु उस समय अकालनय भी है। अकालनय का अर्थ काल आगे-पीछे होता है, ऐसा अर्थ नहीं है। अकालनय का अर्थ पुरुषार्थ और स्वभाव मिलाकर कहें तो अकाल हुआ।

अकालनय का अर्थ जिस समय में मोक्ष होना है, उसी समय में होगा। अकाल का अर्थ समय आगे-पीछे होगा, ऐसा अर्थ है ही नहीं, तो अकाल का अर्थ क्या? कि अकेला कालनय में अकेला काल लिया था। अकालनय में स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता, काललब्धि आदि पाँच आये। अकेला कालनय नहीं, परन्तु साथ में पुरुषार्थ, स्वभाव है, उसे अकालनय कहते हैं। अकालनय का अर्थ काल आगे-पीछे होता है, ऐसा नहीं है।

— **समयसार सिद्धि भाग 12, पृष्ठ 107**

(95) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमें एकसाथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—'इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है'—किन्तु ऐसा नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्च पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे, उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय

का निर्णय करके, जहाँ पर्याय, स्वसन्मुख हुई, वहाँ एक समय में उस पर्याय में पाँचों समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी भी कहते हैं कि—

टेक डारि एकमैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवे वादी मरै सांची कहवति है ॥४५॥

दुराग्रह को छोड़कर एक में अनेक धर्मों को ढूँढ़ना सम्यग्ज्ञान है। इसलिए संसार में जो कहावत है कि 'खोजी पावे वादी मरे' सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव—यह पाँचों समवाय एक समय की पर्याय में आ जाते हैं। — ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 13

(96) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है ? ज्ञाता का ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया, उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभावसन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(1) स्वभाव की ओर का सम्यक् 'पुरुषार्थ' आया,

(2) जो शुद्धता प्रगट हुई है, वह स्वभाव में से हुई है, इसलिए 'स्वभाव' भी आया,

(3) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी थी, वही प्रगटी है, इसलिए 'नियत' भी आया,

(4) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है, वही उस समय का स्वकाल है, इस प्रकार 'स्वकाल' भी आ गया,

(5) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इस प्रकार 'कर्म' भी अभावरूप निमित्तरूप से आ गया,

— उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 27

(97) अनियत का सही अर्थ

वस्तु की अमुक पर्याय नियत और अमुक अनियत—ऐसा नहीं है। प्रत्येक समय की पर्याय तो नियत है, अनियतपना कहना हो तो इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि नियत स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे पुरुषार्थ इत्यादि धर्म, वे अनियत हैं। 'नियत' के अतिरिक्त दूसरे धर्म, वे 'अनियत' हैं, नियत के अतिरिक्त दूसरे चार समवाय हैं, वे 'नियत' धर्मरूप नहीं है; इसलिए उन्हें 'अनियत' कहा जाता है। वस्तु में तीनों काल की अवस्थाएँ क्रमबद्ध ही होती है। कोई अवस्था उल्टी-सीधी नहीं होती—ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। वस्तुस्वभाव के महासिद्धान्त का रहस्य नहीं समझनेवाले अज्ञानी कहते हैं कि यह एकान्तवाद हो जाता है, परन्तु वास्तव में तो इसमें ही एकान्तवाद है। क्योंकि नियत के साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा इत्यादि धर्म भी रहे हुए ही हैं। नियतस्वभाव के निर्णय के साथ रहे हुए सम्यक् पुरुषार्थ को, सम्यक्श्रद्धा को, सम्यक्ज्ञान को, स्वभाव को इत्यादि को स्वीकार न करे तो ही एकान्तवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में आ जानेवाला ज्ञान का पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय का पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि को स्वीकार किये बिना ही नियत की (-जैसा होना होगा, वैसा होगा) ऐसी बात करता है, इसलिए उसे तो एकान्त नियत कहा जाता है। परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में साथ ही रहे हुए ऐसे सम्यक् पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान को-श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त को सबको स्वीकार करता है, इसलिए वह मिथ्या नियत नहीं, परन्तु सम्यक् नियतवाद है। उसमें ही अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियत को और उसके साथ नियत के अतिरिक्त दूसरे अनियत को (अर्थात् पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्त इत्यादि को) भी ज्ञानी स्वीकार करता है। इसलिए उसे नियत-अनियत का मेल हुआ, यहाँ 'अनियत' का अर्थ 'अक्रमबद्ध' ऐसा नहीं समझना, परन्तु नियत के साथ रहे हुए नियत के अतिरिक्त साथ रहे हुए पुरुषार्थ इत्यादि धर्मों को यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना। इस प्रकार वस्तु में 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय में एक साथ है। अर्थात् अनेकान्तस्वभाव है और उसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ इत्यादि का क्रम भी साथ ही है, इसलिए क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में पुरुषार्थ इत्यादि की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायों से पृथक् नहीं रह जाता। इसलिए नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता परन्तु साथ आ ही जाता है। इसलिए नियतस्वभाव की श्रद्धा, वह अनेकान्तवाद है–ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों को नियत–क्रमबद्ध होना न माने अथवा क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में रहे हुए सम्यक् पुरुषार्थ को न माने, उसे अनेकान्तमय वस्तु स्वभाव की खबर नहीं है। वह मिथ्यादृष्टि है।

जिसने सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक नियत का निर्णय किया, उसने अपने पुरुषार्थ से स्वभाव में रखकर वह निर्णय किया है। वह अपनी पर्याय के स्वकाल में निर्णय किया है और परनिमित्तों के अभावरूप रहकर वह निर्णय किया है। इसलिए नियत के निर्णय में एक समय में पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं और स्वभावसन्मुख दृष्टि होकर पर्यायबुद्धि छूट जाती है, इसलिए मोक्षमार्ग हो गया।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भाग 2, पृष्ठ 21-22

(98) कर्ता

प्रश्न : पर्यायें क्रमबद्ध है, आत्मा की पर्यायें भी क्रमबद्ध जो होनेयोग्य है, वही होती है, इसलिए आत्मा उनका अकर्ता है – यह बात बराबर है ?

उत्तर : नहीं; आत्मा अपनी पर्याय का अकर्ता है – यह बात बराबर नहीं है। अपनी जिस–जिस क्रमबद्धपर्यायरूप आत्मा परिणमता है, उसका कर्ता आत्मा स्वयं ही है, परन्तु यहाँ इतना विशेष समझनेयोग्य है कि 'आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है'—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ है, वह जीव मिथ्यात्वादि भावोंरूप परिणमित ही नहीं होता, इसलिए मिथ्यात्वादि भावों का तो वह अकर्ता ही है; तथा जो अल्प रागादि विकार होता है, उसमें भी वह एकत्वरूप नहीं परिणमता, इस अपेक्षा से वह रागादि का भी अकर्ता है परन्तु अपने सम्यग्दर्शन–ज्ञानादि निर्मल क्रमबद्ध परिणाम का तो वह कर्ता है। 'क्रमबद्ध परिणाम' का ऐसा अर्थ नहीं है कि आत्मा स्वयं कर्ता हुए बिना ही वे परिणाम हो जाते हैं ! ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञानभाव को करता हुआ उसका स्वयं कर्ता होता है और अज्ञानी अपने अज्ञानभाव को करता हुआ उसका कर्ता होता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य

स्वयं ही अपने-अपने क्रमबद्ध परिणाम का कर्ता है।

— आत्मधर्म, अंक 181, नवम्बर-दिसम्बर 1958, पृष्ठ 20

(99) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तापना

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय है, उसमें कर्तृत्व है या नहीं ?

उत्तर : हाँ, जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय का कर्तृत्व है; और जिसके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है तथा पर में कर्तृत्वबुद्धि है, उसे अपने में मिथ्यात्व आदि मलिन भावों का कर्तृत्व है।

अजीव को उस अजीव की क्रमबद्ध अवस्था का कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जो जीव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, उसे विकार का कर्तृत्व नहीं है; वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, भाग 2, बोल 97

(100) निमित्त करता तो है न ?

प्रश्न : जीव कर्ता है या नहीं ?

उत्तर : हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि अपने ज्ञायकपरिणाम का; पुद्गलकर्म का नहीं।

प्रश्न : पुद्गलकर्म का निमित्त कर्ता है या नहीं ?

उत्तर : नहीं; ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है, उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नहीं है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओं में भलीभाँति समझायी है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 142

(101) शक्ति

यहाँ तो कहते हैं कि अपनी जो वीर्य-बलशक्ति है, वह अपने स्वरूप की रचना करती है। श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, वीतरागता को (रचती है)। उस समय में क्रमवर्ती पर्याय

है, वह निर्मल है। क्रमवर्ती पर्याय निर्मल है। अक्रमवर्ती हैं, वे गुण हैं। यह क्रमवर्ती पर्याय और अक्रमवर्ती गुण का समुदाय, वह आत्मा है। उसमें राग की पर्याय का समुदाय आत्मा है, ऐसा कहा ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह पहले आ गया है, पहले कहा था।

क्रमरूप और अक्रमरूप अनन्त धर्म समूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह वास्तव में समस्त एक आत्मा है। क्रम-क्रम से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, (उसकी बात है)। राग की बात यहाँ है ही नहीं, क्योंकि राग का समुदाय, वह आत्मा—ऐसा है ही नहीं। आहाहा! राग को तो विकार, अचेतन, जड़, अजीव में डाल दिया है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान आत्मा में अनन्त गुण जो निर्मल शुद्ध हैं, द्रव्य शुद्ध है और अनन्त शक्ति संख्या से है, वह शुद्ध है और उसकी परिणति जो होती है, वह भी शुद्ध है। वह परिणति पर्याय होती है, वह क्रमसर क्रमबद्ध होती है, इसलिए क्रमवर्ती कहा है। क्रमवर्ती-क्रम से वर्तनेवाली और गुण एक साथ रहनेवाले हैं, इसलिए अक्रमवर्ती—अक्रम से रहनेवाले हैं, ऐसा कहा। उस निर्मल पर्याय का क्रम और अक्रम गुण, उसका समुदाय वह आत्मा है। उसमें कोई राग या व्यवहार आया नहीं। आहाहा! समझ में आया? बण्डीजी! ऐसी बात है, भाई! आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य पुकार करते हैं। आहाहा! टीका अमृतचन्द्राचार्य की है। कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा में भाव थे, उनका स्पष्टीकरण किया है। जैसे कि गाय और भैंस के स्तन में दूध है, दूध, स्तन में दूध है, उसे बाई निचोड़कर निकालती है। समझ में आया? इसी प्रकार पाठ में भाव भरे हैं, उन्हें अमृतचन्द्राचार्य टीका करके स्पष्टीकरण करते हैं। नन्दकिशोरजी!

— समयसार सिद्धि, भाग 12, पृष्ठ 89

(102)

योग्यता

क्रमबद्धपर्याय की उत्पत्ति अपनी अन्तरंग योग्यता के अतिरिक्त दूसरे किसी बाह्य कारण से नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय कहो या 'योग्यता' कहो, तद्नुसार ही कार्य होता है। पर्याय की योग्यता स्वयं ही अन्तरंग कारण है; दूसरा निमित्त तो बाह्य कारण है। अन्तरंग कारण के

अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है; बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। श्री षट्खण्डागम की धवल-टीका में वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्ध में अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहते हैं, जबकि आयुकर्म के परमाणुओं की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है:—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर की और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागर की ही:—ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागम में आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृति-विशेष होने से उस प्रकार का स्थितिबन्ध होता है; अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियों की वैसी अन्तरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अन्तरंग कारण से ही वैसा होता है।—ऐसा कहकर यहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि—''सर्वत्र अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिए।''

दूसरा दृष्टान्त लें:—दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म अंश और योग का कम्पन है; वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों का बन्ध होता है; उनमें ज्ञानावरणादि की अन्तर्मुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की; तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मों का बन्ध एक साथ होने पर भी स्थिति में इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति में क्यों ऐसा अन्तर होता है?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि 'प्रकृति-विशेष होने से'—अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृति का अन्तरंग कारण ही वैसा है; और उस अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध में कहा, उसी प्रकार 'वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक, और दूसरे कर्म में थोड़ी-ऐसा क्यों?'—ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन-उन प्रकृतियों का वैसा स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरंग कारण कहो—उसी से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कभी

बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

निमित्त तो बाह्य कारण है। उस बाह्य कारण के कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमों की पैदावार हो, या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव में से अजीव हो जाये। यदि बाह्य कारणानुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो, तब तो अजीव के निमित्त से जीव भी अजीवरूप हो जायेगा।— किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती; अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। (देखो, षट्खण्डागम पुस्तक 6, पृष्ठ 134)

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, भाग 2, बोल 67

(103) वास्तव में अभेद बिना भेद किसका ?

वास्तव में अभेद बिना भेद किसका ? जहाँ अभेद अर्थात् कि निश्चयचारित्र हो, वहाँ सच्चा व्यवहार होता है। वास्तव में तो अभेद हुआ तो भेद—व्यवहार कहा जाता है। भेद से अभेद होता है, ऐसा नहीं है, परन्तु अभेद का ज्ञान हो, उसे भेद का ज्ञान यथार्थ होता है। व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है या बन्ध के आश्रय अबन्ध हुआ जाता है, ऐसा नहीं है, परन्तु स्व-परप्रकाशक स्वभाव का ज्ञान हुआ, तब राग का जो ज्ञान रहा, उसे व्यवहार कहा जाता है। यह निश्चयसहित का व्यवहार है। जिसे अभेद निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव का भान है, उसे क्रम में आ पड़े हुए राग का ज्ञान, वह व्यवहार है और शुद्धस्वभाव की एकाग्रता का ज्ञान करना, वह निश्चय है।

— सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, नियमसार (1951-52), भाग 1 पृष्ठ 423

(104) दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि

जैसे मोती का हार होता है, उसमें हार है वह द्रव्य; डोरा वह गुण और जो मोती है, वह पर्याय के स्थान में है। उसमें हार और डोरा तो शाश्वत् चीज़ है और मोती के दाने उसमें प्रत्येक क्रमसर है। अपने-अपने निश्चित स्थान में रहे हुए क्रमसर है। पहला मोती, फिर दूसरा, फिर तीसरा - ऐसे प्रत्येक मोती नियत स्थान में रहा हुआ क्रमबद्ध है। उसी प्रकार आत्मा त्रिकाली नित्य द्रव्य है, उसके ज्ञानादि गुण अर्थात् शक्तियाँ त्रिकाल नित्य है और

उसमें जो पर्यायें होती हैं, वे प्रत्येक समय-समय में नियत क्रम में जो होनेवाली हो, वही होती है। कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। सूक्ष्म बात है। द्रव्य में जो पर्याय जिस काल में होनेवाली हो, उस काल में वही वहाँ होती है। 'प्रति समय सम्भवते...', ऐसा टीका में है न? यह 'सम्भवते' शब्द का यह आशय है। प्रति समय जो पर्याय होनेवाली हो, वही क्रमबद्ध होती है, उसमें कोई अन्य फेरफार नहीं कर सकता। इस प्रकार आत्मा पर का अकर्ता अर्थात् केवल ज्ञातादृष्टा ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

— प्रवचन रत्नाकर, भाग 9, पृष्ठ 288

(105) तीनों काल का परिणमन व्यवस्थित

पदार्थ की अवस्था का जो काल होता है, वही होता है और उस काल में जिस प्रकार की अवस्था होनेवाली होती है, उसी प्रकार की होती है; और निमित्त का काल तथा प्रकार उसी समय में वैसा ही होता है, जिस समय ज्ञान की जैसी पर्याय होनेवाली हो, वैसी और वही होती है तथा निमित्तरूप से वही होता है, ऐसा उपादान-निमित्त क्रमबद्ध व्यवस्थित है। वहाँ अज्ञानी को भ्रम होता है कि उसी समय वही पर्याय और वही निमित्त कैसे? दूसरी क्यों नहीं? विकारी परिणाम कैसे हुए? अज्ञानी, कर्म का उदय था, इसलिए विकार हुआ मानता है। भगवान कहते हैं कि:—आत्मा के गुण की अवस्था में विपरीतता के कारण से विकार हुआ है। ऐसा ही विकार क्यों हुआ? उसकी उस समय की वैसी योग्यता के कारण से वैसा विकार हुआ है, वही पर्याय और वही निमित्त होता है। यथार्थ या विपरीत—जो पर्याय होनेवाली हो, उसी समय में होती है और निमित्त जो होने का हो, वही उस समय में होता है, इस प्रकार जैसे वर्तमान एक समय का परिणमन क्रम व्यवस्थित है, वैसे दूसरे, तीसरे, चौथे ऐसे अनन्त समय का तीनों काल का परिणमन व्यवस्थित है।

ऐसा सुनकर अज्ञानी को धक्का लगता है कि ऐसा सब—प्रत्येक समय का परिणमन (-उपादान का उपादान में और निमित्त का निमित्त में) जैसा है, वैसा है—वहाँ आगे-पीछे कुछ नहीं होता तो अब कुछ करने का पुरुषार्थ रहा नहीं? तो फिर शास्त्रों में बातें की हैं कि सच्ची समझ में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त होते हैं, तीन कषाय के अभाव से वीतरागता प्रगट हो, तब वस्त्र-पात्र आदि छूट जाते हैं, उसका क्या समझना?

उत्तर : भाई ! जरा शान्ति से विचार कर ? द्रव्य की जो पर्याय होती है, तब उसके योग्य जो निमित्त होगा, वही होगा परन्तु उस पर्याय के क्रम का निर्णय करने से बुद्धि पर्याय की ओर से छूटकर त्रिकाली द्रव्य में ढलती है। ज्ञान का ज्ञान में—द्रव्य में ढलना, वही अनन्त पुरुषार्थ है। अज्ञानी को बुद्धि द्रव्य में उन्मुख होने पर ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ प्रगट होता है, उसका माहात्म्य नहीं आता। उसे ऐसा लगता है कि 'मैं तो हूँ, यदि मुझसे होता तो केवलज्ञान इत्यादि नहीं होता ? परन्तु भाई ! तू तो द्रव्य है, द्रव्य में शक्ति भरी पड़ी है, परन्तु पर्याय में जैसी योग्यता प्रगट करेगा, तब वैसा ही निमित्त उसके कारण से होगा, भाई ! धीर होकर विचार कर ! तेरी योग्यता जिस काल में जैसी होगी, तब उस प्रकार का निमित्त होगा, परन्तु किसी के कारण कोई नहीं है, यह बात अज्ञानी को जँचती नहीं, यह बात कहने पर, मानो आत्मा पंगु हो-ऐसा उसे लगता है। निमित्त आवे तो अपने में कुछ फेरफार होता है, यह मान्यता ही उसका अज्ञान है।'

— सदगुरु प्रवचनप्रसाद, बृहद्द्रव्यसंग्रह (1951–52), भाग 1, पृष्ठ 271

(106) पाँच बोलों का स्पष्टीकरण

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' यह द्रव्य का लक्षण है। उत्पाद होता है, वह अपनी पर्याय में अपने से होता है। दया, दान, व्रत आदि के परिणाम, वे आस्रव हैं। वे परिणाम स्वयं से उत्पन्न होते हैं, उसमें जड़कर्म निमित्त है परन्तु निमित्त से वे परिणाम उत्पन्न होते हैं, ऐसा नहीं है। जड़कर्म कर्ता और आस्रव उसका व्याप्य कर्म, ऐसा नहीं है।

यहाँ इस गाथा के एक बोल में निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्ध इन पाँचों के स्पष्टीकरण आ जाते हैं।

(1) सातावेदनीय कर्म का बन्ध हुआ, वहाँ वह पर्याय उसके स्वकाल में हुई है। उस काल में जो शुभभाव आया, वह उसके स्वकाल में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार क्रमबद्ध सिद्ध हुआ।

(2) ज्ञानी को वह राग और कर्मबन्धन ज्ञान में उस काल में निमित्त है। यह निमित्त सिद्ध हुआ।

(3) उस काल में स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय स्वयं से प्रगट हुई है, निमित्त से नहीं। यह उपादान सिद्ध हुआ।

(4) जो राग आया, वह अशुचि है, जड़ है, दु:खरूप है, उस राग को ज्ञान जानता है। यह व्यवहार सिद्ध हुआ। और

(5) उस समय ज्ञान स्व को जानता है, यह निश्चय सिद्ध हुआ। इस प्रकार व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात उड़ गयी। निमित्त से उपादान का कार्य होता है, यह बात भी उड़ गयी। पर्याय क्रमबद्ध होती है, इसलिए अक्रम से-उल्टा-सीधा होता है, यह बात भी उड़ गयी। इस प्रकार पाँचों बातों का इस गाथा में स्पष्टीकरण आ जाता है।

— प्रवचन रत्नाकर, भाग 5, पृष्ठ 140

(107) अनन्त स्वतन्त्रता की घोषणा

क्रमबद्धपर्याय की बात तो अनन्त स्वतन्त्रता की सूचक है। उसे बुद्धिपूर्वक हृदय से स्वीकार करनेवाले को तो अनन्त स्वतन्त्रता की प्रतीति होती है। यह जानकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी कि अपने सुख-दु:ख, जीवन-मरण, भला-बुरा, सब ही अपने अधिकार में है, उसमें किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।

यह जानकर भी जिसे प्रसन्नता न हो तो समझना चाहिए कि या तो वह गुलामवृत्ति का व्यक्ति है अथवा तो अन्य को गुलाम बनाकर रखने की वृत्तिवाला है।

क्रमबद्धपर्याय में वस्तु की अनन्त स्वतन्त्रता की घोषणा है।

— आत्मधर्म, अंक 308, अप्रेल 1980, पृष्ठ 29 (रात्रिचर्चा)

(108) चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता

भगवान सर्वज्ञ के केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक की पर्यायें प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। जैसे केवलज्ञान में तीन काल की पर्यायें ज्ञात होती हैं तथा पदार्थों में क्रमबद्धपर्यायें होती हैं; केवलज्ञान में जाना इसलिए नहीं, परन्तु पदार्थों की पर्यायें स्वयं से स्वकाल में उसी प्रकार से होती है और वैसा सर्वज्ञ जानते हैं। आहाहा! परद्रव्य को तो करने की बात नहीं परन्तु अपनी अशुद्ध या शुद्धपर्यायें स्वकाल में क्रमबद्ध जो होनेवाली है, वही होती है।

इसलिए अपने में भी पर्याय को उल्टी-सीधी करने का नहीं रहा। मात्र जैसा होता है, वैसा जानने का ही रहा। जिस प्रकार सर्वज्ञ ज्ञाता है, उसी प्रकार धर्मी भी ज्ञाता हो गया। क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य अकर्तारूप वीतरागता है। वह वीतरागता और अनन्त पुरुषार्थ द्रव्य पर दृष्टि जाने से होता है। आहाहा! आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है।

चारों अनुयोग का तात्पर्य वीतरागता है। वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसके आश्रय से वीतरागता प्रगट हो, वह धर्म है। कर्ता, कर्म, करण आदि छहों कारक वीतरागी गुण है। षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमना, ऐसा आत्मा का गुण है और अनन्त गुणों में उसका रूप है। वीतरागरूप परिणमना ऐसा उसमें गुण है; रागरूप होना, ऐसा उसमें गुण नहीं; अकर्ता होना वह आत्मा का गुण है। राग का न करना, राग को न भोगना—ऐसे गुण आत्मा में है। आहाहा! वस्तु की ऐसी ही मर्यादा है। वस्तु उसकी मर्यादा में ही रहती है।

मर्यादा के बाहर वस्तु नहीं जाती। सभी आत्मा वीतरागस्वरूप है। राग तो पुण्य-पापतत्त्व में जाता है। आत्मा तो अकेला वीतराग ज्ञायकस्वरूप है, उसे ज्ञान प्रधान से कहो तो ज्ञानस्वरूप है, दर्शन प्रधान से कहो तो दर्शनस्वरूप है। चारित्र प्रधान से कहो तो चारित्रस्वरूप है, वीर्य प्रधान से कहो तो वीर्यस्वरूप है, स्वच्छत्व, विभुत्व, प्रभुत्व आदि प्रधान से कहो तो प्रभुत्व आदि स्वरूप ही है। आहाहा! आत्मा अकेला वीतरागस्वभाव का समुद्र है। वीतराग कहो या अकषायस्वभाव कहो। सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझे वे होय। सर्वज्ञस्वरूप की दृष्टि हुई, इसलिए पर्याय में जिन हुआ, अमृत का सागर उछला।

— आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 31-32 (ज्ञानगोष्ठी)

(109) यह पुरुषार्थ तो देखो!

दूसरे प्रकार से कहें तो केवलज्ञान है, ऐसी चार अनुयोग में बात आयी तो चारों अनुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है। केवलज्ञान है, ऐसा सुना तो उसका तात्पर्य तो वीतरागता आना चाहिए। वीतरागता कब आती है ? आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय की सत्ता का स्वीकार करने में वीतरागता आनी चाहिए, तो वीतरागता कब आती है ? कि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की ओर झुकने से वीतरागता आती है। न्याय समझ में आता है ? आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

उस सत्ता का स्वीकार करने में इसे भव नहीं, कहा। हम कहते हैं कि जिसे केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार हुआ, उसके भव केवलज्ञानी देखते नहीं, उसको भव है ही नहीं, ऐसा देखते हैं। लालचन्दभाई! १९७२, हों! १९७२। ६१ वर्ष हुए। अन्तर से (आया था)। यह तो पढ़ा भी नहीं था परन्तु संस्कार थे न अन्दर! आहा! माता! कोल-करार करता हूँ। हम जिस रास्ते जा रहे हैं, उसमें अब भव नहीं मिलेंगे। कहा, यह पुरुषार्थ तो देखो! केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार करने में तो पुरुषार्थ है। देखा, यह बाद में होगा। देखा, वह होगा, देखा, वह होगा यह तो है, परन्तु जगत में केवलज्ञान है या नहीं? उसका माहात्म्य और उसकी सामर्थ्य-शक्ति पर्याय में कितनी है, उसकी सत्ता का स्वीकार करने से, अल्पज्ञ में रहकर शक्ति की ओर झुकने से अल्पज्ञ में सत्ता का स्वीकार होता है। समझ में आया। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि अन्दर जो सर्वज्ञशक्ति... यह तो अपने पहले आ गयी। यहाँ दूसरा कहना था, वह सर्वज्ञपना आत्मज्ञपना है। यह पहले शक्ति में आ गया है। सर्वज्ञपना, वह आत्मज्ञपना है। आत्मज्ञ कहो या सर्वज्ञ कहो, यह विवक्षा भेद है, कथनभेद है; भावभेद नहीं। यह क्या कहा? सर्वज्ञपना है और आत्मज्ञपना है, यह तो कथन की शैली से बात है। आत्मज्ञ है, वह स्व है और सर्वज्ञपना है, वह पर से है, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

— समयसार सिद्धि, भाग 12, पृष्ठ 210-211

(110) क्रमबद्ध का भणकार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्ध के भणकार रखते आये हैं।

'जीव पदार्थ कैसा है?' उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा में कहा था कि 'क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की हैं।' पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण सहवर्ती होते हैं। ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बता दी है।

तत्पश्चात् ६२वीं गाथा में कहा कि 'वर्णादि भाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती ऐसी वे-वे व्यक्तियाँ (अर्थात् पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्य के साथ रहते

हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं।' यहाँ अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करने का कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ताकर्म अधिकार में भी गाथा 76-77-78 में भी प्राप्य, विकार्य और निवृर्त्य, ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात समाहित कर दी है। 'प्राप्य' अर्थात् द्रव्य में जिस समय में जो पर्याय नियमित है, उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय में वह द्रव्य प्राप्त करता है-पहुँचता है, इसलिए उसे प्राप्यकर्म कहा जाता है।

— योगसार प्रवचन, भाग 1, पृष्ठ 64

(11)
क्रमबद्धपर्याय की ना-समझ का फल क्या ?

(111) क्रमबद्धपर्याय... सद्विवेक

एक भाई कहते थे कि क्रमबद्ध की बात सुनकर लोग स्वच्छन्दी होते हैं कि होनेवाला होगा, वह होगा। और व्यवहार की कोमलता थी, वह भी चली जाती है। सब क्रमबद्ध-क्रमबद्ध करने लगे हैं परन्तु कोमलता और कषाय की मन्दता की बात विस्मृत हो जाती है।

क्या करें भाई! लोग भूले... या ... न भूले... सत्य तो यह है, होना होगा, वैसा होगा - ऐसा मानकर ढीठाई आ जाए, क्रमबद्ध के नाम से स्वच्छन्द हो गया! क्या हो ? थी वह बात बाहर आ गयी। न समझे तो क्या हो ? स्वच्छन्द सेवन करे या न सेवन करे, वह तो उसका स्वतन्त्र अधिकार है। क्रमबद्ध समझनेवाले की तो कितनी शैली होती है... बापू! देव-गुरु-शास्त्र के प्रति कितना विनय होता है! कितना बहुमान होता है! अन्दर इतनी गलगलिया और मिठास आवे कि देव-गुरु-शास्त्र के लिये मान और सिर छोड़ दे। प्राण जाए तो भी देव-गुरु-शास्त्र का विनय वह नहीं छोड़ता—इतना तो जिसका विनय व्यवहार में होता है। समझ में आया ? क्रमबद्ध के नाम से यह सब बोल लोग भूल जाते हैं। क्या करें, बापू! वस्तु तो जो थी, वह बाहर आयी।

'हमें क्या विकार करने का भाव है ? वह तो क्रमबद्ध है, विकार क्रम में आनेवाला था, वह आया... कर्म का निमित्त और हमारा स्वकाल, इसलिए पापभाव आया।'—ऐसा कहकर स्वच्छन्द में वर्ते, परन्तु अरे बापू! तू क्या कहता है ? यह तो तेरी अन्तर हृदय की जो कोमलता थी कि मैं राग की मन्दता करूँ, ऐसी कोमलता भी चली गयी! तू समझा ही नहीं एक भी बात को! अरे! भगवान! मर जाएगा, हों! ऐसे तेरा अन्त आवे, ऐसा नहीं है।

क्या करें ? जीव स्वतन्त्र है! अनादि काल का है, तीर्थंकर के समवसरण में भी अनन्त बार जा आया है! क्या कुछ बाकी रखा है ? बापू! तेरी लीला अलग है। क्रमबद्ध

समझने पर तो निगलकर ओगली गया अन्दर! आहा! किसका करूँ? कहाँ करूँ? कौन करे? मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ। ज्ञाता के स्वभाव में आया, वहाँ विकार मन्द पड़ गये। अनन्तानुबन्धी कषायें गल गयी। अनन्त पर की कर्ताबुद्धि थी, वह टल गयी। इसका नाम क्रमबद्ध का निर्णय और अकर्तापने के ज्ञान का तन्मयपना है। उसके बिना क्रमबद्ध का नाम लिया करे और पापभाव में वर्ता करे, वह तो बड़ा स्वच्छन्द है।

तुम निश्चय की बात करते हो परन्तु व्यवहार का लोप हो जाएगा, अरे! व्यवहार रुक जाएगा!—ऐसा एक व्यक्ति कहता था। क्या हो, बापू! सत्य तो ऐसा है। ऐसा सत्य जिसे समझ में आये, उसकी दशा में कोमलता, करुणा, नम्रता, विनयता, भक्ति, ये भाव छूटते नहीं। क्या हो? एक बात कहने जाए, वहाँ दूसरी छोड़ दे, और यह कहने जाए वहाँ पहली खोवे। निश्चय कहने जाए, वहाँ व्यवहार की मर्यादा क्या है, यह बात भूल जाए और जहाँ व्यवहार कहने जाएँ, वहाँ व्यवहार से लाभ होता है, ऐसा मान बैठे। तीर्थंकरों के काल में तीर्थंकरों से भी समझा नहीं, ऐसा भड़ का पुत्र है, तो अभी के काल की क्या बात? पात्रता और बहुत नरमाई हो, उसे यह बात कान में पड़ने के पश्चात् अन्तर्मुख होकर रुचि होती है और परिणमन तो कोई अनन्त पुरुषार्थ से होता है... अनन्त पुरुषार्थ से होता है... उसे उस पुरुषार्थ से अनन्तानुबन्धी का नाश होता है... अनन्त संसार कट गया, अनन्त स्वभाव की सामग्री का समुद्र देखा-माना-जाना, वहाँ संसार छूट गया।

क्रमबद्ध में या निश्चय में जो वस्तु की स्थिति हो, वह कही जाये, उसे न समझे और आड़ा-टेड़ा करके स्वच्छन्दी हो,—तो क्या उपदेश के कारण से वह होता है। नहीं; और जो समझता है, वह भी क्या उपदेश के कारण से समझता है—ऐसा है? नहीं; टोडरमलजी ने कहा है कि निश्चय का उपदेश सुनकर व्यवहार में स्वच्छन्दी होगा तो उसमें उपदेश का दोष नहीं है, वक्ता का दोष नहीं है। निश्चय की बात सुनकर व्यवहार का राग कहाँ कैसा होता है, उसे भूल जाए, स्वच्छन्द से प्रवर्तन करे और कहे कि यह तो उस काल में ऐसा राग आनेवाला था! परन्तु अरे बापू! इसका निर्णय करे, उसकी दशा तो कैसी हो? अरे भाई! तू यह क्या लेकर बैठा! अरे प्रभु! ऐसा नहीं कहते, सुन तो सही, भाई!

क्या हो? कोई किसी से समझे ऐसा है? भड़ का पुत्र है। उसकी अशुद्धता भी बड़ी

और शुद्धता भी बड़ी। अशुद्धता की विपरीतता इतनी कि अनन्त तीर्थंकर इकट्ठे हों तो भी समझे, ऐसा नहीं है; और शुद्धता का सामर्थ्य प्रगट हुआ, उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि अनन्त विरोधी खड़े हों—सातवें नरक में कितने विरोधी हैं ? मार-फाड़ करे। शरीर के टुकड़े करे, भले लाख प्रतिकूलता हो, विरोध है कहाँ हमारे में ? अनन्त विरोधी हों तो भी आत्मा का भान नहीं भूलता और समवसरण की अनन्त अनुकूल सामग्री मिली तो भी विपरीतता में अशुद्धता नहीं भूलता। क्या हो ? इसकी चीज़ उल्टी या सुल्टी इसके कारण से ही खड़ी होती है। किसी दूसरे के कारण से नहीं होती।

— आत्मधर्म, अंक 220, फरवरी-मार्च 1962, पृष्ठ 15-16 (समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार)

(112) अज्ञानी की भूल

प्रश्न : क्रमबद्ध के वास्तविक रहस्य को न समझनेवाला अज्ञानी, क्रमबद्ध की गीत गाते रहने पर भी भूल क्या करता है ?

उत्तर : एक तो कहता है कि पर्याय को क्रमबद्ध स्वीकार करने से नियतवाद हो जाता है और दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में मेरे राग आना ही था, वह आ गया। यह दोनों ही जीव भूल में हैं—मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ने मिथ्यात्व को पुष्ट करके निगोद का मार्ग अपनाया है। जिसकी दृष्टि में क्रमबद्ध यथार्थ रीति से बैठ गयी है, उसकी दृष्टि, पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा के ऊपर है, उसके क्रमबद्ध में राग आने पर भी वह उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, जो राग आता है, वह राग दु:खरूप लगता है और ऐसे जीव ने ही क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। वह जीव उस आनन्द के साथ जब अपने रागरूप दु:ख का मिलान करता है, तब उसे प्रतिभासित होता है कि अरे! यह राग दु:खरूप है। इस प्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला, आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दु:खरूप जानता है, उसके राग की मिठास उड़ गयी है। जिसे राग में मिठास पड़ी हुई है और पहले जो अज्ञानदशा में राग के टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध का पाठ पढ़कर मिट गयी है, उसके तो मिथ्यात्व की पुष्टि ही हुई है—मिथ्यात्व तीव्र ही हुआ है। राग मेरा नहीं—ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि न हो, तो उसने मिथ्यात्व की वृद्धि ही की है। भाई!

यह तो कच्चे पारा जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर में पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो और उसका रहस्य न समझे तो उलटा मिथ्यात्व ही पुष्ट हो। — ज्ञानगोष्ठी, बोल 592

(113) उसे शुद्धता के क्रम की शुरुआत...

प्रश्न : तो अज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय है या नहीं ?

उत्तर : अज्ञानी को भी क्रमबद्धपर्याय तो है, परन्तु उसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, इसलिए अशुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है और वह कर्म के कर्तारूप परिणमता है। ज्ञायक जागृत हुआ, वहाँ क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ और उसे शुद्धता के क्रम की शुरुआत हो गयी। — आत्मधर्म, अंक 177-ए, जुलाई-अगस्त 1956, पृष्ठ 5 (समयसार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार)

(114) निःसन्देह प्रतीति करो

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय न माने तो ?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय को न माने तो वास्तव में वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानता। क्रमबद्धपर्याय माने बिना तीन काल का सम्पूर्ण ज्ञान सिद्ध नहीं होता अर्थात् कि केवलज्ञान ही सिद्ध नहीं होता; केवलज्ञान की प्रतीति बिना ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं होती; ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ नहीं होता।

इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय को माने बिना मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं होता अर्थात् कि मिथ्यादृष्टिपना ही रहता है। इसलिए मोक्षमार्ग का सम्यक् प्रयत्न करने के अभिलाषी जीव प्रथम ही केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप भलीभाँति समझकर उसकी निःसन्देह प्रतीति करो। — आत्मधर्म, अंक 181, नवम्बर-दिसम्बर 1958, पृष्ठ 22

(115) मात्र अहंकार से मानता है

इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि कोई जीव ज्ञान द्वारा पर का कुछ कर नहीं सकता। राग-इच्छा द्वारा भी पर का कुछ नहीं कर सकता। अहो ! आत्मा नजदीक में रहे हुए जड़ देह की भी कोई क्रिया नहीं कर सकता; मात्र अहंकार से मानता है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो लोग चाहे जैसे पाप करेंगे। कोई दया, दान, पुण्य नहीं करेगा।

उत्तर : पर का करना, न करना जीव के आधीन नहीं परन्तु आत्मा स्वयं ही पुण्य-पाप के भाव करके, अविवेक से उल्टा मान सकता है।

एकान्त नियतवाद, क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर अथवा कर्म के उदय का नाम लेकर शरीर की क्रिया तो काम-भोग आदिरूप होने की ही थी, उसमें आत्मा के भले-बुरे भाव को सम्बन्ध ही नहीं, ऐसा मानकर कोई स्वच्छन्दी हो तो वह पाप को बाँधकर नरक-निगोद जाएगा। ऐसे अपात्र जीव का दृष्टान्त देकर द्रव्यानुयोग के शास्त्र के उपदेश का निषेध करते हैं, वे मूलभूत तत्त्व का निषेध करते हैं।

निमित्तकर्ता का कथन आवे, ऐसा राग आवे परन्तु निमित्त द्वारा कोई कार्य होता है, यह बात तीन काल-तीन लोक में असत्य है। यहाँ तो आचार्यदेव स्वतन्त्रता का सत्य सिद्धान्त बताकर वीतरागता ही बताते हैं। पर में और रागादि में एकताबुद्धि, कर्ताबुद्धि छोड़कर, अकर्ता अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापने में ही सुख है, ऐसा बताते हैं।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि आत्मा अपनी स्वभावी दशा के सामर्थ्य द्वारा या रागादि विकारी पर्याय के सामर्थ्य द्वारा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जीव पर में कर्ता होने के अयोग्य है, असमर्थ ही है; और जाननेरूप कार्य में परिपूर्ण समर्थ है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा शरीर की अवस्था को, पर की अवस्था को आत्मा पलटा दे, यह अशक्य है। मैं तीन दिन मौन रहूँगा, फिर बोलूँगा, तुम्हें धीरे से बोलना, जोर से नहीं बोलो। परन्तु बोलता कौन है ? यह सब भाषावर्गणा के पुद्गलों का कार्य है, जीव तो इच्छा और पर में कर्तापने का अभिमान करता है अथवा विवेक द्वारा सच्चा ज्ञान कर सकता है। अविवेक, राग, द्वेष, विषय-वासना का भाव पापभाव है—ऐसे पापभाव करता है स्वयं और मानता है (कि) यह तो शरीर की क्रिया है। अथवा जड़कर्म के उदय से होते हैं, मेरे भाव में दोष नहीं है तो वह महामूढ़ है।

शास्त्र का और उपदेश का तात्पर्य स्वतन्त्रता, यथार्थता, वीतरागता ग्रहण करने के लिये ही है, उसके बदले पाप की रुचि पोषण के लिये उसका सहारा ले, वह पापी ही है

और ऐसे स्वच्छन्दी का नाम लेकर सत्य सिद्धान्त की मशकरी करे, वह भी पापी ही है, धर्म का विरोध करनेवाला है। पुण्य-पाप बाहर से नहीं आता।

— आत्मधर्म, अंक 230, नवम्बर-दिसम्बर 1962, पृष्ठ 15 (समयसार गाथा 405-407)

(116) ज्ञायक के निर्णय बिना सब पढ़ाई उलटी है

मैं ज्ञान हूँ-ज्ञायक हूँ—ऐसा न मानकर, पर में फेरफार करना मानता है, वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई! आत्मा ज्ञान है—इस बात के निर्णय बिना तेरी सब पढ़ाई उलटी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत हैं। ज्ञानस्वभाव की गम पड़े बिना आगम भी अनर्थकारी हो जाते हैं। शास्त्र में निमित्त से कथन आये, वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीतदृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उलटा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 30

(117) जिसे आत्महित करना है, उसे बदलना ही पड़ेगा!

अहो! आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात!! ऐसी बात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी तुलना करना, वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है! 'स्यात्वाद नहीं है, एकान्त है, नियत है, छूत की बीमारी है'—इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभी को बदलना पड़ेगा; यह बात तीन काल में नहीं बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हों, तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हें आत्मा का हित करना है तो।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 186

(118) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिए?—सारे उपदेश का निचोड़!

प्रश्न : लेकिन यह बात समझने के बाद क्या?

उत्तर : भीतर ज्ञायक में स्थिर होना, इसके सिवा और क्या करना है? क्या तुझे बाह्य में उछल-कूद करना है? या पर का कुछ कर देना है? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वयं ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा, और राग के कर्तारूप नहीं हुआ-यही इस समझ का फल है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा समझा, वहाँ ज्ञायक क्या करेगा? ज्ञायक तो ज्ञातादृष्टापने का

ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है, वह ज्ञायकस्वभाव को समझा ही नहीं है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है, और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार की इन चारों गाथाओं में आचार्यदेव ने सारा निचोड़ भर दिया है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा! उसकी प्रतीति कर, और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

— ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, बोल 195

क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में
पूज्य गुरुदेवश्री की मुमुक्षुओं के साथ हुई चर्चा और समाधान

'धर्म का मूल सर्वज्ञ है, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरम्भ ही क्रमबद्ध के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।' उक्त शब्द स्वामीजी ने तब कहे, जब उनसे कहा गया कि—''आत्मधर्म के सम्पादकीय में 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में हम एक लेखमाला चला रहे हैं। उसे बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया जायेगा। आपने इस युग में 'क्रमबद्धपर्याय' का एक प्रकार से उद्घाटन ही किया है। इसके सन्दर्भ में उठनेवाली अनेक शंकाओं-आशंकाओं के सम्बन्ध में आपके ताजे विचार पाठकों तक पहुँचाना बहुत उपयोगी रहेगा। यदि आपकी अनुमति हो तो कुछ बातें आपसे पूछूँ?''

वे अपनी बात आरम्भ करते हुए बोले—''भाई! तुम्हें जो पूछना हो पूछो, हम कब मना करते हैं? समझने के लिए जिज्ञासा भाव से पूछनेवाले आत्मार्थियों के लिए तो हमारा दरवाजा सदा ही खुला रहता है। वादविवाद करनेवालों के लिए हमारे पास समय नहीं है। वादविवाद में कोई सार तो निकलता नहीं। चर्चा के लिए तो कोई मनाई नहीं है।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि—'साधर्मी के तो परस्पर चर्चा ही चाहिए।'

क्रमबद्धपर्याय पर लिखकर तुम अच्छा ही कर रहे हो। कम से कम लोगों का ध्यान तो इस ओर जाएगा। जिसकी भली होनहार होगी, उनके ध्यान में बात जमेगी भी। 'धर्म का मूल सर्वज्ञ है', क्रमबद्ध का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरम्भ ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।''

प्रश्न : आप तो पर्याय पर दृष्टि रखनेवाले को पर्यायमूढ़ कहते हो?

उत्तर : हम क्या कहते हैं, प्रवचनसार में लिखा है — **पज्जयमूढ़ा हि परसमया**

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है, फिर उसका निर्णय करना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना तो आवश्यक है, पर वह दृष्टि का विषय नहीं है। एक बात और भी ध्यान रखो—पर्याय का निर्णय पर्याय के आश्रय से नहीं होता, किन्तु द्रव्य के आश्रय से होता है। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है। अत: यह कहा जाता है कि आश्रय करनेयोग्य एकमात्र अपना ज्ञायकस्वभाव ही है; पर्याय आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न : तो फिर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे या नहीं ?

उत्तर : निर्णय तो करो, आश्रय मत करो। हम आश्रय करने का निषेध करते हैं, तो तुम निर्णय का निषेध करने लगते हो ? हम तो यह कहते हैं कि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय होगा। अत: क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने के लिए ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करो। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय सहज हो जाएगा। क्रमबद्ध के निर्णय करने की जरूरत तो है ही, आश्रय करने की जरूरत नहीं।

क्रमबद्ध का निर्णय तो महापुरुषार्थ का कार्य है। उससे सारी दृष्टि ही पलट जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो जैनदर्शन का मर्म है।

प्रश्न : जब सबकुछ क्रमबद्ध ही है तो फिर जब हमारी क्रमबद्धपर्याय में क्रमबद्ध का निर्णय होना होगा, तब हो जाएगा। उसके पहिले क्रमबद्धपर्याय हमारी समझ में भी कैसे आ सकती है ? मान लो हमारी समझ में क्रमबद्ध आने में अनन्त भव बाकी हैं, तो अभी कैसे आ सकती है ?

उत्तर : यह बात किसके आश्रय से कहते हो ? क्या तुम्हें क्रमबद्ध का निर्णय हो गया है ? नहीं, तो फिर यह कहने का तुम्हें क्या अधिकार है ? जिसे क्रमबद्ध का निर्णय हो जाता है, उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। क्रमबद्ध की श्रद्धावाले के अनन्त भव ही नहीं होते। क्रमबद्ध की श्रद्धा तो भव का अभाव करनेवाली है। जिसके अनन्त भव बाकी हों, उसकी समझ में क्रमबद्ध आ ही नहीं सकती; क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख नहीं होती और ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है।

ज्ञायक के सन्मुख होकर जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय किया, वहाँ भव उड़ जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होने पर निर्मल पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता—यह बात

भी नहीं रहती। पर्याय स्वसमय पर होगी ही—ऐसी श्रद्धा होने से उसे करने की कोई व्याकुलता नहीं रहती। मुझे भव नहीं—इस प्रकार की नि:शंकता प्रगट हो जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में कर्तापन की बुद्धि उड़ जाती है और ज्ञातापन की बुद्धि प्रगट हो जाती है—यह उसका फल है। यदि कर्ताबुद्धि न उड़े तो समझना चाहिए कि अभी उसकी समझ में क्रमबद्धपर्याय आयी नहीं है।

प्रश्न : अभी आपने फरमाया कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पर्याय पर दृष्टि रखने से नहीं होगा, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखने से होगा तो फिर क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की जरूरत ही क्या है ? बस, हम तो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय ले लें न ?

उत्तर : ले सकते हो तो ले लो न, कौन मना करता है ? पर विकल्प में पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय हुए बिना पर्याय पर से दृष्टि हटती कहाँ है ? और ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाये बिना क्रमबद्धपर्याय का भी सच्चा निर्णय नहीं होता है। तथा ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो ही जाता है। अत: क्रमबद्धपर्याय के निर्णय नहीं करने की बात कहाँ रही ? ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने के पहिले आगम व युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक निर्णय तो हो सकता है, सच्चा नहीं, पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके बिना पर्याय की महिमा हटती ही नहीं, पर्याय से दृष्टि हटती ही नहीं।

प्रश्न : तो इसका मतलब यह हुआ कि पहिले आगम और युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक ज्ञान में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें, फिर जब हमारी दृष्टि, पर्याय पर से हटकर ज्ञायकस्वभाव पर जाएगी, स्थिर होगी, तब क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा होगी ?

उत्तर : हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है।

प्रश्न : आगम के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें—यह बात तो ठीक, पर लोगों का तो यह कहना है कि शास्त्रों में तो कहीं क्रमबद्धपर्याय आयी नहीं है—यह तो आपने नयी निकाली है।

उत्तर : नहीं भाई ! ऐसी बात नहीं है। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर क्रमबद्ध की बात आयी है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में है। वहाँ आत्मख्याति टीका में 'क्रमनियमित' ऐसा मूल पाठ है।

प्रश्न : क्रमनियमित का अर्थ क्या है ?

उत्तर : क्रमनियमित शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है, वही आएगी, उसमें फेरफार नहीं हो सकता।

प्रश्न : समयसार में तो है, पर किसी और भी शास्त्र में है या नहीं ? समयसार तो आपका ही शास्त्र है।

उत्तर : लो, यह अच्छी बात कही। समयसार हमारा कैसे है ? हम तो उसे पढ़ते हैं; है तो परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव का।

प्रवचनसार में भी गाथा 99, 100, 101 व 102 में है। विस्तार से सब बात कही है। जन्मक्षण और स्व-अवसर की बात आती है। आकाश के प्रदेशों (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाहक्रम) समझाया है। जैसे—जो प्रदेश, जहाँ-जहाँ है, वह वहीं-वहीं रहता है, उसमें आगे-पीछे होना सम्भव नहीं; उसी प्रकार जो-जो पर्यायें, जिस-जिस काल में होनी हैं, वे-वे पर्यायें उसी-उसी काल में होंगी; उनका आगे-पीछे होना सम्भव नहीं।

प्रत्येक पर्याय स्वयं सत् है, अहेतुक है। समयसार के बन्धाधिकार में पर्याय को अहेतुक कहा है।

प्रश्न : पर्याय अहेतुक तो है, पर इसके बाद यही होगी – यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर : इसमें नहीं हो सकने की क्या बात है ? इसके बाद यही होगा; जो होनेवाली है, वही होगी – ऐसा ही है। मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझाया है न ? जैसे – माला में जो मोती जहाँ हैं, वही रहेंगे। यदि उन्हें आगे-पीछे करें तो माला टूट जाएगी; उसी प्रकार जो पर्याय जिस समय होनी होगी, उसी समय होगी, आगे-पीछे करने से वस्तु व्यवस्था ही न बनेगी। उसके आगे-पीछे होने का कारण क्या है ? वह अकारण तो आगे-पीछे हो नहीं जावेगी। यदि कोई कारण है तो फिर पर्याय अहेतुक नहीं रहेगी।

प्रश्न : प्रवचनसार भी तो कुन्दकुन्द का ही है। क्या किन्हीं और आचार्यों के शास्त्रों में क्रमबद्ध की बात नहीं आती ?

उत्तर : क्यों नहीं आती ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321 से 323 तक में आती है। चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में किसी न किसी रूप में यह बात आती ही है।

फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रों में है। यदि सीधी समझ में नहीं आती है तो सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिए। 'केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा, वैसे ही होगा' का यही अर्थ तो होता है कि भविष्य में जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी।

प्रश्न : आप क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने में सर्वज्ञता का सहारा क्यों लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ?

उत्तर : अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझ में न आ सके तो सर्वज्ञता का सहारा लेना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता रहती है।

प्रश्न : सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता कैसे रहती है ?

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान तीन लोक के समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एक साथ जानते हैं। भूतकाल और वर्तमान पर्यायों के साथ-साथ वे भविष्य में होनेवाली पर्यायों को भी जानते हैं।

प्रश्न : जानते हैं का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय भविष्य में जिस समय जैसी होनी है, उसे सर्वज्ञ अभी जानते हैं। अत: जो भावी पर्यायें, सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसी आई हैं, वे वैसी ही होंगी; उनमें कोई फेरफार सम्भव नहीं है।

केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अरिहन्त का निर्णय। प्रवचनसार गाथा 80 में आता है कि अरिहन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, उसका मोह नाश होता है।

हमें त्रेसठ वर्ष पहिले फाल्गुन सुदी 14 के दिन यही भाव अन्दर से आया था। शब्द ख्याल में नहीं थे, वाचन भी नहीं था, पर भाव यही ख्याल में आया था।

प्रश्न : केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में अविद्यमान-अप्रगट होने पर भी सर्वज्ञ भगवान उन्हें वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्त काल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्त काल पश्चात् होनेवाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी उन्हें केवलज्ञान वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहाहा! जो पर्यायें हो चुकीं और होनेवाली हैं; ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष; जाने, उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं - ऐसा नहीं है, किन्तु उन सभी पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें, केवलज्ञान में विद्यमान ही हैं। ओहो! एक समय की केवलज्ञान की पर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है, तो पूरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक होगी? उसका क्या कहना?

आहाहा! पर्याय का गुलांट मारना, यह कोई छोटी बात है? पर्याय तो अनादि से पर में ही जा रही है, उसको पलटकर अन्दर में ले जाना है। गहराई में ले जाना महान पुरुषार्थ का कार्य है। परिणाम में अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें - यह पुरुषार्थ अपूर्व है।

प्रश्न : केवली भगवान निश्चय तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो वे व्यवहार से जानते हैं - ऐसा नियमसार में कहा है; और समयसार में व्यवहार को झूठा कहा है।

झूठा अर्थात् असत्यार्थ.... इसका अर्थ क्या?

उत्तर : व्यवहार है ही नहीं - ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यवहार जानने लायक है - ऐसा 12 वीं गाथा में कहा है। वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वथा झूठा नहीं है, उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। प्रवचनसार की टीका में पाण्डे हेमराजजी ने कहा है कि व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है, अभाव करके असत्य नहीं कहा है।

प्रश्न : तो क्या केवली पर को जानते नहीं?

उत्तर : कौन कहता है ? जानते तो वे सभी पदार्थ हैं।

प्रश्न : फिर उनके पर के जानने को व्यवहार क्यों कहा ?

उत्तर : पर है, इसलिए तथा तन्मय होकर नहीं जानते इसलिए भी।

प्रश्न : क्रमबद्ध मानने से सब गड़बड़ हो जाता है।

उत्तर : गड़बड़ तो क्रमबद्ध नहीं मानने से होता है। क्रमबद्ध मानने से तो सब गड़बड़ उड़ जाती है। वस्तु में तो कहीं गड़बड़ है नहीं, वह तो पूर्ण व्यवस्थित है। अज्ञानी की मति ही गड़बड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से मति व्यवस्थित हो जाती है।

प्रश्न : जब हमारे करने से कुछ होता ही नहीं है तो फिर कोई कार्य क्यों करेगा ? जब कोई बनाएगा नहीं तो यह पण्डाल कैसे बनेगा ? कारखाने कैसे चलेंगे ? सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाएगी।

उत्तर : कौन पण्डाल बनाता है, कौन कारखाने चलाता है ? अज्ञानी पण्डाल बनाने और कारखाने चलाने का अभिमान करते हैं – यह बात तो सही है, पर बनाता या चलाता कोई किसी को नहीं। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव है तो तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में क्या कर सकता है ? अत्यन्त अभाव का अर्थ क्या ? यही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। छूए तो अभाव नहीं रहे।

प्रश्न : यदि आप ऐसा उपदेश देंगे तो लोग आलसी हो जायेंगे। जब उसके करने से कुछ होता ही नहीं तो कोई पुरुषार्थ क्यों करेगा ?

उत्तर : क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ही सच्चा पुरुषार्थ है; क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय करने में ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जिस प्रकार ज्ञायक में भव नहीं; उसी प्रकार क्रमबद्ध के निर्णय करनेवाले को भी भव नहीं होते, एक-दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञेय तरीके से रहते हैं।

अपनी मति में क्रमबद्ध की व्यवस्था को व्यवस्थित करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

प्रश्न : पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आएगा, तभी प्रगट होगी – ऐसी स्थिति में अब करने क्या रह गया ?

उत्तर : व्यवस्थित पर्याय है – ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय, द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिसमें से प्रगट होती है, ऐसे द्रव्य सामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं।

प्रश्न : क्रमबद्ध में करने के लिए क्या आया ?

उत्तर : करना है कहाँ ? करने में तो कर्तृत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाए – यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध में कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। पर में तो कुछ कर सकता नहीं, अपने में भी जो होनेवाला है, वही होता है, अर्थात् अपने में भी जो होनेवाला है, वही होता है, उसका क्या करना ? राग में भी कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय से भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति में तो ज्ञाता–दृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ – ऐसी बुद्धि भी छूट गयी, राग को करूँ – यह बात तो दूर रह गयी। अरे ! ज्ञान करूँ – यह बुद्धि भी छूट जाती है। कर्तृत्वबुद्धि भी छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग में अटकना है, उसे क्रमबद्ध की बात जमी ही नहीं। राग को करना, राग को छोड़ना – यह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो होती ही है, उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है, उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्ध पर्याय आए, उसको करूँ, लाऊँ – ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय में होनेवाला राग और होनेवाली शुद्ध पर्याय, उसको करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्ध पर्याय के कर्तृत्व का विकल्प शुद्धस्वभाव में है ही नहीं। अकर्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर आप सिद्ध क्या करना चाहते हैं ?

उत्तर : क्रमबद्ध के सिद्धान्त से मूल तो अकर्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा, परद्रव्य का तो कर्ता है ही नहीं, राग का भी कर्ता नहीं और पर्याय का भी कर्ता नहीं। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण जो होने योग्य है, वही होती है। परन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। क्रमबद्ध का निर्णय करने जाए तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायकधातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी

जाननेवाली जो पर्याय प्रगट होती है, वह क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभावसन्मुखवाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता, पर्याय में तभी प्रगट होती है, जब वीतरागस्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है। समयसार गाथा 320 में कहा है कि ज्ञान, बन्ध-मोक्ष को कर्ता नहीं है, किन्तु जानता ही है। आहाहा! मोक्ष को ज्ञान जानता है; मोक्ष को करता है – ऐसा नहीं कहा। अपने में होनेवाली क्रमसर पर्याय का कर्ता – ऐसा नहीं, किन्तु जानता है। गजब बात है।

प्रश्न : जब कुछ करना ही नहीं है तो फिर आप आत्मा का अनुभव करने का, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि का उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर : हम कहाँ देते हैं उपदेश? वाणी तो जड़ है, अत: जड़ के कारण ही निकलती है। परमपूज्य अमृतचन्द्राचार्यदेव आत्मख्याति के अन्त में लिखते हैं कि टीका हमने लिखी है – ऐसा जानकर मोह में मत नाचो। यह तो अक्षरों और शब्दों की परिणति है, हमारी नहीं। भाषा तो हमारी है ही नहीं, समझाने के विकल्प को भी मात्र जानते हैं और वह भी व्यवहार से; निश्चय से तो हम मात्र अपने को जानते हैं।

प्रश्न : सभी गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नहीं ?

उत्तर : जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ?

प्रश्न : उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नहीं हुआ तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नहीं कर सका, यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा में निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है ?

उत्तर : उसका परिणमन व्यवस्थित ही है – ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है – ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम यह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे ? पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े।

प्रश्न : व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इस प्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?

उत्तर : नहीं; सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का

निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुन-सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव में हो ही नहीं सकता।

प्रश्न : आप समझाते भी जाते हैं और कहते भी जाते हैं कि हम कहाँ समझाते हैं ?

उत्तर : कौन समझाता है ? कहा न कि भाषा के कारण भाषा होती है, विकल्प के कारण विकल्प होता है और उसी समय भाषा और विकल्प का ज्ञान अपने कारण होता है। उसमें हमारा कर्तापन कहाँ रहा ?

प्रश्न : इसीलिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी में अन्तर है ?

उत्तर : (अत्यन्त गम्भीर होकर) वस्तुस्वरूप ऐसा है, हम क्या करें ? जैसा श्रद्धान, ज्ञान और वचन है, वैसा चारित्र भी होना चाहिए, वह अभी नहीं है; पर श्रद्धा में फेर नहीं है। करनी और कथनी का यह अन्तर तो है ही। पर यह अन्तर तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्तियों के भी था। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सभी ज्ञानियों के होता है – इसमें हम क्या करें ?

प्रश्न : यदि यह श्रद्धा और चारित्र का भेद मिट जावे तो बहुत अच्छा रहे ?

उत्तर : मिट जाए तो क्या कहना ? हम भी तो निरन्तर यही भावना भाते हैं, पर ऋषभदेव के 83 लाख पूर्व तक चारित्रदोष रहा था। एक गुण दूसरे गुण में दोष उत्पन्न नहीं करता – यह महासिद्धान्त है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। चारित्र और वीर्य में दोष है, परन्तु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है।

अन्त में चर्चा में बैठे हुए हजारों लोगों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी बोले— 'आज अच्छी चर्चा रही, पण्डितजी ने अच्छे प्रश्न किये।'

''क्रमबद्ध तो बापू ! जैनदर्शन का मस्तक है, जैनदर्शन की आँख है, वस्तुस्वभाव की मर्यादा है। इसे समझना और निस्सन्देह होना बड़ी अलौकिक बात है। आज भले ही इसे कम लोग समझते हों, पर सुनते हजारों लोग बड़े प्रेम से हैं। सुने भाई ! सुनें, सभी सुनें, पढ़ें और सबका कल्याण हो।''-कहते हुए उन्होंने अपनी बात समाप्त की। ●

— आत्मधर्म (हिन्दी) सितम्बर 1979 से साभार

श्री समयसार गाथा 308 से 311
प्रवचन नं. 281 (13वीं बार के प्रवचन)
दिनांक 20—06—1962, बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण तीन

यह समयसार का (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार) चलता है। सर्वविशुद्धज्ञान प्रगट होता है। किस प्रकार? कि इस आत्मा को परपदार्थ के कार्य क्रम से जो काल की अवस्था पर की होती है, उसका आत्मा अकर्ता है। ऐसा बताकर आत्मा का सर्वविशुद्ध ज्ञातादृष्टापना प्रगट करके बताते हैं।

द्रव्य अर्थात् आत्मा स्वयं सर्वविशुद्ध है। वह नहीं करता आत्मा अपने शुद्ध परिणाम के अतिरिक्त पर के कार्य नहीं करता और रागादि के कार्य नहीं करता। क्यों नहीं करता? कि पर के कार्य उनमें क्रमसर-क्रमबद्ध-क्रमवर्ती क्रमप्रमाण उन परपदार्थ के स्वकाल में उनकी पर्याय क्षण-क्षण में होती है। उसमें इसका-ज्ञानी का लक्ष्य नहीं होता कि यह मेरा कार्य है और मैं इसका कर्ता (हूँ)। धर्मी की दृष्टि अर्थात् कि अकर्तापने के स्वभाव की दृष्टि अर्थात् कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और आनन्द है, ऐसे स्वभाव का भान होने पर, वह पर के कार्य का कर्ता नहीं होता। वह पर्यायबुद्धि में अवस्था के लक्ष्य से वर्तमान राग, पुण्य और निमित्त के लक्ष्य के अस्तित्व में इतना हूँ, ऐसा माननेवाला पर के कार्य करूँ और पर से मुझमें कुछ कार्य हो, ऐसी जो मिथ्यादृष्टि की भ्रमणा है। यह आत्मा ज्ञान और आनन्द है, वह पर का कर्ता नहीं, (ऐसा) अकर्ता सिद्ध होने पर सम्यग्दर्शन और ज्ञानपर्याय प्रगट होती है। कहो समझ में आया?

कहते हैं कि **प्रथम तो जीव...** आत्मा **क्रमबद्ध...** आत्मा में क्रम-क्रम से जिस-जिस समय के काल में जो पर्याय की माला—पर्यायमाला... ९९वीं गाथा में कहा था वह तो पूरी माला। यह तो पर्यायमाला। अर्थात् समय-समय में जो अवस्था जिसरूप होती है, उसरूप अपने क्रमबद्ध ऐसे अपनी पर्याय में उपजता हुआ। अपनी पर्याय में उपजता हुआ। वह दूसरे को उपजाता नहीं। शरीर को, वाणी को, कर्म को, देश के, कुटुम्ब के लोग, दूसरे जीव की किसी भी पर्याय-परिणाम-अवस्था, उसे यह आत्मा उपजाता नहीं है।

अज्ञानी भी उपजाता नहीं परन्तु अज्ञानी स्थिति देखकर बाह्य के काम में कार्य उसके कारण से होते हैं, वहाँ मेरे कारण से होते हैं, ऐसा वर्तमान बुद्धि में मिथ्या अहंकार करता है।

जीव क्रमसर-क्रमबद्ध... क्रमबद्ध अर्थात्? और उसमें डाला है कि एक पर्याय दूसरे से बँधी हुई है, ऐसा नहीं। पण्डितजी ने डाला है न? **क्रमबद्ध ऐसे...** क्रमबद्ध अर्थात् बँधे हुए, ऐसी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो क्रम-क्रम से जो पर्याय की हारमाला, जो दशा की जो अवस्था की जीव को होनी है, उसमें उस अवस्था में जीव ही स्वयं उपजता है। द्रव्य ही उसमें उपजता है। ऐसी पर्याय को दूसरा कोई उपजावे और दूसरे को जीव कुछ कार्य की दशा उपजावे, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। समझ में आया?

जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से... अर्थात् पर्याय, पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् दशा, उससे (उपजता हुआ जीव ही है)। क्यों? कि जीव भी उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् पदार्थ है। पश्चात् अजीव का भी लेंगे। जीव भी नयी अवस्था से उपजे, पुरानी अवस्था से बदले—व्यय हो, सदृशरूप रहे। ऐसा जीव समय-समय में अपने परिणाम में स्वयं उपजता है। समझ में आया? परिणामों से-पर्यायों से **उत्पन्न होता हुआ...** अर्थात् क्षण-क्षण में जो नये परिणाम-पर्याय होती है, उसका कार्य करता हुआ, उस अवस्था में परिणमता हुआ। परन्तु यह बात इसके ख्याल में कब आवे? कि इसकी दृष्टि संयोग के लक्ष्य से छूटकर वर्तमान पुण्य-पाप के विकल्प और राग से लक्ष्य छूटकर यह वस्तु स्वयं शुद्ध तत्त्व है, उसे स्वयं ध्येय में / लक्ष्य में लेकर, यह आत्मा अपने परिणामरूप से उपजता है—ऐसा भान हो, वहाँ पर के कार्य का करनेवाला मैं और पर के कार्य मेरे, यह दृष्टि उड़ जाती है। उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया?

कहते हैं कि अपने परिणाम—अपनी अवस्था—जीव की दशा जो क्षण-क्षण में होती है, उसमें स्वयं उपजता है, इसलिए उसे जीव कहा जाता है। वह **अजीव नहीं है...** अर्थात्? जीव स्वयं आत्मा वर्तमान परिणाम-पर्याय में उपजता हुआ वह सब जीव है, अजीव नहीं। अर्थात् कि दूसरे जीव और दूसरे जड़ इसके परिणाम में आते हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? लो! यह तो क्रमबद्ध। यह क्रमबद्ध आया है 'जड़ और चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न।' जिस काल में जो स्वकाल-उसका स्वकाल अर्थात् उसके काल की

लब्धि। जिस समय की जिस अवस्था की लब्धि अर्थात् प्राप्ति, उस काल में उस पर्याय की प्राप्ति में आत्मा उपजता है। दूसरे को उपजाता नहीं और दूसरे से उपजता नहीं। समझ में आया इसमें? अब इसमें किसे करना? अपने परिणाम जो उस काल के, उसमें वह उपजता है। वह उल्टी-सीधी पर्याय में उपजे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर तो नहीं उपजावे परन्तु अपना स्वभाव ऐसा नहीं है। जो क्रम-क्रम से प्राप्य, जिस समय की अवस्था उस प्रकार का नियत ध्रुव, जैसे द्रव्य शाश्वत् वस्तु है, वैसे जिस समय की जो अवस्था निश्चय ध्रुव सत् जिस प्रकार से आवे, उसमें वह स्वयं परिणमता है। समझ में आया? यह सूक्ष्म बात है। यह क्रमबद्ध की बात आयी। तुम्हारे न्यायतीर्थ में आया होगा? कहाँ आवे? वहाँ गड़बड़ घोटाला विपरीत (हो)।

भगवान आत्मा प्रथम... प्रथम अर्थात् जो यह रकम की मूल बात लें तो क्रमबद्ध समय-समय में वह अवस्था, जिस काल की जिस प्रकार की प्राप्य अवस्था है, उसे वह आत्मा पहुँचता है। ऐसा निर्णय करने पर उसे पर के कार्य की मिथ्यादृष्टि छूट जाती है और राग की कर्तृत्वबुद्धि छूटे और राग तथा पर का अकर्ता होकर ज्ञाता-दृष्टा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसका नाम धर्म कहा जाता है। कहो, समझ में आया? पंचाध्यायी में नहीं लिया? कि व्यवहार के ऊपर दृष्टि देनेवाला खण्डित हो गया। भाई! आता है न? व्यवहार अर्थात् वर्तमान राग और भेद और निमित्त के ऊपर दृष्टि देनेवाला खण्डित हो गया-मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

मुमुक्षु : हिन्दी में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हिन्दी में बराबर नहीं आता। अधिकार सूक्ष्म है न!

ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा है, वह अपनी वर्तमान पर्याय, पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् दशा, उस दशारूप आत्मा ही उपजता है। उसकी पर्याय को उपजानेवाला दूसरा पदार्थ नहीं है और आत्मा दूसरे पदार्थ की पर्याय अर्थात् कार्य नहीं कर सकता। कहो, कैसे होगा, शान्तिभाई! यह सब? बहुत से करते हैं। लोग कहते हैं, हम इसमें करते हैं, हम ऐसा करते हैं। पढ़े हो तो हम ऐसा कर दें, दूसरे का कर दें। मिथ्यादृष्टि है। दृष्टि में खण्ड-खण्ड हो गया है। समझ में आया? भगवान आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि

क्रमबद्ध—जो पर्याय/ अवस्था / परिणाम आनेवाले हैं, उसमें ही उपजता है। उस कार्य का कर्ता आत्मा है। उस कार्य का कर्ता दूसरा पदार्थ नहीं है। और दूसरे पदार्थ का कार्य यह हलन-चलन होता है या नहीं ? उसके कार्य का कर्ता आत्मा नहीं है। समझ में आया ? वह जीव ही है। 'जीव ही' कहने से दूसरा पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं। अपने स्वभाव से अपने वर्तमान काल में-चालू काल में जो आनेवाली वस्तु में जो पर्याय है, सत् में, सत् में, सत् में कारण में कार्य कथंचित् है। वस्तु में कार्य कथंचित् है। कार्य अर्थात् पर्याय, पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् दशा, दशा अर्थात् वर्तमान काम। वह काम वर्तमान में होना है, वह सत् में-द्रव्य में पड़ा है। उस द्रव्य में जब उसका काल लागू पड़ता है, उस समय में आनेवाला, तब आता है। और उस पर्यायरूप आत्मा उपजता है। ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता का ढिंढोरा है। समझ में आया ? भाई !

यह सब क्रमबद्ध का विवाद उठाते हैं कि नियत हो जाएगा, तब तो नियतवाद हो जाएगा। क्या कहते हैं ? एकान्त नियतवाद हो जाएगा। भगवान ! यह नियत-सम्यक्नियत ही है। परन्तु यह निर्णय करनेवाला मैं आत्मा... आत्मा-जीव यह वस्तु और मेरी वर्तमान उत्पन्न होनेवाली पर्याय, उसमें मैं उपजता हूँ। पर के कर्तापने और राग के कर्तापने की दृष्टि उड़ गयी और जीवद्रव्य वह मेरी वर्तमान पर्याय में मैं ही उपजता हूँ, तो द्रव्य के ऊपर दृष्टि हुई और पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय उत्पन्न हुई, उसका भी ज्ञान हुआ। सूक्ष्म बहुत परन्तु, भाई ! यह वीतरागदर्शन सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ देवाधिदेव, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, वे कहते हैं कि सुन तो सही ! तेरी चीज़ क्या हो रही है ? समझ में आया ? तुझमें क्या हो रहा है और तू किस प्रकार मानता है, इसकी तुझे खबर नहीं है।

कहते हैं, प्रथम तो हमें यह बात कहनी है कि जीव क्रमबद्ध—क्रम-क्रम से होनेवाली जो पर्याय, ऐसे अपने परिणाम। एक परिणाम कहाँ लिया है यहाँ ? समझ में आया ? अनेक वर्तमान अनन्त गुण, उनके अनन्त परिणाम, बाद के समय के इसके अनन्त गुण के परिणाम क्रमबद्ध ऐसी अपनी पर्यायों से (रहे हुए हैं)। अनन्त ज्ञान की पर्याय, जो ज्ञानगुण है, उस ज्ञानगुण को धरनेवाला द्रव्य है। ज्ञानगुण को धरनेवाला द्रव्य ऐसा

जीवद्रव्य अपने परिणाम से उपजता है। आत्मा अपने ज्ञान की वर्तमान पर्याय जो प्राप्य अर्थात् होनेवाली है, उसमें आत्मा उपजता है। समझ में आया? ज्ञानावरणी का निमित्त है, इसलिए ज्ञान के परिणाम हीन उत्पन्न हुए और उसके कारण ऐसा हुआ, यह वस्तु में नहीं है। समझ में आया?

जीव कहा है न? तो जीव तो अनन्त गुण का पिण्ड है। जीवद्रव्य तो अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें अनन्त गुण है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व अनन्त शक्ति का एकरूप, वह द्रव्य है। ऐसा द्रव्य क्रम-क्रम से होते ज्ञान के परिणामरूप उपजता हुआ भी जीव ही है। समझ में आया? ज्ञान की जो सम्यक् पर्याय उपजे, उसरूप उपजता हुआ जीव ही है। यह ज्ञानावरणी का कुछ उघाड़ हुआ, इसलिए यहाँ ज्ञान के परिणामरूप से जीव उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं है। है? भाई! पुस्तक है? पुस्तक समयसार। क्रमबद्ध का अधिकार सूक्ष्म आया है। समझ में आया इसमें कुछ? कहते हैं, भगवान आत्मा वस्तु है न? वस्तु, तो उसमें ज्ञानगुण है। उस ज्ञान का धारक द्रव्य है। जीव ज्ञानगुण से अपनी पर्याय जो ज्ञान की होती है, उसमें जीव ही उपजता है, द्रव्य ही उपजता है। उस ज्ञान की पर्याय में दूसरे कर्म के कारण से विघ्न होता है और कर्म का उघाड़ होवे तो अपनी पर्यायरूप उपजे, ऐसा वस्तु की स्थिति में है नहीं।

इस प्रकार जीवद्रव्य में अपनी श्रद्धा-शक्ति नाम का उसमें गुण है। श्रद्धा-शक्ति। आत्मा अपने द्रव्य की श्रद्धा-शक्ति के द्रव्य के परिणमन से अपने में सम्यग्दर्शन की जो पर्याय हुई, उसमें आत्मा उपजता है। उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में आत्मा उपजता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भगवान के दर्शन से हुई या जातिस्मरण से हुई या वेदना के कारण से हुई, ऐसा शास्त्र में आता है न? समझ में आया? नहीं। भगवान आत्मा में श्रद्धा नाम का गुण पड़ा है। उस गुण में क्रमसर आनेवाली, उसके काल में आनेवाली जो पर्याय— सम्यग्दर्शन की पर्याय, उसमें आत्मा उत्पन्न होता है। समझ में आया? वह भगवान के कारण से पर्याय नहीं उत्पन्न होती, ऐसा कहते हैं। व्यवहारनय के जितने कथन शास्त्र में आते हैं, वे सब तो निमित्त का ज्ञान करानेवाले हैं। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अपना श्रद्धा-गुण नाम का जो स्वभाव; जीवद्रव्य स्वभाववान—श्रद्धागुण स्वभाव, तो वह जीवद्रव्य

अपने स्वभाव के परिणमन द्वारा अपनी सम्यग्दर्शन पर्यायरूप आत्मा ही उपजता है। वह आत्मा है, उसे आत्मा कहते हैं। परजीव और अजीव, सर्वज्ञ परमात्मा है तो उनके कारण से वह पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसा नहीं है।

क्षायिक सम्यग्दर्शनरूप उपजता है। लो, शास्त्र में आता है या नहीं? कि भगवान और श्रुत और श्रुतकेवली के समीप में क्षायिक समकित होता है। सुना है या नहीं? क्षायिक समकित होता है, वह श्रुतकेवली और तीर्थंकरकेवली के समीप में उत्पन्न होता है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा के समीप में उत्पन्न होता है। समझ में आया? मूल पदार्थ का स्वरूप ज्ञया है और कैसे बन रहा है, इसने कभी विचार और अन्तर मनन किया नहीं। उसे विचार की धारा के ऊपर इसने लिया नहीं।

यह वस्तु, इसका श्रद्धा नाम का गुण, इसका वर्तमान गुण का काल, सम्यग्दर्शन पर्याय जो इसमें सत्‌रूप कथंचित् थी, उसके कालरूप से उस पर्यायरूप आत्मा उत्पन्न हुआ है। उस पर्यायरूप उस सम्यग्दर्शन के कार्य में दूसरे का अधिकार—किसी निमित्त का, संयोग का, भगवान की वाणी हुई, इसलिए या समवसरण में क्षयोपशम समकिती क्षायिक समकितरूप हुआ, क्षयोपशम का काल तो पूर्व का है, अब वर्तमान जब क्षायिक समकितरूप हुआ तो जीव ही उसके परिणाम में क्रमसर वह क्षायिक पर्याय आनेवाली थी, उसमें वह जीव उत्पन्न हुआ है। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? यह तो गुजराती समझते हैं। दिल्ली में तो यहाँ का वाँचन होता है। आत्मधर्म गुजराती का होता है।

कहते हैं, आत्मा में एक चारित्रशक्ति पड़ी है। चारित्रशक्ति—गुण-गुण। जीव ही द्रव्य के ऊपर लक्ष्य देने पर, द्रव्य यह है, (ऐसे) उस पर लक्ष्य देने से वह चारित्रगुण, द्रव्य समुदायरूप से परिणमता है तो उसमें चारित्रगुण की पर्यायरूप आत्मा उपजता है। समझ में आया? उस चारित्रगुण की पर्याय यह बाहर जो ऐसे वस्त्र बदले और नग्नपना किया, इसलिए चारित्र की पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसा नहीं है। वैसे पूर्व में उसके क्रम में विकल्प आया था कि मैं चारित्र अंगीकार करूँ, उस विकल्प के कारण से भी चारित्र का परिणमन हुआ नहीं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। वस्तुस्वभाव भगवान आत्मा द्रव्य वस्तुस्वभाव, उसमें रहा हुआ चारित्रगुण त्रिकाल है, वह द्रव्य, वह द्रव्य उपजता है, वह द्रव्य उपजता

है—ऐसा लक्ष्य करनेवाले को द्रव्य लक्ष्य में आता है। समझ में आया? अजीव की (बात) बाद में आयेगी। यह तो अभी जीव की बात चलती है न? जीव वस्तु स्वयं चारित्रगुण सम्पन्न त्रिकाल है। उस जीव का यह जीव वर्तमान परिणामरूप पर्यायरूप उपजता है, ऐसा निर्णय होनेवाले को जीव यह है, ऐसी दृष्टि और लक्ष्य होने पर, उसका चारित्रगुण का जो शक्ति-भाव वह वर्तमान चारित्र अर्थात् अराग-वीतरागपर्यायरूप चारित्र परिणमे, वह जीव स्वयं ही वर्तमान में जीव स्वयं ही उत्पन्न होता है। यह बड़े न्याय हैं। भाई! यहाँ बड़े न्यायतीर्थ पढ़े। कहाँ 'ब्यावर' में पढ़े हैं। कहाँ? ब्यावर। वहाँ है न। यह न्याय। नि धातु। नि अर्थात् ले जाना-ले जाना। जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसमें ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय कहते हैं। कहते हैं, यह तो महा अधिकार है। लोगों में क्या कुछ कहते हैं न? अमुक महा अधिकार और... समझ में आया? सात दिन से पारायण लगाते हैं न? नहीं? वहाँ दस दिन की पारायण अपने पूरी हो गयी। राजकोट। नहीं?

कहते हैं, प्रभु! एक बार तेरी पारायण तो सुन। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा अनन्त चक्षु, ऐसे दिव्यचक्षु जिसके खिले और प्रगट हुए, वे भगवान ऐसा वर्णन कर कथन कर रहे हैं कि तेरा द्रव्य और सब द्रव्य... यहाँ तो जिसे द्रव्य का लक्ष्य होता है, ऐसा द्रव्य। समझ में आया? यह जीवद्रव्य, वह चारित्ररूप परिणमता है, वह किस कारण से? कोई पूर्व के शुभराग के कारण से? अथवा वर्तमान राग वर्ते, उसके कारण से चारित्ररूप परिणम रहा है? नहीं। वह द्रव्य ही स्वयं वस्तु की दृष्टि देने से वस्तु स्वयं परिणमनपने को पावे, उसमें यह चारित्रगुण के पर्यायरूप जीव स्वयं उत्पन्न होता है। इसलिए जीव स्वयं कर्ता है। यह आस्रव के कारण से उपजे, तब तो आस्रव हो जाए। राग के कारण से उपजे तो वह जीव न रहे, आस्रव हो जाए। वर्तमान राग है अभी सम्यग्दृष्टि और मुनि को शुभराग (है), उसके कारण से चारित्र पर्याय उपजे तो जीव न रहे। समझ में आया?

भगवान आत्मा वस्तुरूप से अनन्त-अनन्त गुण का भण्डार, अनन्त शक्ति का भण्डार, ऐसी चीज़ के ऊपर दृष्टि देने से, उसका लक्ष्य करने से, उसका चारित्रगुण वर्तमानरूप से वर्तमान उस चारित्रगुण में भी कथंचित् पर्याय होने की उसमें ताकत पड़ी है। कारण में कार्य का सत्पना है। वह कारण परिणमते हुए वह जीव ही स्वयं पूरा

समुदायरूप से प्रत्येक पर्याय में स्वयं उपजता हुआ उसे जीव कहा जाता है। वह राग से नहीं उपजता, निमित्त से नहीं उपजता, मनुष्य देह प्राप्त हुई, इसलिए कान में वाणी पड़ी, इसलिए चारित्ररूप उपजता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

इसी प्रकार आनन्दरूप से। भगवान आत्मा वस्तुरूप से है, उसमें आनन्द नाम का एक गुण है। अतीन्द्रिय आनन्द। तो कहते हैं कि आत्मा / जीव स्वयं उस आनन्दगुण के साथ अनन्त गुण के साथ पर्यायरूप से परिणमता हुआ उस आनन्द की अवस्थारूप आत्मा उपजता है। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु, यह पूर्व में कोई कल्पना की कि मुझे ऐसा आनन्द आवे कि ऐसा आनन्द मुझे हो, इस कारण से आनन्द परिणमता नहीं। समझ में आया? यह तो आत्मा में आनन्दगुण है तो आत्मा, प्रथम यह बात है कि आत्मा अपनी आनन्द की पर्यायरूप से, परिणामरूप से, दशारूप से वह वर्तमानपने त्रिकाल वर्तमानपने उपजता हुआ वह जीव है। उसमें दूसरे राग का या निमित्त का अधिकार नहीं है। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मवीर्य आत्मा में एक वीर्य नाम का—बल नाम का गुण है कि जो आत्मा स्वयं, प्रथम तो स्वयं, दूसरे की बात छोड़ दे, कहते हैं। भगवान आत्मा में वीर्य नाम का—बल नाम का गुण है, उस वीर्यरूप वर्तमान पर्याय ज्ञान की, दर्शन की, आनन्द की रचने में वीर्य का जो परिणमन हुआ, उस परिणामरूप जीव उत्पन्न हुआ है। समझ में आया? उस आत्मा के बल के पर्यायरूप जीव-आत्मा उत्पन्न हुआ है, उस वीर्य की रचना के कार्य में आत्मा उत्पन्न हुआ है। उसके कार्य में कोई अच्छा काल था... शास्त्र में ऐसा बहुत आता है कि अच्छा काल होवे तो वीर्य की वृद्धि हो और अमुक हो और शक्ति मिले, रूखा आहार होवे तो वीर्य घट जाए, यह तो सब निमित्त की बातें हैं। समझ में आया?

भगवान आत्मा इस वस्तु में जो वीर्य नाम का—आत्मबल नाम का, आत्मशक्ति नाम का, स्वरूप को रचे, ऐसी पर्याय में रचना करे, द्रव्य-गुण और पर्याय में वीर्य व्याप जाता है, ऐसा जो वीर्यगुण है, उस आत्मद्रव्य का ध्येय / लक्ष्य करने से जीव स्वयं उस वीर्य नाम के परिणामरूप से जीव उपजता है। उस बल के लिये किसी की सहायता या किसी की मदद, किसी का सहारा नहीं है। यहाँ तो निमित्त और सब उड़ जाता है। निमित्त-

विमित्त उड़ जाता है। उड़ जाता है अर्थात् इसमें से उड़ जाता है, उसमें रहता है। जहाँ-जहाँ है, उसके स्थान में वह निमित्त होता है। इस स्थान में वह नहीं आता। समझ में आया?

इस प्रकार इसके अनेक गुण हैं। इसका प्रभुता का गुण है। प्रभु आत्मा का प्रभुत्व नाम का एक गुण-शक्ति है। वह भी प्रभुता के सामर्थ्य से पर्यायरूप से द्रव्य स्वयं परिणमता हुआ प्रभुता की-ईश्वरता की पर्यायरूप जीव स्वयं उत्पन्न होता है। उसकी प्रभुता की पर्याय को उत्पन्न करनेवाला विकल्प नहीं है, संहनन नहीं है। केवलज्ञानरूप से भी आत्मा उत्पन्न होता है क्रमबद्ध आये हुए ऐसे जो परिणाम, उस केवलज्ञानरूप जीव उत्पन्न होता है तो भी अपनी प्रभुता की शक्ति से और ज्ञानगुण के परिणमन से उत्पन्न होता है। यह व्रजनाराचसंहनन है और मनुष्य देह है, इसलिए उपजता है, ऐसा नहीं है। परन्तु बहुत सूक्ष्म, भाई!

छह द्रव्य और नौ तत्त्व सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं, इसकी वास्तविकता की बात ही मानो अभी फेरफार हो गयी। फेरफार... फेरफार...। कुछ का कुछ माने और कुछ का कुछ माने और मानते हैं कि हम कुछ धर्म करते हैं। धूल में भी धर्म नहीं है। समझ में आया? यह भगवान के दर्शन के काल में यह शुभपरिणाम होवे तो कहते हैं कि भगवान के कारण से हुए नहीं। यह जीव उस परिणाम से उत्पन्न होता है, परन्तु उसका लक्ष्य जब होता है कि यह तो जीव यहाँ उत्पन्न होता है, तब तो रागरूप उपजा था, यह भी दृष्टि नहीं रहती। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, हों! इसमें? भाई! मुम्बई में ऐसा चलता होगा?

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, दर्शनोपयोग इत्यादि-इत्यादि जो शक्तियाँ हैं, उन अनन्त शक्ति का समुदाय प्रभु आत्मा है और वह आत्मा मुख्य उपजता हुआ उसके वर्तमान काललब्धि, उसके स्वकाल में भी उसमें पुरुषार्थ और स्वभाव सब साथ में आ गया। आत्मद्रव्य तत्प्रमाण उपजे, ऐसा जहाँ पुरुषार्थ से लक्ष्य किया, ज्ञान ने ज्ञेय को—द्रव्य को पकड़ा अर्थात् पुरुषार्थ आया, स्वभाव आया, कालक्रम से जो परिणाम आनेवाले थे, वह भी साथ में आया और उस काल में कर्म के निमित्त का, यहाँ जितना परिणाम निर्मलरूप हुआ, तत्प्रमाण कर्म के निमित्त का अभाव भी कर्म के कारण से होता है। समझ में आया?

सब कर्ता, कर्म और छह कारक और सब सैंतालीस शक्तियाँ हैं न? वह **जीव**

क्रमबद्ध ऐसा अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... पूरा द्रव्य (उपजता है)। दूसरे को–वेदान्तवाले को तो कठिन पड़ता है। यह क्या होगा? और द्रव्य उपजता हुआ। द्रव्य तो कूटस्थ है, जैसा है वैसा। अरे! ऐसा नहीं, सुन न! समझ में आया? कूटस्थ–हिलता नहीं। ऐसे कूट होता है न, कूट पर्वत पर? ऐसा नहीं है। पानी पानीपना रखकर जैसे पानी की तरंग उठती है, वैसे भगवान आत्मा प्रत्येक द्रव्य वस्तुरूप से स्वयं सदृशरूप कायम रहकर वर्तमान विसदृश उत्पाद–व्यय नई अवस्था से उपजता है, तब पुरानी का व्यय होता है, उस उत्पाद में आत्मा ही स्वयं परिणामरूप से पर्यायरूप से उपजता है। ऐसी दृष्टि होने से पर के कार्य जो दशा–पर्याय (होती है), इस शरीर की, कर्म की, पर्याय मैं करता हूँ, यह दृष्टि उड़ जाती है। देश के काम करूँ और कुटुम्ब के करूँ, और दूसरे के करूँ, भाई! क्या होगा यह सब? काम करते होंगे या नहीं सबके? बहुत भाषण करते हैं। ऐसा करना, अमुक का ऐसा करना, व्यवस्था करनी, इसका ऐसा करना और इसमें से परोपकार होता है, परोपकार से कल्याण होगा। कहते हैं कि भगवान! परोपकार अर्थात् तू पर का उपकार कर सकता है, यह बात वस्तु में नहीं है। उसके कार्यरूप से वह उपजता है और तेरे कार्यरूप से तू उपज। दूसरा कोई वस्तु के स्वभाव में दूसरी मर्यादा है ही नहीं। जगत से तो उल्टा है। समझ में आया?

देखो न! अभी लेख आया था, सेवा बड़ा धर्म है। लो! सेवा बड़ा गहन धर्म। योगी का... आता है न? भाई! भाषण करनेवाले यह सब सीखे होते हैं। गहन, योगी का अति गहन। पश्चात्? सेवा करते–करते क्या होगा? सेवा करते हुए सेवा करते हुए वैयावृत्य से तीर्थंकरगोत्र बँधता है। इसलिए परमात्मा हुआ जाता है। भारी सरल बात, भाई! वैयावच्चेणं भन्ते जीवे... २९वें अध्याय में यह बोल डाला। ७३वें बोल में। यह सेवा करने से यह होता है। अरे! भगवान! परन्तु तू कहाँ भूला? दीवार भूला है पूरी। इस अँगुली की अवस्था का ऐसा होना, उसमें तू पहुँच जाए, यह तेरे अधिकार की बात नहीं है, तू दूसरे के कार्य मैं कर दूँ और सेवा कर दूँ, यह (तीन काल में नहीं है)। भाव आवे, शुभराग आवे, परन्तु राग आने पर पर के कार्य करे, यह तीन काल में नहीं होता। यहाँ तो राग आवे, उसरूप उपजे, ऐसी दृष्टि होवे तो वह जीवद्रव्य की दृष्टि नहीं है। समझ में आया?

यह जीव स्वयं क्रम–क्रम से आते हुए ऐसे **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**

जीव ही है... देखो न! कितना विवाद डाला। ज्ञान उससे होता है। सवेरे कौन कहता था? इन्द्रिय से ज्ञान हुआ।...भाई! इन्द्रिय से ज्ञान हो। परन्तु प्रभु! तब निमित्त से, इन्द्रियों से ज्ञान की दशा हुई तो आत्मा वस्तु, उसका ज्ञानगुण, वह सामान्य कायम रहनेवाला, उसकी विशेष अवस्था यदि इन्द्रियों से हुई तो सामान्य ने क्या किया? समझ में आया? भगवान आत्मा वस्तु आत्मा में एक ज्ञानगुण-शक्ति ध्रुवरूप है। अब उसका वर्तमान विशेष। विशेष अर्थात् कार्य; कार्य अर्थात् पर्याय; पर्याय अर्थात् दशा। वह ज्ञान की कार्य-दशा इन्द्रियों से हुई तो विशेष ने क्या किया? खाली रहा विशेष हुए बिना? समझ में आया इसमें कुछ? भाई! सामान्य और विशेष।

आत्मपदार्थ वस्तु है न? उसमें ज्ञानगुण सदृश सामान्य है। सदृश अर्थात् परिणमनरहित सदृश शक्ति सदृश शक्ति। अब वह सदृश शक्ति वर्तमान में विशेष पर्यायरूपी कार्य यदि वह गुण न करे तो फिर विशेष बिना सामान्य रहे किस प्रकार? यदि उस ज्ञान की विशेषता की पर्याय यदि इन्द्रियों ने की तो सामान्य ने क्या किया? सामान्य विशेष पर्यायरहित रहा? इसलिए सामान्य ज्ञानगुण का कार्य-परिणमना, वह विशेष कार्य उसका है। इन्द्रिय से ज्ञान हो, यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया? बात की चीज़ क्या है, वस्तु का स्वभाव क्या है, उसे भूल जाए और विशेष को माने तथा सामान्य को न माने। विशेष अवस्था हुई है। परन्तु हुई किससे? कहाँ से? अध्धर से लटकती है? वह जीव स्वयं सामान्य अनन्त गुणवाला एक तत्त्व, अनन्त सामान्य गुणवाला एक पदार्थ स्वयं परिणमता हुआ उसकी ज्ञानपर्याय के विशेष के कार्यरूप परिणमता है। वह परिणाम से उपजता हुआ जीव उसमें उपजता है। इन्द्रियों से उपजता है, यह पृष्ठ, पुस्तक से ज्ञानपर्याय होती है-ऐसा है नहीं। समझ में आया?

यह तो बड़ा महान सिद्धान्त है। जड़ और चैतन्य की यह दो लाईनें चौदह ब्रह्माण्ड में रहे हुए छह द्रव्य, उनका महासिद्धान्त है। जिसने लक्ष्यगत किया हो, उसे यह समझ में आता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्योंकि जीव स्वयं, यह जीव स्वयं क्रमसर आये हुए परिणाम में यह उत्पन्न होता है। इसकी दृष्टि पर से हटकर, राग से हटकर जीव स्वयं श्रद्धा, चारित्र, शान्ति, ज्ञान वर्तमान विशेष पर्याय, वह विशेष पर्याय कहो या कार्य

कहो, उस कार्यरूप अपने अनन्त गुण की पर्याय के कार्यरूप जीव स्वयं उपजता है। पर्याय कहो, कार्य कहो, विशेष कहो, अवस्था कहो, दशा कहो। यह न्याय से-लॉजिक से बात चलती है, हों! ऐसी की ऐसी बैठाने की बात नहीं है। तुम्हारे न्यायतीर्थ में क्या होगा, कौन जाने? समझ में आया इसमें?

कहते हैं, एक बार इस सत्य के पक्ष में तो आ (कि) सत्य कैसा है? सत्य परमेश्वर है। यह सत्य परमेश्वर है। परम ईश्वरता धारण जड़ में जड़ की ईश्वरता है और चैतन्य में चैतन्य की (ईश्वरता है)। सत्य, वह ईश्वर है। सत्य ऐसा आत्मतत्त्व अपने प्रत्येक गुण के परिणाम, अनन्त गुण के परिणामरूप वह जीव ही स्वयं उत्पन्न होता है। ऐसा होने से पर के कार्य के लिये मुझे पर की राह देखनी पड़े या पर के कार्य के लिये मुझे वहाँ जाना पड़े तो उसके कार्य हों, यह बात इसकी दृष्टि में-सत्य में रहती नहीं। समझ में आया? यह इतना आया, लो!

वह **जीव ही है, अजीव नहीं;...** अर्थात् क्या? कि वह दूसरा जीव वहाँ इस कार्य को बनाता है या दूसरा जड़ उस अवस्था को बनाता है, ऐसा नहीं है। अनेकान्त किया है। इसका नाम अनेकान्त। यह तो कहे, जीव के परिणाम स्वयं भी कथंचित् उपजावे और निमित्त भी कथंचित् उपजावे, इसका नाम अनेकान्त। ऐसा नहीं हो सकता। उसकी एक समय की पर्याय में उसके दो धर्म हैं। जीव ज्ञानरूप से उपजे, वह अपने अस्तित्वरूप से उपजा और पर के कारण नहीं, इसलिए पर से नास्तिरूप है। इसलिए कहा, अजीव नहीं। उसके उपजने में दूसरा कोई नहीं। इसलिए दूसरे का उसमें अभाव है। इसके-जीव के अपनी दशा के भावरूप उपजता हुआ जीव है और दूसरा जड़ या दूसरा जीव उसमें नहीं है। सर्वज्ञ भगवान वे भी इसकी पर्याय में उपजाने में वह जीव नहीं। समझ में आया?

सम्मेदशिखर के दर्शन से परित संसार हो जाता है, लो! अरे! भगवान! सम्मेदशिखर तो परवस्तु है। साक्षात् त्रिलोकनाथ चैतन्य प्रभु समवसरण में विराजमान हों, तो भी कहते हैं, जीव तेरा तेरे गुण के वर्तमान परिणामरूप से परिणमता है। हमारा लक्ष्य छोड़, लक्ष्य कर जीवद्रव्य के ऊपर। वह जीवद्रव्य ही उसके ज्ञान, दर्शन और आनन्द के परिणामरूप उपजता है, ऐसी वस्तु की मर्यादा है। मेरे कारण से तुझमें उपजे और तेरे कारण से मुझमें

उपजे, ऐसी वस्तु के स्वरूप में दशा नहीं है। कटारियाजी! यह तो समझते हैं न? यहाँ तो गुजराती में आवे उतना हिन्दी में नहीं आता। समझ में आया? तो गुजराती सीखकर आना चाहिए। (एक विद्वान ने) एक बार लिखा था कि सोनगढ़ हिन्दीभाषी बहुत जाते हैं। महाराज की काठियावाड़ी गुजराती भाषा है, तो हिन्दी में बुलवाने से हिन्दी में बराबर आता नहीं।

मुमुक्षु : इतनी कठिन नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। इतनी कठिन नहीं है। थोड़ा ख्याल रखे, थोड़ा अभ्यास करे (तो आ जाती है)। यहाँ तो दस वर्ष के बालक सीख जाते हैं। दो महीने में गुजराती आ जाती है। समझ में आया?

इसी प्रकार... अब आया दूसरा। यह जीव की एक द्रव्य की बात की। अब पाँच रहे अजीव। भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य हैं न? सर्वज्ञपरमात्मा त्रिलोकनाथदेव ने छह द्रव्य देखे। उसमें एक जीव की बात की। अब आयी अजीव की। **इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** 'अजीव भी' शब्द है न? क्योंकि जीव की बात तो की। इसलिए उपरान्त अजीव भी। इसलिए 'भी' शब्द लिया। उसमें भी की आवश्यकता नहीं थी। अजीव भी, यह परमाणु। देखो! यह परमाणु शरीर के रजकण, वह अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणाम से उपजता हुआ। यह अवस्था ऐसी हो, वह अवस्था की पर्याय उसके क्रम में आयी हुई, उसमें वह परमाणु आकर उपजते हैं। आत्मा उसे उपजाता नहीं। समझ में आया? यह नजदीक में खोखा रहा, कहते हैं, उसमें ऐसा-ऐसा हो और ऐसा-ऐसा हो और ऐसा-ऐसा हो। ऐसे हिले और ऐसे हो, वह उसकी वर्तमान कार्यदशा है। जड़ की वही वर्तमान उसके क्रम में आने के काल में स्वकाललब्धि है। यह दवा-बवा दे नहीं सकते, ऐसा कहते हैं। यह दवा दे नहीं सकता। इस जगत के भी अभिमान। एक काम करनेवाला हो, और दूसरा कहता है कि मैं उसमें करूँ, तीसरा कहे मैं करूँ, ऐसे अनन्त कहे, मैं करूँ। एक काम के अनन्त भागीदार। ऐसा नहीं हो सकता।

अजीव भी... इस शरीर के रजकण। यहाँ तो उन कर्म के कार्य में आत्मा नहीं, अजीव का कार्य जीव का नहीं, यह सिद्ध करना है। कर्म जो बँधते हैं न? जड़... जड़...।

वह जड़ के रजकणों का कार्य आत्मा का नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है, इसलिए सब द्रव्य की पहले बात करके वह सिद्ध करेंगे। समझ में आया ? इस प्रकार अजीव अर्थात् शरीर, वाणी, मन, जड़ यहाँ है वह, आठ कर्म, यह दाल, भात, रोटी, सब्जी, मकान, हीरा, माणेक, कपड़े, गहने, जेवरात। दागीना को क्या कहते हैं ? जेवर। यह सब जड़ की अवस्था (उससे होती है)। यह लकड़ी लो, लकड़ी। देखो ! यह लकड़ी है। लकड़ी है न ? यहाँ है, देखो ! यहाँ है। कहते हैं, यह ऊँची होती है। यह ऊँची होती है, उस समय की पर्याय क्रमबद्ध आनेवाली थी, उसमें ये परमाणु उत्पन्न होते हैं। आत्मा ने अँगुली ऐसे (ऐसे) या अँगुली से यह हुई, इस अँगुली से यह पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

दाल, दाल, लो। तुम्हारे तुअर की दाल होती है न ? किसकी ? मूँग की दाल। दाल होती है न ? दाल इतनी कठोर है तो वह चढ़े तब पोची होती है न ? पिघल जाती है, पिघल। तो कहते हैं कि वह पोची होने की पर्याय, उसमें वह परमाणु में उस समय वह पर्याय आनेवाली थी, उसमें उपजते है। वह पानी से नहीं और उसमें झेरनी डालते हैं न ? तुअर की बहुत कठिन दाल होती है, तुअर की दाल बहुत कठिन होती है न ? खार डालते हैं। झेरनी द्वारा सरीखी एक रस करते हैं ? सदडी को हिन्दी भाषा में क्या कहते हैं ? कौन करे ? सुन तो सही। अरे ! भगवान ! तुझे पदार्थ का ज्ञान नहीं। यह परमाणु का दल स्कन्ध है, उसी स्कन्ध में वह पिघल जाने की पर्याय आयी, उसमें परमाणु उपजता है। क्रमसर आनेवाली में परमाणु उपजता है। समझ में आया ? उस परमाणु के पिघलने के कार्य को दूसरे पानी ने या हाथ ने या अग्नि ने किया, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

चावल कहीं पानी बिना सीझेंगे ? बैठे रहो, लो ! चावल डालकर। महिलाओं को कहे, चावल पकाना। बैठे रहो, महाराज कहते थे कि पानी बिना सीझ जायेंगे। सुन न अब। पानी कौन... तेरी ताकत है कि पानी का लोटा ऐसे उसमें डालना और उठाना, यह क्या तेरी क्रिया है ? वह क्रिया तुझसे होती है ? तीन काल में नहीं। पानी बिना चावल पके ? चोखा को क्या कहते हैं ? चावल कहते हैं न ? वह चावल की कठिन दशा है न ? कच्चे चावल, कच्चे। वही चावल की कच्ची पर्याय का व्यय होकर वे चावल के परमाणु भातरूप से उपजते हैं। उन्हें पानी उपजाता है, अग्नि उपजाती है, स्त्री उपजाती है, यह मिथ्यादृष्टि

मानता है। जैन सर्वज्ञ भगवान ने पदार्थ का स्वभाव कहा, इसकी उसे खबर नहीं है। समझ में आया ? जगत से बहुत फेरफार, भाई ! लो, कर दो।

यह मोरपिच्छी पड़ी है, अपने आप ऊँची कर दो। मोटर चलती है। मोटर पेट्रोल बिना चलती है, ऐसा सोनगढ़वाले कहते हैं। अरे ! भगवान ! मजाक नहीं होती। समझ में आया ? तत्त्व की मजाक नहीं होती। मोटर का एक-एक रजकण अजीव है, मिट्टी है। उसमें परमाणु में अनन्त गुण हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्दगुण है, वैसे परमाणु में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श क्रियावतीशक्ति, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व ऐसी एक-एक रजकण में अनन्त सामान्य शक्तिरूप गुण है। वे प्रत्येक गुण, **अजीव भी क्रमबद्ध अपने...** उस अजीव में रहे हुए अनन्त गुण, यह रंग का परिवर्तन हो, आम हरे से पीला हो, यह परमाणु स्वयं पीलेरूप से उपजे हैं। यह घास में डाला, इसलिए घास ने उन्हें उपजाया है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? किस प्रकार का नियम होगा यह ? ऐसे तो रट जाए, जीव और अजीव और ऐसा है, तत्त्व भिन्न है और नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न है। ऐसी मान्यता का ठिकाना नहीं होता। बड़ा विवाद करे। अभी तो विवाद उठाते हैं। लो, अपने आप हो जाता होगा ? ज्ञानावरणी के बिना आत्मा की ज्ञान की पर्याय में हानि-वृद्धि होती है ? अरे ! सुन तो सही ! यहाँ हानि की बात ही कहाँ है ? यहाँ तो ज्ञानगुण निज द्रव्य का लक्ष्य करता है तो ज्ञानगुण अपनी पर्यायरूप से उपजता है। ऐसे जड़ परमाणु जो कर्मरूप से थे, वे कर्मरूप से छूटकर साधारणरूप हुए, उस पर्यायरूप वे परमाणु उत्पन्न हुए हैं। आत्मा ज्ञानरूप सम्यक्रूप उत्पन्न हुआ, इसलिए कर्म के परमाणु को दूसरे प्रकार से परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है।

कर्म के परमाणु कर्मरूप हुए। कर्म है न ? कार्य है न ? उनकी—परमाणु की विभाविकदशा है न ? वह विभावदशा छूटकर दूसरी दशा हो तो दूसरी दशारूप वह परमाणु उत्पन्न हुए हैं। और जीव ने राग-द्वेष किया, इसलिए वहाँ ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय के परमाणु को परिणमना पड़ा, ऐसा है नहीं। वह कर्म होने के योग्य जो परमाणु की वर्गणा का जो समूह था, वह कर्मरूप उस काल में उसके क्रम में कर्मरूप, विभावरूप उस काल में परिणमने की योग्यता से परमाणु उत्पन्न हुए हैं। समझ में आया ? क्या है ? यह तो बड़ी बात है। यहाँ तो अब शान्ति से बात चलती है न ! वहाँ तो दूसरी बात चले। राजकोट। कहो, समझ में आया इसमें ?

उसी प्रकार अजीव... यहाँ तो इसमें तो सब निमित्त का उड़ जाता है। निमित्त, वह कार्य में अकिंचित्कर हो जाता है। अकिंचित्कर हो जाता है। निमित्त का अर्थ ही अकिंचित्कर है। किंचित् कार्य करे तो निमित्त रहता नहीं, तो उपादान हो जाता है। प्रत्येक रजकण-रजकण, यह लकड़ी, यह जीभ, भाषा, इस भाषा के परमाणु वे भाषा पर्यायपने परिणमे, वह परमाणु उस पर्यायरूप उपजते हैं। जीभ के विकल्प का निमित्त है, इसलिए भाषारूप परिणमते हैं, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

अनन्त को अनन्त के कार्यरूप परिणमता देख। क्या कहा? अनन्त परमाणु को उसके अनन्त स्वतन्त्र परिणामरूप उपजता देख। किसी के परमाणु के कार्य को किसी ने किया या जीव ने किया, ऐसा प्रतिभासित होना, वह अज्ञान है, मिथ्याभाष है। यह जड़ और चैतन्य की एकता की बुद्धि है। समझ में आया?

अब यह तो स्फटिकमणि में... कहा न? स्फटिकमणि में काली, लाल जो झांई पड़ती है न? वह फूल के कारण (पड़ती है)। यहाँ कहते हैं, नहीं। फूल पृथक् द्रव्य है। स्फटिक ही अपने वर्तमान काली, लाल, झांईंरूप परिणमने की पर्यायरूप स्वयं स्फटिक उपजती है। फूल रखा, इसलिए काले, लाल की झांईं पड़ती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यहाँ तो अभी जीव और अजीव की पृथक् क्रियाएँ कैसे होती हैं, उसकी बात है। वहाँ तो यह कहते हैं कि हमने ऐसा कर दिया, हम पानी छानकर पीते हैं और यह करते हैं, ये सब कार्य हम करते हैं। परमाणु परमाणु एक-एक स्वतन्त्र, उसके अजीव अपनी पर्यायरूप से उपजता हुआ देख। उसके बदले तू (कहता है कि) मैंने इसके परिणाम को उपजाया। दो द्रव्य की एकता अर्थात् जड़ को चैतन्य माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

जीव का कहा। वैसे **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से...** और कितने ही ऐसा कहते हैं, लो, जीव राग करता है तो कर्म बँधते हैं, राग न करे तो नहीं बँधते। प्रत्यक्ष बात नहीं? नहीं। तुझे भान नहीं है। ऐसा कहे, राग-द्वेष करे तो कर्म बँधते हैं, परन्तु वह कर्म के रजकणों के काल में, कर्म होने के काल में वह परिणम रहा है। राग की अपेक्षा रखकर परिणमता है, यह बात इसमें नहीं है। यहाँ तो निरपेक्ष आयेगा न? समझ में आया? जीव

के राग-द्वेष हैं, इसलिए यहाँ (कर्म बँधते हैं, ऐसा नहीं है)। ज्ञान की असातना की इसलिए ज्ञानावरणी को ज्ञानरूप परिणमना पड़ा, ऐसा वस्तु में नहीं है। वे परमाणु ही ऐसे हैं, ज्ञानावरणी की पर्याय पूर्व में नहीं थी परन्तु वर्तमानरूप जो परिणमी, (उसमें) वे परमाणु ज्ञानावरणीय रूप से उपजे हैं। उन राग-द्वेष के कारण ज्ञानावरणी हुआ है, ऐसा नहीं है। बहुत फेरफार परन्तु, भाई! इस सिद्धान्त को निर्णय करने जाए तो कितने शून्य लगाना पड़े। भूवाडिया समझ में आया? शून्य लगाना पड़े कितनी ही मान्यताओं का। हमने यह किया और यह किया। जहाँ-तहाँ अभिमान... अभिमान...। अरे! प्रभु! वस्तु है या नहीं? और वस्तु है, वह कायम टिक रही है या नहीं? और टिकी हुई वर्तमान में कुछ कार्यरूप परिणमती है या नहीं? कार्यरूप वर्तमान न परिणमे तो वह वस्तु नहीं हो सकती। वे परमाणु ही ज्ञानावरणीय के, दर्शनावरणीय के, मोहनीय के, आठ कर्म के उसकी पर्यायरूपी काम, जड़ का पर्यायरूपी काम, उन (परमाणु से हुआ है)। दूसरे में ऐसा आवे, तूने जैसे परिणाम दिये, वैसे कर्म का नाम पड़ा। आता है न? समझ में आया? वहाँ तो कुछ नहीं था। परन्तु तूने ज्ञान की असाता की, इसलिए ज्ञानावरणीय के (कर्म बँधे)। परन्तु यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं। बाकी परमाणु में, एक-एक रजकण में कर्म होने को ज्ञानावरणीय की पर्याय होने के योग्य उसरूप वह परमाणु वहाँ उपजा है। दूसरे परमाणु के कारण नहीं और यहाँ ज्ञान की असातना की, इसलिए भी नहीं। समझ में आया? परन्तु जहाँ ऐसी दृष्टि हो, उसे कर्मबन्धन नहीं होता और निर्मा होता है, ऐसा भाव भी नहीं होता। समझ में आया इसमें?

लो, इस शरीर का ऐसा है, भाई! इनका साला गुजर गया न! शरीर का वह होने का था, उस क्रमसर परिणाम में। उस परिणाम में वह वहाँ आनेवाली पर्याय, देह से छूटने का वह क्षेत्र, काल। वह क्षेत्र और वह काल। उस समय शरीर के रजकण पृथक् पड़ने के परिणामरूप परमाणु उत्पन्न हुए हैं, पानी के कारण नहीं। यह बात... समझ में आया? अभी थोड़े समय पहले... दामनगर का न? दो व्यक्ति पानी में मर गये। एक पहले गया नहा रहा था। बाहर आया, और कहे, लो थोड़ा नहाऊँ। नहाने गया तो बह गया। दूसरा कहे, लाओ, मैं जाऊँ। दोनों गये। ऐसा तो काल...

परमाणु स्वयं वस्तु है और उसमें एक क्रियावती नाम का गुण है। तो उस परमाणु

को क्षेत्रान्तर होने के परिणाम में परमाणु उपजते हैं, किसी ने धक्का मारा, (इसलिए हुआ –ऐसा नहीं है)। यह लकड़ी है, देखो! इस लकड़ी को इस लकड़ी ने धक्का मारा, इसलिए इस पर्यायरूप यह लकड़ी परिणमित हुई है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह बात। यह वस्तु है या नहीं? और वस्तु में जो दशा होती है, उसकी कोई शक्ति है या नहीं? या शक्ति बिना अध्धर से हो गयी? यह शक्ति है अर्थात् गुण है अर्थात् कि त्रिकाली भाव है। यह द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय में गुण की पर्यायरूप, परमाणु स्वयं क्षेत्रान्तर–रूपान्तर परिणमित होते हैं। उसकी पर्याय के उत्पन्न करने में दूसरे का किसी का अधिकार नहीं है। दूसरे ने उसे उपजाया और ऐसा किया और वैसा किया (ऐसा नहीं)। एक व्यक्ति तर्क करता था। देखो! एक पूरी चीज़ हो, उसे भले एक जरा यहाँ स्पर्श करे, परन्तु वह पूरे को परिणमा दे। ऐसा कहता था। क्या कहा, समझ में आया? एक चीज़ को पूरी को बदलना पड़े, ऐसा नहीं। एक भाग को ऐसे स्पर्श करे तो एकदम पूरे को (बदल डाले)। कितनी ताकत! समझ में आया? ऐसा हुआ। अरे! भगवान! यह तो सब तेरे कुतर्क हैं। ऐसा कि पूरे को स्पर्श करे तो ही ऊँचा हो या आगे–पीछे हो, ऐसा नहीं है। उसके कोने को जरा ऐसे करे तो एकदम (फिर जाए)। देखो! थोड़े निमित्त पर में कितना काम करते हैं! अरे! भगवान! तू भूला है। भगवान भूले कि खिड़की में चढ़ गया है। समझ में आया? अरे! प्रभु! तू भूला है। भगवान आत्मा, वह परमाणु को ऐसे धक्का मारे और इस लकड़ी ने धक्का मारा, इसलिए दूर चले (ऐसा नहीं है) तो फिर यह विशेष कुछ हुआ, वह सामान्य ने किया या इसने किया? इस विशेष की अवस्थारूप उपजे हुए परमाणु हैं। वह परमाणु। यह नहीं और आत्मा नहीं।

इसी प्रकार स्वतन्त्र पदार्थरूप उपजता हुआ देखे, उसकी दृष्टि द्रव्य पर गये बिना नहीं रहती। और उसकी पर्याय सम्यक् और सम्यग्दर्शन–ज्ञान हुए बिना नहीं रहती। इसका नाम धर्म कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्री समयसार गाथा 308 से 311
प्रवचन नं. 282 (13वीं बार के प्रवचन)
दिनांक 21—06—1962, गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण चार

समयसार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार चलता है। पहली बात हो गयी। पहले जीव की। मूल बात जीव... जड़ और जीव दोनों का लेना है न? मूल पाठ में जीव-अजीव दो शब्द पड़े हैं। क्रमबद्ध अर्थात् क्रम से होते अपने परिणाम से। क्रम से होते ऐसे अपने पर्याय से उपजता हुआ जीव ही है। वैसे तो तत्त्वार्थराजवार्तिक में आया है न? भाई! यह बात पहले हो गयी है। अनादि बन्धनबन्धनत्व पर्याय। छहों द्रव्यों में एक ऐसा पारिणामिकगुण है, छहों द्रव्यों में है। जिस पारिणामिकगुण से अनादि बन्धनबन्धनत्व पर्याय। अनादि बन्धन सम्बन्ध। एक के बाद एक, एक के बाद एक। ऐसी अनादि बन्धन सम्बन्धवाला पर्याय का पारिणामिक धर्म पारिणामिकभाव से वर्णन किया है। यह पारिणामिक धर्म ही उसका है। छहों द्रव्यों का। उन्हें एक के बाद एक बन्धन अर्थात् सम्बन्ध जो हो वह। आड़ी-सीधी नहीं। यह और ढीला करते हैं कि इसमें से ऐसा भी निकलता और अमुक निकलता है। समझ में आया?

इसी प्रकार साँकल है न? साँकल। उसे एक के बाद एक सब मकोड़ा को सम्बन्ध ही है। मकोड़ा कहते हैं न? क्या कहते हैं? कड़ी... कड़ी..। यह कड़ी ऐसी होती है। अनादि बन्धनबन्धत्व। छहों द्रव्यों में ऐसा एक पारिणामिक नाम का गुण है कि जहाँ जीव, भव्यत्व और अभव्यत्व पारिणामिकभाव से वर्णन किया, वहाँ क्षय शब्द पड़ा है। उसमें से तत्त्वार्थराजवार्तिककार अकलंकदेव ने उसमें से निकाला है कि इसमें पारिणामिकभाव से बहुत गुण हैं। अस्तित्व इत्यादि... इत्यादि... कर्ता और भोक्ता। उसमें एक पर्यायत्व धर्म है और एक अनादि बन्धनबन्धनत्व धर्म है। प्रत्येक द्रव्य में एक पर्यायत्व नाम का गुण है। यह तो इसमें अपने ही आता है न? प्रवचनसार। जहाँ सामान्यगुण लिये। पर्याययत्व 95 गाथा में। पर्याययत्व नाम का छहों द्रव्य में सामान्यगुण है कि जो पर्याययत्व एक के बाद एक पर्याययत्व से ऐसे हुआ ही करे और यह अनादि बन्ध-सम्बन्ध अनादि से एक

के बाद एक, एक के बाद एक, उसका सम्बन्ध है। इस प्रकार पारिणामिकभाव से पर्याय हुआ करती है। समझ में आया? ऐसी वस्तु की स्थिति और वस्तु का स्वत: गुण है।

यह जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम से उपजता हुआ, द्रव्य उपजता हुआ, द्रव्य-पर्याय से वह... वह... वह... वह... वह... वह... पर्याय में आता हुआ जीव है। अर्थात् उसमें दूसरे जीव के अतिरिक्त दूसरे जीव और दूसरे अजीव उसके कार्यगत में, क्रम में कोई फेरफार नहीं करता। यह जीव है और अजीव नहीं। पाँच अजीव द्रव्य और दूसरे जीव, वे उसमें हैं नहीं। उसके क्रमबद्ध के परिणाम में स्वयं द्रव्य आकर उपजता है। यह बात बहुत हो गयी।

इसी प्रकार अजीव भी... अर्थात् पाँचों द्रव्य। अजीव भी क्रमबद्ध ऐसे। क्रम-क्रम से होते एक के बाद एक होते, एक के बाद एक परन्तु होनेवाला हो, उसे होते, ऐसी अपनी पर्याय से उपजता हुआ अजीव ही है। अजीव के परिणाम में जो पर्याय क्रमसर एक के बाद एक होती है, वह उसमें से अजीव उपजा है, इसलिए वह अजीव ही है। वह जीव से उपजा है, ऐसा है नहीं। वह जीव नहीं। उसमें जीव का अधिकार जरा भी नहीं है, कहो, समझ में आया?

यहाँ तो सिद्ध करना है—कर्म की पर्याय में। जो आठ कर्म हैं, उन आठ कर्म की जो पर्याय होती है, वह उसके क्रम में उस परमाणु के उस क्रम में कर्मरूप होने का विकार की पर्याय, उसरूप उपजते वे परमाणु अजीव ही हैं। जीव के राग-द्वेष का यहाँ निमित्त है, इसलिए वहाँ परमाणु कर्मरूप उपजते हैं, ऐसा नहीं है। यह भारी कठिन। समझ में आया?

जितने अजीव हैं, उतने सब अजीव क्रमबद्ध... अजीव भी। ऊपर जीव का लिया, इसलिए (कहा) अजीव भी क्रमसर होते, क्रम से होते, क्रमवाले जो परिणाम उस काल में होते हैं, उन अपने परिणाम से उपजता हुआ वह कर्म, वह कर्म ही है, वह अजीव ही है। उसे आत्मा के राग-द्वेष की अपेक्षा है तो वह परिणमता है, वे परमाणु कर्ता और कर्म की पर्यायरूपी कार्य, उसमें राग की अपेक्षा से निरपेक्ष है। राग की अपेक्षा है नहीं। यह विवाद भारी अवरोधक। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? राग-द्वेष न करे? रात्रि में कौन पूछता था? भाई! राग-द्वेष करे और उससे न हो? न बँधे? परन्तु किसमें

बँधे ? वे परमाणु उस प्रकार की पर्याय के क्रम में जो अनादि बन्धन की पर्याय का सम्बन्ध है, उसमें उसी पर्यायरूप से वह द्रव्य उपजता है। वह द्रव्य कर्ता और वह पर्याय उसका कर्म है। उस काल में वह पर्याय उसका कार्य है। दूसरे काल में दूसरा और तीसरे काल में तीसरा। वह निरपेक्षरूप से कर्म परमाणु विकाररूप-विभावरूप परिणमते हैं। उसमें जीव के राग की अपेक्षा नहीं है। निश्चय में अपेक्षा नहीं है। यह निश्चय का वर्णन है। समझ में आया ?

इसी प्रकार जीव भी विकाररूप परिणमता है, वह जीव विकाररूप परिणमता हुआ, उसमें भी कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं। समझ में आया ? परन्तु यहाँ जीव आत्मद्रव्य, उस द्रव्य का अकर्तापना बतलाना है। अर्थात् आत्मा स्वयं जिस परिणाम से परिणमता है, उसमें पर के परिणाम को परिणमावे या पर के परिणाम से परिणमे, ऐसा नहीं है। इसलिए दृष्टि पर से उठ गई और स्वद्रव्य पर दृष्टि हुई। इसलिए स्व ज्ञायक के सामान्य द्रव्य पर ध्येय-लक्ष्य जाने पर वह द्रव्य परिणमता है, भले उस काल में निर्मल ज्ञान दर्शन, आनन्द आदि अनेक गुणों के परिणामरूप परिणमता हुआ वह जीव ही है। रागरूप जरा हो, तथापि उसका उस काल में ज्ञातादृष्टा है। समझ में आया ? यह तो महासिद्धान्त। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। एकदम चोटी—मोक्ष की चूलिका।

तब लोगों को ऐसा लगता है कि परन्तु ऐसा होवे तो फिर हो गया, अपने पुरुषार्थ करने का तो कुछ रहता नहीं। उसमें एक व्यक्ति ने कहा, अनन्त गुणों के क्रमरूप परिणाम हो, श्रद्धागुण के परिणाम भी क्रम से होते आत्मा उसके परिणाम से उपजता है। ज्ञानरूप से उपजता है, श्रद्धारूप से, चारित्ररूप से, आनन्दरूप से, अस्तित्वरूप से, वस्तुत्वरूप से (उपजता है)। तो उसमें श्रद्धा की शक्ति को विकास करने का अवसर भी उसमें रहता नहीं। कहो, समझ में आया ? परन्तु यह सब उसमें आ गया। एक जीवद्रव्य, ऐसा लक्ष्य में आने पर उसका स्वभाव वर्तमान परिणाम शुद्ध चैतन्य की पर्याय श्रद्धा, ज्ञान, शान्तिरूप ही वह परिणमती है। ऐसा ही उसका स्वभाव का पुरुषार्थ होता है। अनन्त गुणों का क्रम है। एक जीव में जितने गुण हैं, उन सबकी पर्याय क्रमसर उसमें होती है, उसमें आत्मा उपजता है। ऐसे आत्मा उपजे, ऐसा निर्णय करने जाए, वहाँ उसके पर के अनन्त पदार्थों के कार्य का अहंपना उड़ जाता है और उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, इसलिए राग और

पर का भी कर्ता नहीं रहता। वह अकर्ता हुआ, इसका नाम ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। समझ में आया?

सात तत्त्व की श्रद्धा, उसे सम्यग्दर्शन कहा। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' उसमें यह आया। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। उसमें मोक्षतत्त्व आया। मोक्ष, वह तो अरिहन्त और सिद्ध केवलज्ञानी का लक्षण है और वह केवलज्ञान की पर्याय जो कुछ तीन काल-तीन लोक को जैसे जानती है, वैसा उसका पर्याय का धर्म है। अब उस मोक्षतत्त्व के पर्याय की श्रद्धा करने जाए, मोक्षपर्याय की श्रद्धा करने जाए तो अकेली पर्याय की पर्याय के आश्रय से श्रद्धा नहीं होती। क्योंकि मोक्ष तो स्वयं को है नहीं। इसलिए पूर्ण केवलज्ञान ऐसा होता है, उस मोक्षपर्याय की श्रद्धा करने जाए, वहाँ उसकी दृष्टि मोक्षस्वभावरूप मोक्ष है, ऐसे आत्मा पर दृष्टि जाने से उसे सम्यग्दर्शन होता है और उसने मोक्षतत्त्व की श्रद्धा सात तत्त्व की (की ऐसा) उसमें आ जाए। समझ में आया? बहुत परन्तु भाई! यह मानो कि यह कुछ अलग विषय है, तथा वह और अलग होगा। सात तत्त्व की श्रद्धा, यह तो वह की वह बात है। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन कहो, क्रमबद्ध में अकर्तापने की श्रद्धा और ज्ञान कहो, दोनों एक ही बात है। समझ में आया? परन्तु मूल चीज़ जो है, उस प्रकार से ही उसकी अवस्था होती है और यह द्रव्य यह है और गुण भी तत्प्रमाण परिणमे, ऐसी व्यवस्थित वस्तु को ख्याल में, प्रतीति में ले नहीं, तब तक उल्टा-सीधा करने की इसकी बुद्धि नहीं टलती और उल्टा-सीधा करने की बुद्धि कर्तृत्वबुद्धि और मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? परन्तु यह बात अभी तो बहुत दूसरे प्रकार से चढ़ गयी न कि यहाँ (सोनगढ़) का क्रमबद्ध, इसलिए अपने को इनका मिथ्या करना। समझ में आया?

इस प्रकार वस्तु, छह द्रव्य, ऐसी सत्ता, वस्तु की सत्ता पड़ी है। उसकी शक्तियाँ सत् है और पर्याय का—अवस्था का, द्रव्य का परिणमन द्रव्य स्वयं वहाँ उपजता है, ऐसा निर्णय करने जाए, वहाँ तो स्वभाव की दृष्टि होकर अकर्तादृष्टि होती है और ज्ञातादृष्टि (प्रगट होती है)। अस्तिरूप से ज्ञाता और नास्तिरूप से अकर्ता। इसका नाम ही तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? अब मूल चीज़ है, उसकी ही अभी श्रद्धा और कैसे उसका विषय है, इसकी खबर न हो, वहाँ क्या विवाद से कुछ बात पार पड़े, ऐसा नहीं है।

अजीव भी... इसके बिना होता नहीं। यह शरीर के परमाणु भी उनके कारण से उस

पर्यायरूप से परमाणु स्वयं द्रव्य पर्यायरूप से उपजता है। द्रव्य पर्यायरूप से वर्तमान (उपजता है)। त्रिकाल वर्तमानरूप से उपजे, त्रिकाल वर्तमानरूप से उपजे, त्रिकाल वर्तमानरूप से उपजे। यह शरीर की पर्याय ऐसे होती है, उसमें त्रिकाली परमाणु इसरूप उपजते हैं। आत्मा की इच्छा और ज्ञान के कारण से नहीं। समझ में आया? अब उसमें यह दवा के पुड़िया और यह बड़ी मशीन चले, उसमें यह मनुष्य चलावे तब चले। एकदम एकदम चलने लगे, लो। जहाँ... वहाँ बन्द हो जाए। एकदम बन्द हो जाए। उजाला (बिजली) बन्द। अभी तो होता है न? घड़ीक में बन्द हो जाए और घड़ीक में उजाला हो जाए। उजाला किसके कारण होता है? कहते हैं कि यहाँ के परमाणु जो काली पर्यायरूप वर्तमान में द्रव्य उपजता था, वह दूसरे क्षण में वर्तमान उजालेरूप वह द्रव्य उपजा है। वह दीपक के कारण नहीं। समझ में आया? अरे! इस जगत को तत्त्व, वस्तु और वस्तु का वर्तमान, वस्तु और वस्तु की शक्तियाँ त्रिकाल, परन्तु उनका वर्तमान... वर्तमान... वर्तमान वर्तता इसका स्वरूप क्या है कि, प्रत्येक परमाणु अपनी वर्तमान पर्यायरूप से स्वयं के कारण से पर की-दीपक की अपेक्षा बिना उस उजालेरूप परमाणु परिणमता है। समझ में आया?

यह हथौड़ी ऊँची होती है या नहीं? क्या तुम्हारे ऐसे-ऐसे करते हैं न? बर्तन में नाम लिखे, कहते हैं कि यह टाँची और टंकण के ऊपर हथौड़ी, दोनों। यह टंकण ऐसे-ऐसे होता है, उसे हथौड़ी की अपेक्षा नहीं है। और अक्षर खुदे, उन्हें टंकण की अपेक्षा नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वे वहाँ-वहाँ वे परमाणु पीतल या ताँबे के बर्तन के ऐसे थे, वे ऐसे खड्डेरूप होने की पर्यायरूप वे परमाणु उत्पन्न हुए हैं। समझ में आया? एक बार कहा था न? वहाँ थे—'मोलडी... मोलडी।' यह तुम्हारी मोलडी। 'चोटिला' से नहीं? मोलडी न? ऐसे सड़क के ऊपर है। वह नहीं था कोई ग्वाला था? कौन था? भगत था न? भगत और भगत की बहू। वह भगत तो गुजर गया। तब हम उतरे थे। तब वहाँ उतरे थे। दोपहर में व्याख्यान चला। तब फिर बड़ी मोलडी है न आगे जरा। उसमें एक खोजा था और एक लुहार था। वह कहे, यहाँ महाराज आये हैं, चलो न वहाँ। बहुत महाराज (आते हैं) परन्तु यह महाराज कहते हैं कि हथौड़ी हाथ से नहीं उठती, यह ऐसे महाराज हैं। मोलडी, हों! कौन सा वर्ष? तुम्हारा गाँव है न वह? फिर कुछ लड्डू बाँटे थे। बड़ी मोलडी वाले (कहे), महाराज तो बहुत आते हैं परन्तु यह लुहार को कहते हैं, तेरी हथौड़ी ऐसे-ऐसे

होती है, वह तेरे हाथ से नहीं। और ऐरण के ऊपर हथौड़ी पड़े, वह हथौड़ी पड़े इसलिए वहाँ गहना होता है, ऐसा नहीं है। वे ऐसा कुछ कहते हैं। व्याख्यान सुनने जाना, कहे। व्याख्यान पूरा होने के बाद आये। थोड़ा दूर है न?

अरे! भाई! यह बात तो अनादि की ऐसी ही हो रही है। नयी नहीं है। कोई माने कि यह और नया निकाला। ऐसा और कितने ही कहते हैं। नया नहीं है। अनादि पदार्थ अपनी वर्तमान जो पर्याय है, उस वर्तमानरूप स्वयं परिणम रहा है। उस परिणमनेवाले को दूसरा होता था और ये निमित्त आकर दूसरा होता है, ऐसा नहीं है। अजीव भी क्रमबद्ध ऐसे...

यह देखो! होंठ हिलते हैं, जीभ हिले, वह अपने क्रमबद्ध ऐसे परिणाम में वे परमाणु स्वयं उपजते हैं। आत्मा की इच्छा के कारण से नहीं और आत्मा के ज्ञान के कारण से नहीं। तब कहे, अब नहीं बोलेंगे। हमसे तुम्हें लाभ न होता हो (तो नहीं बोलेंगे)। एक प्रश्न किया था। तुम निमित्त से कुछ मानते नहीं? नहीं। तो नहीं बोलेंगे। क्योंकि तुम तो मानते हो कि पर से लाभ नहीं होता परन्तु बोले कौन और न बोले कौन? वह तो परमाणु उस काल में उसकी भाषा की पर्यायरूप उपजने का हो, उसका भणकार और रणकार बजता है। आत्मा के कारण से नहीं। यह कहे, मैं अब मौन रहूँगा। यह मूढ़ है। क्योंकि परमाणु उसकी पर्यायरूप परिणमना है, उसे कहता है कि मुझे अब अभी परिणमाना नहीं, मुझे मौन रहना है। परमाणु को इस प्रकार (परिणमाऊँ)। तू परिणमा सकता है, उसे नहीं परिणमा सकता? समझ में आया? बदला सकता हो, यह ऐसा माने कि अब मैं उसे नहीं बदलाऊँ। अर्थात् अभी तक मैं बदलाता हूँ। समझ में आया?

बहुत से ऐसा कहें, यदि ऐसी तत्त्व की बहुत ऊँची बातें करे और फिर वापस मन्दिर (बनावे) और बड़े हाथी (बुलावे)... ऐसा तो ऐसा है। अन्दर में कुछ दूसरा है और बाहर में कुछ दूसरा है। ऐसा लोग मानते हैं। अरे! भगवान! उसे कौन उपजावे वहाँ? तुझे खबर है? यह मन्दिर के परमाणु उस समय उस पर्यायरूप उपजने की योग्यतारूप उपजते हैं। सामनेवाला जीव है, इसलिए वहाँ मन्दिर होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। (लोगों को) बात जँचती नहीं। समझ में आया? हाथी लाये और यह घोड़ा लाये और यह सामान आया और यह अमुक आया... यह कहीं इच्छा बिना आता होगा? यहाँ कहते हैं कि इच्छा बिना

उसके कारण से उस काल में उपजती पर्याय परिणम रही है। मन में माने कि इससे धर्म होता नहीं परन्तु लोगों को लाने के लिये यह सब खड़ा करते हैं। बड़े-बड़े मन्दिर और बड़ी-बड़ी पूजायें (कराते हैं)। परन्तु कौन करे? तथा और दूसरा ऐसा कहे, हम ऐसा नहीं करते। ऐसे मन्दिर हम नहीं बनाते, उसमें हिंसा होती है, इसलिए हमें यह नहीं करना। उसे तू कर सकता था? यह वापस कर्ताबुद्धि हुई। समझ में आया? यह कर्ताबुद्धि है। हम नहीं करेंगे। इसमें हिंसा होती है और इसमें यह होता है। हम नहीं करेंगे। यह करता है। यह करता है यह बात भी मिथ्या और हम नहीं करेंगे यह भी पर की कर्ताबुद्धि ही है। समझ में आया?

उस काल में वे परमाणु के स्कन्ध उस पर्यायरूप मन्दिर के, भगवान की मूर्ति के, पूजा के आठ पुण्य के होते हैं न? क्या कहलाता है? अष्ट द्रव्य। अष्ट द्रव्य द्वारा मैं पूजा करता हूँ। सुन न! वे आठ द्रव्य के परमाणु उनकी पर्यायरूप परिणमते हुए वहाँ आते हैं। आत्मा की इच्छा के कारण से आठ द्रव्य स्वाहा... ऐसा होता होगा? स्वाहा कहते हैं न? स्वाहा। स्वाहा कौन करे? द्रव्य कौन रखे? कहते हैं कि प्रत्येक अजीव अपने क्रम में आये हुए परिणाम की पर्यायरूप से अजीव उत्पन्न होता है। उसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता। यह बुद्धि अन्दर बैठना और इसके पहलू वापस कितने और किस प्रकार के, इसे जँचे नहीं। समझ में आया?

इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से... सब आ गया, हों! यह मन्दिर, यह वाणी। समझे न? कल दृष्टान्त दिये थे न? दाल, भात, सब्जी, यह गर्म पानी। अग्नि आवे तो पानी गर्म हो। नहीं। वह जड़ के परमाणु जो हैं, वे उष्णरूप परिणमते हुए अपनी पर्याय में उपजते हैं। वे अग्नि से उपजते नहीं। कौन जाने? क्या हो गया है न! बस, इसके बिना होता नहीं, इसके बिना होता नहीं। लाओ, भाई! देखो यह... अग्नि के बिना जलेगा? कपड़ा अग्नि के बिना अपने आप जलेगा? अग्नि आवे तो फड़-फड़ करते हुए (जलने लगे)। कौन कहता है कि अग्नि से सुलगता है? वे परमाणु अपनी उष्ण पर्यायरूप से उस काल में परिणमते हैं। शीतलरूप उपजा तो भी परमाणु और उष्णरूप उपजे तो भी परमाणु है। अग्नि से वे उष्ण पर्यायरूप उपजे, यह वस्तु में नहीं है। समझ में आया? क्या होगा यह सब? कोई ईश्वर होगा अन्दर करनेवाला? नहीं, नहीं। और कोई

प्रश्न करता था, यह तुम इनकार करते हो, तब कोई करनेवाला दूसरा ईश्वर होगा? जड़ में वर्तमान पर्यायरूप परिणमना, ऐसी ताकत को देखता नहीं, इसलिए कोई उसका करनेवाला (है, कोई उसका करनेवाला है)।

कुम्हार घड़े को उपजानेवाला हम नहीं देखते, ऐसा यहाँ कहते हैं। क्योंकि घड़े के परमाणु घड़े की पर्याय की आकृति और उस प्रकार के रस, गन्ध, स्पर्श की पर्याय के रूपान्तररूप से वे परमाणु उत्पन्न होते हैं। कुम्हार का हाथ भी नहीं और कुम्हार की इच्छा से घड़ा होता ही नहीं। यह बात! समझ में आया? यह तो एकान्त हो जाएगा, और ऐसा कहे। आचार्य के पास जा और उनसे कह कि ऐसा आप मानते हो तो उसमें एकान्त हो जाएगा। एक बार बात हुई थी न? 80 से 82 गाथा। 80-81-82 है न समयसार की? उसकी बात बहुत वर्ष पहले हुई थी। वे लोग ऐसा कहे, देखो शास्त्र में तो ऐसा है कि निमित्त से कर्म बँधते हैं और कर्म से विकार होता है। इससे आगे बात करने जाओ तो गणधर के पास जाओ। यहाँ से—इस ओर से बात आयी थी। 80-81-82 तीन गाथायें हैं न, देखो न! आ गया है न, देखो! यह निकली लो! देखो!

'जीवपरिणाहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति' 80 गाथा है। जीव परिणाम का हेतु **'कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति'** और **'पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि'** लो, यहाँ चलते (प्रकरण) से विरुद्ध दोनों आये। 80 गाथा है न?

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित्त से यह जीव भी त्यों परिणमे।।८०।।

जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से परिणाम दोनों के बने।।८१।।

इस हेतु से आत्मा हुआ कर्ता स्वयं निज भाव ही।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावों का कभी कर्ता नहीं।।८२।।

यह तो वह सिद्ध किया। परन्तु वह आया है न? **'हेदुं कम्मत्तं पोग्गला'** परन्तु वह तो पृथक् की बात करते हैं। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि, नहीं। यह तो वहाँ निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराते हैं। बाकी पुद्गल अपनी पर्यायरूप उस काल में उपजता है।

इतनी बात यदि उसे अन्तर्दृष्टि के ख्याल में यह बात आवे तो अनन्त थोक के थोक परद्रव्य पड़े हैं, उसका जहाँ हो वहाँ मैं... मैं... गहरे-गहरे हो रहा है, वह सब टल जाए। कहो, समझ में आया? हाथ, पैर, यह सब जड़, यह पवन, यह अमुक, वस्त्र, कपड़ा, गहने, वह सोनी बेचारा ऐसे-ऐसे करे, मेहनत करता है, तब गहना समरूप होता है। घिसे, अतरडा में से सलिया निकाले न! अतराडा होता है न? अतरडा अतरडो कहते हैं? क्या कहते हैं? पतला बनाते हैं। जनतरडो। जनतरडा में से चाँदी के पतले तार होते हैं न? ऐसे कोमल पतले उसमें से बनाते हैं। ऐसे किस प्रकार घड़-घड़कर होता है। नहीं तो उन छिद्रों में डालकर खींचे, तब वह होता है। कहो! यहाँ कहते हैं कि वह प्रत्येक एक के परमाणु उस काल में उसकी पर्यायरूप उपजता है। जतरडा के कारण नहीं और उसे बाँधकर खीचे... समझे न? उसके कारण नहीं और हथौड़ी के कारण नहीं। जगत का उल्टा... श्रीमद् लिखते हैं न, लोकस्थिति ऐसी ही है कि जगत को भ्रमणा उपजावे। लोक की रचना जहाँ-जहाँ परमाणु और जीव स्वयं से परिणमवे, वहाँ-वहाँ संयोग देखकर मानता है कि इससे (होता है)। लोकस्थिति असत्य का आग्रह करावे, ऐसी खड़ी है। समझ में आया?

उसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम से (उपजता है)। वह क्रमबद्ध ऐसे, इसमें आ गया है। उसमें था न ऐसे। **क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है...** अर्थात्? जितने पाँच जड़द्रव्य हैं, वे अपने वर्तमान परिणाम से उपजते हुए उनका स्वामी वह जड़ है और जड़ उसका कर्ता और जड़ उसका परिणाम, उसका कर्म वह अभेद है। दूसरा कोई उसका कर्ता और दूसरा कोई उसका कार्य, ऐसा वस्तु में है नहीं। **क्योंकि... जीव नहीं...** ऐसा कहा।

जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का... दृष्टान्त भी कितना सरस दिया है! जैसे कंकण... कंकण... क्या कहलाता है? कुण्डल। समझ में आया? कड़ा, कुण्डल, अँगूठी **आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे...** उपजते ऐसे **सुवर्ण का...** यह सोना, उस पर्यायरूप उपजता है। सोनी उसे उपजाता है, ऐसा नहीं है। दृष्टान्त भी कड़क है। समझ में आया? जैसे **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** क्यों? कि उस स्वर्ण को कंकण आदि की पर्याय के साथ एकरूपता है और उससे वह उत्पन्न होता है। समझ में आया? यहाँ तो दृष्टान्त कंकण का दिया है।

इसी प्रकार घड़ा, मकान इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु। शीशपेन। शीशपेन है न? शीशपेन। नोंक निकाले तब सरीखी निकलती है या नहीं? तब किसलिए मशीन रखते हो? अपने आप निकल जाएगी। कहते हैं कि, नहीं। उस परिणामरूप से उपजते हुए वे परमाणु उसे तादात्म्यरूप से वह अजीव ही है। कहो, इस दृष्टान्त में कारीगर को उड़ा दिया है। कारीगर सोने का परिणाम उपजाता है, ऐसा नहीं है। इसी तरह लोहे के परिणाम को खुरपी आदि के जो परिणाम हों... तावेथो समझते हो? तावेथो... नहीं? तवा नहीं तावेथो। इतना होता है न? खुरपी। उस लोहे की पर्यायरूप, उस खुरपीरूप वे परमाणु उपजे हैं, उसके कारीगर ने उपजाया है, ऐसा है नहीं। पहले आते थे न? लुहारिया, लुहारिया बहुत आते थे। गाड़ियाँ लेकर लुहार गाँव-गाँव में (आते थे चित्तौड़ से) उन्हें नियम था न कि अमुक... बिना चित्तौड़ नहीं जाना। अब वापस चित्तौड़ गये। लुहार। जहाँ-तहाँ से लोहा खोजकर करते। कहते हैं कि नहीं। इस स्वर्ण के कंकण आदि परिणाम के साथ उस स्वर्ण को तद्रूपता है। इसी प्रकार प्रत्येक जड़ के काम होते हैं, वे सब (ले लेना)।

उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। लो, यह विषय लिया। समझ में आया? जैसे स्वर्ण, लोहा आदि की पर्याय से उपजते हुए ऐसे सोने, लोहे के परिणाम के साथ उसे एकरूपता है। **उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का...** यह दृष्टान्त दिया। सर्व द्रव्यों को अर्थात् उसमें कोई बाकी नहीं रहा। जीव या परमाणु या स्कन्ध या सब। **उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** अपनी वर्तमान अवस्था के साथ उसकी एकरूपता है। वह पर्याय और परिणामी, दोनों एकरूपपने रहे हुए हैं। दूसरे के साथ उनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया? सर्व द्रव्य। कुछ बाकी (नहीं रहा)। सूक्ष्म हो या स्थूल हो। समझ में आया?

यहाँ पण्डित थे तो प्रश्न किया था कि यह टेबल है। क्या कहा जाता है इसे? यह लकड़ी की छोटी-छोटी... ऐसा कुछ इसका नाम हिन्दी कहते थे। देखो! सुतार बिना हुई है? हाँ, यह सुतार नहीं तो भी ऐसी की ऐसी रही है। यदि सुतार से हुई हो और सुतार जाए तो गिर जाए। यह तो बनी, तब सुतार था या नहीं? बनी तब सुतार था न! बड़े पण्डित, हों! बहुत पढ़े हुए। धवल के अर्थ करनेवाले। समझ में आया? यह तिपाई रही, लो। पहले सुतार

था, तब ऐसा हुआ है या नहीं ? मैंने कहा, नहीं। कारीगर था तो मकान हुआ है या नहीं ? कारीगर गया और मकान ऐसा का ऐसा रह गया है। उस समय भी उसकी पर्यायरूप से उपजे हुए और अभी क्षण-क्षण में भी उसकी पर्यायरूप से वह उपज रहे हैं। अरे! यह बात जगत को भारी कठिन। समझ में आया ? पण्डित (कहे), मेरी आपत्ति आप समझ गये। कहा, समझता हूँ। तुम क्या कहना चाहते हो। मेरी आपत्ति यह है। उसके बिना कैसे होगा ?

यहाँ कहते हैं कि पर्याय का स्वकाल उसका जो-जो है, उसके आकाररूप वर्ण, गन्ध, रस के रूपान्तररूप वे परमाणु स्वयं उस पर्यायरूप उपजते हैं। यह दूसरा उसे उपजानेवाला (है, ऐसा नहीं है)। उत्पाद, व्यय और ध्रुव, इसका अर्थ क्या हुआ ? है या नहीं ? उत्पाद किसे कहते हैं ? उत्पाद उसे कहते हैं कि संयोग आवे तो उसे उपजावे, ऐसा अर्थ उसमें नहीं है। है, उसमें ऐसा अर्थ ? द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। लो, ऐसा तो अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में भरा है। समझ में आया ? यहाँ उत्पाद की तो बात चलती है।

प्रत्येक द्रव्य—सर्व द्रव्य है न ? सर्व द्रव्यों के उत्पाद किसे कहते हैं ? कि उस वस्तु में पहली पर्याय नहीं थी और नवीन पर्याय के उपजने को उत्पाद कहते हैं। वह सोनी आया, इसलिए कंकण हुआ, उसे उत्पाद कहते हैं, ऐसा है ? छह सामान्य गुण सीखे, चार अभाव, छह... दूसरा क्या है तुम्हारे ? छह कारक। लो, यह तो वापस सोलह हुए। कहो, समझ में आया ? सामान्य गुण सीखे, उसमें यह छह कारक आ जाते हैं। गुण स्वयं ही अपनेरूप से कर्ता होकर परिणमे तो एक-एक द्रव्य में षट्कारक पड़े हैं। प्रत्येक द्रव्य में षट्कारक की शक्ति-सत्ता अनादि-अनन्त पड़ी है।

यहाँ भी यह कहते हैं कि सर्व द्रव्य अपने परिणामरूप से उत्पन्न हुए, उसमें कर्ता वह द्रव्य है, उसकी पर्याय वह उसका कर्म, वही सम्प्रदानरूप से परिणमकर स्वयं रखा है। स्वयं ने रखा है और करण अर्थात् अपने साधन द्वारा वह परिणाम उत्पन्न हुए हैं। पर के साधन द्वारा नहीं। यह ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया ? और अपना व्यय पूर्व की अवस्था हुई, तो भी ध्रुव का आधार अपादान वहाँ रहा है और आधार उस पर्याय को उपजाने के लिये उसका द्रव्य है। दूसरे के आधार से कोई पर्याय उपजे, ऐसा वस्तु के

स्वरूप में नहीं है। कहो, समझ में आया? एक भी बोल को भले प्रकार से विचार करके समझे तो एक भाव ठीक से समझे तो सब भाव ठीक आ जाए। ऐसा पाठ है। एक भाव को बराबर जाने, जैसा है वैसा, हों! तो सर्व भाव को ऐसे यथावत जाने। यथार्थरूप से जाने तो सब यथार्थ ज्ञात हो जाए। एक भी विपरीत बात में कोई ठिकाना करे नहीं और घोटाला करे। एक बात मिथ्या तो उसकी सब बात मिथ्या ही समझ में आती है। उसके दृष्टान्त और तर्क और उसके कुतर्क में सब उल्टा ही आता है। समझ में आया?

जैसे सोनी के कारीगर ने सोने के परिणाम को किया नहीं; उसी प्रकार लोहे के परिणाम को; उसी प्रकार यह कुम्हार घड़े के परिणाम को, इसी तरह रोटी की पर्याय को उन परमाणुओं ने उपजाया है। स्त्री और तवे ने उपजाया नहीं। बात यह है कि मैं संयोगरहित हूँ, ऐसी दृष्टि होवे तो उसे परपदार्थ में भी संयोग बिना कार्य होता है, ऐसी उसकी दृष्टि हो जाती है। मैं भी एक संयोगरहित तत्त्व हूँ। पर का संयोग मुझमें है नहीं और वास्तव में तो संयोग से होनेवाला विकार भी मेरी चीज़ में नहीं है। ऐसी जहाँ दृष्टि होती है तो सब पदार्थ संयोग बिना स्वत: काम कर रहे हैं। एक में जँचा, उसे सब में जँच जाता है। समझ में आया? यह तो कहे, कर्म का उदय हो, वह विकार कराता है और विकार हो, वह आत्मा को वापस धर्म कराता है। शुभभाव वापस धर्म कराता है, तो उसे सच्चा माना कहलाता है। कहो, सर्वविशुद्धज्ञान।

अकेला ज्ञानभाव, जो परज्ञेयों में और स्वज्ञेयों में वर्तमान पर्यायरूप से जो द्रव्य उपज रहा है, उसका ज्ञान होने पर उस ज्ञातादृष्टा का भान होने पर वह वीतराग के पन्थ में चढ़ा है। कहो, समझ में आया? करने का दूसरा नहीं है, करने का यह है। उसे यह बाहर के करने से यहाँ कुछ हो तो अनेकान्त कहलाये, नहीं तो अनेकान्त कहलाये नहीं।

सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ... अर्थात् पर्याय के साथ। **तादात्म्य है। इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...** यह और क्या कहते हैं? ऐसे जीव अपनी पर्याय से उपजता हुआ होने पर भी। उपजने का काम तो करता है न? ऐसा कहते हैं। जीव अपनी पर्यायरूप से ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आदि) अनेक गुणों के वर्तमान अंशपरिणामरूप से अंशी-अंशरूप से परिणमता हुआ, ऐसा होने पर भी

उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,... समझ में आया? परिणमने का काम तो करता है। काम किये बिना रहता नहीं, तो कारण और कार्य, कारण और कार्य उसमें लागू पड़ता है। इसका आत्मा कारण और पर्याय उसका कार्य, तो पर के कारणकार्य के साथ सम्बन्ध है या नहीं? इतना हो तो दूसरे का साथ में करे। समझ में आया? उसे अजीव के साथ—इस कर्म के साथ, शरीर के साथ, वाणी के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। आत्मा कारण और परपदार्थ उसके कार्य, यह बात साबित नहीं होती। आत्मा कारण और कर्म उसकी पर्याय का आत्मा का कार्य, यह बात सिद्ध नहीं होती। यहाँ कारण-कार्य का सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। वे कहे, नहीं। यह तो निश्चय की बात है। वापस जहाँ व्यवहार कारण-कार्य कहा, उसे मानोगे या नहीं? इसकी आवश्यकता ही नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। यह तो निश्चय के कारण-कार्य जिसने जाने, उसे व्यवहार अन्दर कैसा होता है, उसका ज्ञान स्व-परप्रकाश में आ जाता है। नया ज्ञान करना नहीं पड़ता, परन्तु व्यवहार के कारण-कार्य अकेला माने और निश्चय का ज्ञान हो जाए, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया?

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... ऐसा कि इस प्रकार से कार्य तो कर रहा है। जीव कार्य समय-समय में कर रहा है और कारण भी स्वयं कार्य का होता है। तथापि उसे अजीव के साथ—शरीर, कर्म, वाणी, बाह्य का कोई भी पदार्थ, यहाँ मूल तो कर्म को सिद्ध करना है, उसके साथ **कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** और उसमें कोई लगावे कि यह तो द्रव्य की बात है। तो यह किसकी बात लगायी है? अकार्यकारणशक्ति है न, ४७ में? वह यहाँ से निकाली है। यहाँ रखी है, इसलिए वहाँ निकाली है। आत्मा में अकार्यकारणशक्ति है। अकार्यकारण ऐसा एक गुण आत्मा में है कि जो अकार्यकारण शक्तिवन्त आत्मा की दृष्टि होने पर जो अकार्यकारण द्रव्य और गुण में था, उसका पर्याय में भी अकार्यकारण की पर्याय हो जाती है कि जो पर का कार्य और राग कारण या पर कारण और राग उसका कार्य या पर कारण और ज्ञान-दर्शन की निर्मल हुई पर्याय कार्य, यह बात रहती नहीं। समझ में आया? **कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** सिद्ध नहीं होता।

पर का कारण जीव हो और पर के कार्य जीव करे या पर के कारणरूप पर हो और

अपना जीव का कार्य वह करे, ऐसा कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। बात को उड़ा दी। समझ में आया? पर के साथ कोई कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। अजीव का कोई भी कार्य जीव करे या अजीव के कार्य में जीव कुछ भी कारणरूप हो, यह बात सिद्ध नहीं होती। कहो, यह टीका की होगी, आचार्य मुनि छठवें गुणस्थान में हैं। वाणी और विकल्प उठता है, तो कहते हैं कि नहीं। उसके कारण में मैं नहीं अर्थात् कि उसके कार्य में मैं कारण नहीं और मेरे कार्य में वह कारण नहीं। ऐसी वस्तु की स्थिति अन्तर में वर्त रही है। समझ में आया? (वापस ऐसा कहे), ऐसा होता नहीं। भगवान का मार्ग सापेक्ष है। और ऐसा कहे। समाचार-पत्र में आया था। कितने वर्ष पहले किसी ने पूछा था, सोनगढ़वाले लोग ऐसा कहते हैं। नाम उसका दे? क्या कहते हैं? कि निरपेक्षरूप से कार्य होता है। महाराज! यह बात सच्ची है? नहीं, जैनधर्म सापेक्ष है। उसका उत्तर ऐसा दिया। सापेक्ष अर्थात्? दूसरा होवे तो कार्य हो, यह बात सापेक्ष है। यहाँ कहते हैं कि निरपेक्ष है। पर के साथ कारणकार्यभाव सिद्ध नहीं होता। समझ में आया?

क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ... सभी चीज़ों को दूसरे पदार्थ के साथ। एक को दूसरे अनन्त द्रव्यों के साथ **उत्पाद्य...** लो, यह योग्यता आयी। उत्पाद्य—होनेयोग्य और **उत्पादक...** करनेवाला। उत्पाद्य-उत्पादक। उत्पाद्य अर्थात् उपजनेयोग्य, उपजने के योग्य। यह योग्यता आयी या नहीं इसमें? सब द्रव्यों में उत्पाद्य और उत्पादक—कोई भी द्रव्य उत्पन्न होने के योग्य और दूसरा उसका उत्पादक, ऐसे भाव का **अभाव है...** कहो, यह एक द्रव्य की बात है या तीन काल के अनादि-अनन्त की? कहो, अभी सिद्ध भगवान वहाँ रहे हैं, वे आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए रहे हैं। परन्तु जाना कहाँ था? उसका स्वयं उत्पाद पर्याय का वही काल और तत्प्रमाण वहाँ रहने का है। लोक का पदार्थ है और उत्पाद्य अपने गुण की पर्याय का उस क्षेत्र में उस काल में वही उत्पाद है। उसे धर्मास्तिकाय के कारण से वहाँ अवस्था रुकी है, ऐसा है नहीं। जहाँ-तहाँ यह सब रखे। देखो! धर्मास्तिकाय अभावात्—धर्मास्तिकाय अभावात्—परन्तु यह तो निमित्त से, व्यवहार से बात की है। परद्रव्य से इसमें अटका, यह तो व्यवहार की बात है। निश्चय से स्वयं अपने कारण से वहाँ उत्पाद्य होता है। पर उसे उत्पाद करे, पर को स्वयं उत्पाद करे, ऐसा किसी द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं है। और वापस उसमें नीचे लिखे, ऐसा जब लिखे तब, यह

निश्चय की उपादान की बात है। निमित्त की बात आवे, तब निमित्त से होता है। अरे! यह कहाँ बात है। यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये (कहा है)। नीचे लिखे, बहुत लिखते हैं। परमानन्द और वे सब। यह उपादान की बात है। उपादान स्वयं अपना उत्पादक, परन्तु दूसरा निमित्त उत्पादक नहीं और स्वयं निमित्त हो तो उत्पाद्य हो, ऐसा नहीं है। ऐसी तो यहाँ बात सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : अन्य द्रव्य अर्थात् निमित्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्य द्रव्य कहो या निमित्त कहो या संयोग कहो। यह क्या कहते हैं?

क्योंकि सर्व द्रव्यों का... एक द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे सभी द्रव्य को। दूसरे में एक के अतिरिक्त दूसरे सभी द्रव्य। उन्हें अन्य द्रव्य के साथ—निमित्त के साथ—संयोग के साथ उत्पाद्य अर्थात् उपजने के योग्य और दूसरा उसका उत्पाद करनेवाला, ऐसे भाव का अभाव है। कहो, समझ में आया? कर्मरूप से कर्म पर्याय उपजे, वह उत्पाद्य और आत्मा राग हो, उसका उत्पादक, कर्म का उत्पादक, ऐसा है नहीं। इसी प्रकार आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो परिणाम उपजें, वे उत्पाद्य और कर्म का अभाव हुआ, इसलिए वहाँ उत्पादक कर्म हुआ (ऐसा नहीं है)। आत्मारामजी! किसका उत्पाद्य-उत्पादक हुआ? कर्म के भाव की पहली भावरूप से पर्याय थी, वह बाद में अभावरूप अर्थात् दूसरे परमाणुरूप, दूसरी पर्यायरूप उत्पाद्य हुआ। यह उत्पाद्य हुआ, उसका उत्पादक तो द्रव्य है। उसका द्रव्य उत्पादक है। यहाँ आत्मा ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्त किया, इसलिए वहाँ चारित्रमोह और दर्शनमोह के परमाणु दूसरे रूप से परिणमित हुए, इस उत्पाद्य का यह गुण उत्पादक है, ऐसा नहीं है। बहुत परन्तु क्रमबद्ध ने तो....

यह होवे तो नियत हो जाए, नियत (हो जाए)। बापू! सुन न! सम्यक् नियत का लक्ष्य ही स्वभाव के ऊपर होता है। स्वभाव... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... मेरा ज्ञान जो ज्ञेय जिस काल में हो, उसे और स्वज्ञेय को, ज्ञान स्वज्ञेय को, ज्ञान की पर्याय स्वद्रव्य-गुण-पर्याय को ज्ञेय करे और दूसरे को ज्ञेय करे यह व्यवहार। परन्तु यह ज्ञेय है तो यहाँ ज्ञान होता है, और यह ज्ञान किया, इसलिए वहाँ ज्ञेय इसे उत्पादक हुआ, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ अर्थात् निमित्त के साथ अर्थात् किसी भी द्रव्य के संयोगी चीज़ के साथ उत्पाद्य और उत्पादक भाव की पर्याय का अभाव है। भाव का अभाव कहा न ? वह पर्याय नहीं। अर्थात् कि दूसरे द्रव्य में ताकत नहीं कि दूसरे द्रव्य की पर्याय उपजावे और स्वद्रव्य की ताकत नहीं कि परद्रव्य के कारण उपजे। क्या कहा, समझ में आया ? स्वद्रव्य में ऐसा गुण नहीं कि जो पर के कारण उपजे तथा परद्रव्य में ऐसा गुण नहीं कि जो इसकी पर्याय को परद्रव्य उपजावे तथा आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि जो उत्पाद होने के काल में दूसरे कारण की अपेक्षा रखे तो उत्पाद हो, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! यहाँ तो सब द्रव्यों की बात है। छहों द्रव्यों का यह सिद्धान्त। चार पैसे में सेर तो मण के ढाई। यह तो चाबी है। फिर कितने, इसका प्रश्न नहीं। पूरे तीन काल तीन लोक के द्रव्य, उसमें कोई उसे उत्पन्न करे और उत्पाद्य उसमें हो, ऐसी दशा का, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि अभाव है। अब इसे घर का भाव डालना हो...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! सबको लागू पड़ता है। अशुद्ध को और शुद्ध को। यहाँ कहाँ यह बात है। यहाँ तो आत्मा की बात है। ध्येय में द्रव्य लिया। सब पदार्थ शुद्ध हो या अशुद्ध। यह और कहते हैं न, शुद्ध में क्रमबद्ध हो, अशुद्ध में नहीं। क्योंकि निमित्त कैसा आता है और विकार कैसा होता है, इसका निश्चितपना नहीं है। ऐसा कहते हैं। शुद्ध में उत्पाद्य बराबर है। वह तो धारावाही (आता है)। चार द्रव्य हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और सिद्ध भगवान। ये तो शुद्ध हैं। इनकी पर्याय तो क्रमबद्ध जो है, वह होती है। परन्तु अशुद्ध में क्रम नहीं होता है। क्यों ? निमित्त किस प्रकार का आवे और विकार किस प्रकार का हो, यह कुछ निश्चित नहीं है। अरे! यह निश्चित है। सुन न! निमित्त जैसा आवे, इसलिए विकार होता है ? यहाँ तो इनकार करते हैं। पर का उत्पाद्य-उत्पादक है नहीं। कर्म उत्पादक और आत्मा का विकार उत्पाद्य, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

ज्ञानावरणीय का उदय आत्मा के ज्ञान की पर्याय को हीन-अधिक करता है या नहीं ?

मुमुक्षु : उत्पादक कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पादक ज्ञानावरणी।

मुमुक्षु : उत्पाद्य ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पाद्य ज्ञान की हीन-अधिक दशा हुई वह। यहाँ तो इनकार करते हैं। ज्ञान में हीनरूप परिणमने की दशा का उत्पाद्य और उत्पादक द्रव्य और उत्पाद्य पर्याय। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। उत्पाद्य पर्याय और उत्पादक द्रव्य। परन्तु ज्ञानावरणी उत्पादक और ज्ञान की हीन पर्याय का उत्पाद्य, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? इसी प्रकार मोहनीय, दर्शनावरणीय इत्यादि (ले लेना)।

वेदनीय ऐसा है। वेदनीय वस्तु को लाता है, यह निमित्त की बात है। कौन लावे ? उस परमाणु की वह पर्याय उत्पाद्य होने की है, वहाँ आने की, उसका उत्पादक तो वह परमाणु है। कहीं वेदनीयकर्म उसका उत्पादक है, ऐसा नहीं है। उस उत्पाद्य में योग्यता ऐसी है या नहीं ? और योग्यता के लिये भड़के।

मुमुक्षु : उत्पाद्य अर्थात् उत्पाद के योग्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया। उत्पाद्य का अर्थ उत्पन्न होने के योग्य। योग्य कहो, योग्यता कहो। शास्त्र में योग्यता नहीं, ऐसा और शोर करते थे। योग्यता इन्होंने निकाली। द्रव्य की योग्यता जिस पर्यायरूप यहाँ परिणमे, उसे उत्पाद्य अर्थात् योग्यता कही है। उत्पन्न होने के योग्य, उत्पन्न होने के योग्य। अनन्त द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय में उत्पाद्य होने के योग्य है। उत्पादक उसका द्रव्य है। दूसरा उत्पादक है, (ऐसा नहीं है)। वृक्ष उपजाओ, नहीं कहते ? क्या है ? वृक्ष को क्या कहते हैं ? उत्पाद करो। अनाज का उत्पादन करो। नहीं कहते ? अभी बहुत चलता है। उत्पाद बढ़ाओ। उत्पादन करो। ऐसा बोलो न ! अनाज का उत्पादन करो, अमुक ऐसा उत्पन्न करो, अमुक उत्पन्न करो। परन्तु कौन करे ? सुन न ! भारी विपरीतता, भाई ! जगत से उल्टा पड़ता है। यह तो सब बड़े... उत्पादन करो, अनाज अधिक उत्पादन करो, अमुक ऐसे उत्पन्न करो। मछलियों को मारकर इकट्ठा करो जिससे अनाज में बहुत दिक्कत न आवे। अरे ! भगवान ! तू कहाँ उलझ गया ? कौन उत्पादन करे ? जो-जो परमाणु और जड़ है या यह तो कर्म की बात है, वह-वह पदार्थ वहाँ सर्व द्रव्य अपनी योग्यता प्रमाण उपजते हैं, उनका उत्पादन करनेवाला तो द्रव्य है। दूसरा उसकी पर्याय को उत्पादन करे, ऐसा बनता नहीं।

यह क्रमबद्ध की बात चलती है। क्रमबद्ध सच्ची बात है या क्या है ? कोई उत्पादक नहीं। तो फिर हो गया। किसी की आशा रखना नहीं। अपने को अपने आप करना। परन्तु अपने आप ही करता है। कब आशा से होता है ? पर के कारण होता नहीं। समझ में आया ? चैतन्य है, इसलिए कहीं पर के लक्ष्य से कार्य करे, ऐसा नहीं है। कार्य करता है, वह अपने लक्ष्य से और अपने आश्रय से करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, वीर्य के उत्पाद की योग्यता अपनी और उसे उत्पन्न करनेवाला द्रव्य। कर्म-बर्म है नहीं। कर्म में इस प्रकार की प्रकृति ज्ञानावरणीय बँधी, दर्शनावरणीय बँधी। जैसी यहाँ ज्ञान की असातना की, वैसा ज्ञानावरणीय बँधा। लो, तो फिर मिथ्या पड़े। गोम्मटसार में नहीं आता ? छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधते हैं, छह प्रकार दर्शनावरणीय बँधते हैं। आता है या नहीं ? सुना है ? ज्ञान की असातना करे, ज्ञान का विराधन करे, ज्ञान की अन्तराय करे। ज्ञान जो वस्तु है, उसका आदर-सत्कार न करे तो ऐसे कर्म बँधते हैं। ज्ञानावरणीय के ऐसे बड़े लट्ठ जैसे। गोम्मटसार में ऐसा लेख है। यह तो बड़ा गोम्मटसार कहलाये न ! सौ रुपये की इतनी बड़ी पुस्तक। यह बात सत्य है। क्या सत्य ? कि यह जैसे परिणाम करे, वे तो निमित्तमात्र, परन्तु वहाँ परमाणु स्वयं के कारण से उस प्रकार के ज्ञानावरणीयरूप परिणमनेवाले हों, वे उत्पाद्य होकर (परिणमते हैं)। उसका उत्पादक उसके परमाणु। इस आत्मा ने ज्ञान की असातना की, इसलिए वह उत्पादक होकर वह (कर्म) उत्पाद्य हुआ, ऐसा है नहीं। ऐसे कथन गोम्मटसार में, तत्त्वार्थसूत्र में आते हैं या नहीं ? दर्शनमोहनीय इतने कारण से बँधता है। श्रुत का अवर्णवाद, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की प्रशंसा, सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का अनादर / अविनय, मुनि की ग्लानि। संघ आता है न ? संघ... संघ...। चतुर्विध संघ का अवर्णवाद। इससे दर्शनमोहकर्म बँधता है। यहाँ कहते हैं कि यह बात हमने निमित्त के कथन से बात की थी। वे दर्शनमोह के परमाणु की पर्याय में कर्मयोग्य जो परमाणु थे, वे अपने उत्पाद्य के कारण से उत्पादन हुआ है, कहीं आत्मा के कारण से नहीं हुआ। अत: फिर यह कोई कर्म बाँधेगा और कर्म छोड़े, यह सब बात मिथ्या पड़ेगी, ऐसा लोगों को लगता है, लो ! यह आत्मा ऐसे कर्म बाँधे, आत्मा ऐसे कर्म छोड़े, ये बातें निमित्त के अभूतार्थनय की है। कर्म के परमाणु उसके उत्पाद्य कारण से उपजते हैं और उसके कारण से फिर पर्याय का नाश होना हो, तब उसरूप उत्पाद होकर उपजते हैं। आत्मा के कारण से उसमें कुछ फेरफार हो, ऐसा कर्म के अन्दर है नहीं। कहो, समझ में आया ?

यह कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होने पर, ऐसा कार्य और कारणभाव। कार्य कौन? उत्पाद्य होने के योग्य। उत्पाद ही उसका कारण। दूसरा उत्पादक और यह उत्पाद्य, ऐसा किसी द्रव्य में किसी के कारण से उत्पादन हो और स्वयं उत्पादक हो, ऐसा सिद्ध नहीं होने से **अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता;...** लो, यहाँ सिद्ध किया। अजीव के कार्य को इस जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? इस प्रकार जब किसी के उत्पाद्य की योग्यता से दूसरा उत्पादन करे, ऐसा नहीं बनता। इसलिए अजीव को आठ कर्म की पर्याय को, आठ कर्म की पर्याय को जीव का कार्यपना, कर्मपना अर्थात् जीव का कार्यपना, अजीव की कार्यदशा को जीव का कार्यपना साबित नहीं होता। समझ में आया इसमें? अजीव के कार्य को जीव का कार्य है, वह साबित नहीं होता। आठों कर्म की पर्यायरूपी कार्य को, वह अजीव का कार्य है, उसे जीव का काम है, यह बात सिद्ध नहीं होती। आत्मा आठ कर्म बाँधे, यह बात सिद्ध नहीं होती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को हिलाने का काम अजीव का; अजीव का काम जीव का काम है, यह साबित नहीं होता। समझ में आया? इसी प्रकार घट का कार्य कुम्हार का कार्य है, ऐसा सिद्ध नहीं होता – ऐसा कहते हैं। घट का अजीव का कार्य, वह कुम्हार का कार्य है, यह सिद्ध नहीं होता। उस घट के कार्य का उत्पाद्य और उत्पादक वे परमाणु हैं, दूसरे से कुछ नहीं होता। (विशेष कहेंगे...)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्री समयसार गाथा 308 से 311
प्रवचन नं. 3
दिनांक 23—07—1979, सोमवार, अषाढ़ कृष्ण 15

क्रमबद्ध कहा, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमसर एक के बाद एक, एक के बाद एक होनेवाली होगी। ऐसा शास्त्र में भी आता है, क्रमरूप और अक्रमरूप पर्याय दो प्रकार की है। 38 गाथा। एक, एक लेना है। **'अहमेक्को'** वहाँ लिया है, क्रमरूप और अक्रमरूप दोनों पर्याय से भिन्न आत्मा है। वह अक्रम क्या? वह अक्रम इस क्रमबद्ध को तोड़कर अक्रम नहीं है। परन्तु एक समय में गति आदि होते हैं, वे एक के बाद एक होते हैं, इसलिए क्रम कहलाता है और एक समय में योग, राग, लेश्या आदि होती है, उसे अक्रम कहा जाता है। है तो क्रमबद्ध। परन्तु एक साथ योग, लेश्या, रागादि पर्याय में होते हैं, उन्हें अक्रम कहा। अक्रम का अर्थ एक साथ बहुत सी पर्यायें हैं तथा क्रम एक समय में गति है तो दूसरे समय में वह गति नहीं, तो यह क्रम है। गति में क्रम है और योग, लेश्या और राग में अक्रम है। अर्थात् एक साथ है। है तो क्रमबद्ध। 38 गाथा में जहाँ **'अहमेक्को'** लिया है न? एक। **'अहमेक्को'** लिया है वहाँ।

मैं क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान भावों से भिन्न हूँ। आहाहा! मैं एकरूप शुद्ध चिदानन्द हूँ। क्रमरूप और अक्रमरूप से मैं भिन्न हूँ। वह क्रम और अक्रम है, वह व्यवहारिक भाव है। 38 गाथा में 'एक' की व्याख्या। दूसरी जगह आता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में। परन्तु यह क्रम-अक्रम पर्याय की बात है। बाकी क्रम और अक्रम दूसरे प्रकार से लें तो गुण है, वे अक्रम हैं और पर्याय है, वह क्रम है। समझ में आया? 38 गाथा में यह नहीं लेना है और यहाँ भी यह नहीं लेना है। है? पण्डितजी! क्रम-अक्रम।

अपनी पर्याय में क्रम से गति एक समय में एक होती है, दूसरी नहीं तो यह क्रम कहलाता है। है तो पर्याय और एक समय में राग, योग, लेश्या आदि एक समय में साथ में है। है तो पर्याय, है तो क्रमबद्ध में। आहाहा! परन्तु एक साथ होने से अक्रम कहलाता है। कितने ही तर्क करते हैं कि देखो! अक्रम और क्रम लिखा है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में है।

अक्रम... अक्रम। परन्तु वह तो दूसरी बात है। पर्याय में एकसाथ योग, लेश्या आदि हो तो उसे अक्रम कहते हैं अथवा यहाँ 38 में वह नहीं है। परन्तु दूसरी जगह आता है, गुण अक्रम है और पर्याय क्रम है। गुण सहवर्ती है—एक साथ अनन्त हैं। एक साथ में द्रव्य के साथ है, ऐसा भी नहीं। क्या कहा ? आत्मा में गुण अक्रम है। सहवर्ती है, एकसाथ हैं। एकसाथ गुण हैं, वे द्रव्य में एकसाथ हैं, इसलिए नहीं, परन्तु गुण एकसाथ अनन्त हैं, इसलिए सहवर्ती कहा गया है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। क्या कहा ? कि—

जो भगवान आत्मा एकरूप द्रव्य है और गुण अनन्त हैं। वे गुण एक साथ सहवर्ती हैं। सहवर्ती अर्थात् साथ में वर्तते हैं। सहवर्ती अर्थात् द्रव्य के साथ गुण हैं, इसलिए सहवर्ती कहा है, ऐसा नहीं है। द्रव्य के साथ तो पर्याय भी है।

मुमुक्षु : अनन्त गुण एक साथ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण अनन्त साथ में है और पर्याय एक साथ नहीं है। यहाँ यह सिद्ध करना है। क्रमबद्ध सिद्ध करना है न ! गुण है... समझ में आया ? सूक्ष्म है, भगवान ! मार्ग तो अन्तर की सूक्ष्म बात है, भाई ! वीतराग परमात्मा...

यहाँ 38 में कहते हैं, गुरु ने समझाया। गुरु ने शिष्य को समझाया, ऐसा पाठ है। शिष्य को समझाया, उसमें यह समझाया। प्रभु ! एक बार सुन। तेरी पर्याय में अक्रम और क्रम दोनों हैं। इन दो का अर्थ पर्याय क्रमसर... एक गति है, तब दूसरी गति नहीं। यह क्रम तथा राग, योग, लेश्या एक साथ है, इसलिए अक्रम। पर्याय क्रमवर्ती में से छूटकर पर्याय अक्रम हो जाती है, ऐसा नहीं है। एक साथ रहते हैं; इसलिए अक्रम कहा गया है और गुण को भी अक्रम कहा गया है।

आत्मा-भगवान आत्मा गुण और पर्याय के भेद से भी रहित है। आहाहा ! वह पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, एकस्वरूप विराजमान है। उसकी दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है, इसका नाम धर्म की प्रथम सीढ़ी है। आहाहा ! उसमें गुण को सहवर्ती कहा। वे गुण एक साथ रहते हैं। पर्याय एक साथ नहीं रहती। वहाँ तो इतना क्रमवर्ती कहा है। यहाँ क्रमबद्ध कहा। निश्चय से एक के बाद एक पर्याय होनेवाली है, वही होगी। द्रव्य में पर्याय आगे-पीछे होगी, ऐसा नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य में पर्याय की व्यवस्थित व्यवस्था है। व्यवस्था अर्थात् विशेष अवस्था। उस-उस समय में वह पर्याय स्वयं से व्यवस्थित है। दूसरा कोई उस पर्याय को करे अथवा उस पर्याय को फेरफार करे, ऐसा नहीं है। दूसरी बात। जरा ख्याल में बात आयी। आत्मा में 47 शक्ति-गुण लिये हैं। हैं अनन्त, 47 के यहाँ नाम लिये हैं। 47 शक्ति में ऐसा एक गुण है, भाव नाम का एक गुण है। पीछे 47 में। भाव नाम का गुण है। उस गुण का स्वरूप क्या? सूक्ष्म है, भगवान! कोई भी पर्याय जिस समय में होनेवाली है, उस समय में होगी, वह भावगुण का कार्य है। समझ में आया? जिस समय में जो पर्याय होगी, वह भावगुण का कार्य है। भावगुण के कारण से भवन—उस समय में पर्याय होती है, वह भावगुण के कारण से। आगे-पीछे नहीं। एक बात।

दूसरी बात, वह भावगुण है, उसका अनन्त गुण में रूप है। जैसे भावगुण, उसमें वर्तमान पर्याय होनेवाली होगी ही, भावगुण के कारण से। ऐसे अनन्त गुण में भी भावगुण का रूप है। अनन्त गुण में से भी भावगुण के कारण से (उन सबमें क्रमसर पर्याय होगी ही।) समझ में आया? भाई! सूक्ष्म है भगवान! यह क्रमबद्ध तो सूक्ष्म शैली है। हमारे यहाँ तो (संवत्) 1972 के वर्ष से चलता है। क्रमबद्ध का। समझे? कल कहा था न?

केवली ने देखा वह होगा। बात तो सत्य ऐसी ही है। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, (वह होगी) परन्तु केवली ने देखा, वैसा होगा, ऐसा पर से लेता है, वह छोड़ दे। समझ में आया? द्रव्य की पर्याय ही जब-जब होनेवाली, वह होगी। यह द्रव्य का स्वभाव है। और उस द्रव्य में एक भाव नाम का गुण है कि जिस कारण से जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह भावगुण से होती है और उस पर्याय को छोड़कर दूसरी होती है, तो भी उसमें एक भाव-अभाव नाम का गुण है। भगवान आत्मा में भाव-अभाव नाम का गुण है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

जो अनन्त गुण की पर्याय है, वर्तमान है और होनेवाली है, वह भी है। परन्तु उस भाव का अभाव (होगा)। भाव का अभाव अर्थात् वर्तमान है, उसका अभाव (होगा)। ऐसा एक गुण है। उस गुण के कारण से वर्तमान पर्याय में भाव नहीं, उस अभाव का भाव करना नहीं पड़ता। मैं करूँ—ऐसा विकल्प नहीं (करना पड़ता)। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म है। यह तो यहाँ क्रमबद्ध आया और दूसरी जगह क्रम-अक्रम है।

परन्तु वह क्रम-अक्रम पर्याय की बात है। एक के बाद एक होगी, वह अक्रम होगी, ऐसा नहीं है। पर्याय में एक साथ रहनेवाली पर्याय को अक्रम कहते हैं और एक साथ नहीं रहनेवाली पर्याय को क्रम कहते हैं। समझ में आया ?

यहाँ तो... आहाहा! भाव नाम का गुण है। भाव नाम के दो गुण आत्मा में हैं। एक भावगुण ऐसा है कि षट्कारक से पर्याय में जो विकृत भाव क्रमसर में होता है, उस भावगुण के कारण से उस विकृत पर्याय के अभावरूप परिणमन होना, वह भावगुण का कार्य है। यहाँ तो क्रमबद्ध में निर्मल पर्याय प्रगट होती है, ऐसा लेना है। समझ में आया ? आहाहा! क्यों ? कि आत्मा में क्रमबद्ध है ऐसा जहाँ निर्णय करते हैं, तब तो ज्ञायकस्वरूप पर दृष्टि होती है और ज्ञायकस्वभाव में अनन्त गुण हैं तो अनन्त गुण में एक भाव नाम का गुण भी है और दूसरा भाव नाम का गुण है। दो भाव नामक गुण हैं। इस भावगुण का अर्थ (कि) जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह उस भाव के कारण से होगी। उस भाव का अनन्त गुण में रूप है तो उस अनन्त गुण के कारण से होगी। एक बात।

दूसरी बात, षट्कारक से पर्याय में विकृत होता है, वह कर्म से नहीं। द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय में विकृत षट्कारक हुए। कर्ता राग, कार्य राग, सम्प्रदान आदि। रागादि, द्वेषादि, विषयवासना आदि। वह जो पर्याय में षट्कारकरूप परिणमन होता है, उसमें एक ऐसा गुण है कि विकार का अभाव होकर अविकार परिणमन होता है। एक भावगुण है। सैंतालीस शक्ति है। सब आ गया है। व्याख्यान तो सब लिखे गये हैं, प्रकाशित होंगे। समझ में आया ? यह भाव (नाम की) एक ऐसी शक्ति-गुण है कि जो विकृत परिणमन पर्याय में होता है, वह भावगुण के कारण से विकृत से अभावरूप परिणमन होता है। समझ में आया ? विकृत से अभावरूप धर्मरूप मोक्षमार्ग की पर्यायरूप परिणमन होता है। आहाहा!

इस क्रमबद्ध में भी ऐसा निकालना है। समझ में आया ? कोई कहे, क्रमबद्ध है, क्रमबद्ध है, वह तो होगा। परन्तु सुन तो सही, प्रभु! आहाहा! क्रमबद्धपर्याय तो ऐसी ही होती है। परन्तु क्रमबद्ध में अकर्तापना कब आता है ? मैं करूँ, ऐसी करूँ, इस पर्याय को करूँ, तब तक तो विकल्प है और कर्तापने का भाव है। क्रमबद्ध पर्याय होती है, उसे मैं करूँ—ऐसा विकल्प भी नहीं और मैं, पर्याय होती है, उसे करूँ—ऐसा भी भाव नहीं। आहाहा! सेठ! ऐसी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', ऐसी जो अन्दर चीज़ है, वह पर्याय से भिन्न है। आहाहा! यह क्रमबद्ध की पर्याय और अक्रम पर्याय अर्थात् अक्रम अर्थात् योग, लेश्या आदि साथ में रहनेवाले, उससे रहित है। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा जब दृष्टि में आता है, तब उसमें जितने गुण हैं, उन गुण में भावगुण का रूप है, इसलिए उस समय अनन्त गुण की पर्याय होती ही है। मैं करूँ तो होती है, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : यह समझनेयोग्य बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझनेयोग्य बात है। समझ में आया? प्रियंकरजी! यह प्रियंकर करनेयोग्य चीज़ है। आहाहा!

भगवान आत्मा एक समय में वर्तमान रूप... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... त्रिकाल रहेगा इसलिए, यह त्रिकाल की अपेक्षा भी व्यवहार हो गया। कथन आता है। परन्तु बाकी एक समय में परमात्मा स्वयं पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव, यह क्रमबद्ध में निर्णय में अकर्तापना आता है। अथवा ज्ञातापना आता है, तो ज्ञातापना और अकर्तापना कब आता है? कि क्रमबद्ध के लक्ष्य में से पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, जिसमें से क्रमबद्ध होता है, उस द्रव्य पर दृष्टि देना। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह अनन्त गुण का विकृत परिणमन जो होता है, परन्तु उसमें ऐसा गुण है, उसने द्रव्य को पकड़ा, क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य को-ज्ञायक को पकड़ा परन्तु वह तो पर्याय में पर्याय का निर्णय पर्याय से नहीं होता। पर्याय का ज्ञान भी द्रव्य का निर्णय करने से पर्याय का ज्ञान होता है। यहाँ कहते हैं कि पर्याय में जो क्रमसर पर्याय है, उसका जब निर्णय करते हैं तो ज्ञायक पर दृष्टि जाती है। ज्ञायक में भाव नाम के दो गुण हैं। एक भाव नामक गुण के कारण से अनन्त गुण में ऐसी शक्ति स्वयं से है कि उस समय में पर्याय होगी, होगी और होगी ही। मैं करूँ तो होगी, ऐसा नहीं है और एक भावगुण ऐसा है कि पर्याय का षट्कारक परिणमन होता है और क्रमबद्ध का निर्णय जब ज्ञायक पर जाता है, तब उसे निर्विकारी धर्म की पर्याय उत्पन्न होती है। भावगुण के (कारण से)। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसी व्याख्या। वह तो करो, व्रत करो, उपवास करो, तपस्या करो, भक्ति करो,... सीधा-सट्ट था। यह तो सब भटकने का था। यह राग की क्रिया है और राग का कर्ता होता है तथा आगे-

पीछे करने जाता है तो मिथ्यात्व ही होता है। आहाहा! क्योंकि द्रव्य में जो स्वभाव है, भाव नाम का गुण है, उस गुण के कारण से अनन्त गुण की वर्तमान पर्याय होगी, होगी और होगी ही। वह आगे पीछे नहीं होगी। उस समय में होनेवाली है, वह होगी ही होगी। मैं करूँ तो पर्याय होती है, ऐसी दृष्टि भी उड़ जाती है। आहाहा! ऐसा विकल्प तो उड़ जाता है (परन्तु दृष्टि भी उड़ जाती है)। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो मूल तत्त्व है। परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ने जो कहा, वह कोई पन्थ नहीं, वह कोई पक्ष नहीं; वह तो वस्तु का स्वरूप है, ऐसा कहा है। आहाहा! वह वस्तु का स्वरूप यह है।

जब वस्तु की दृष्टि होती है और क्रमबद्ध की पर्याय के ऊपर से लक्ष्य छूट जाता है, तब उसे द्रव्य की दृष्टि होती है। तो द्रव्य में जो दो भाव गुण पड़े हैं, तो एक गुण के कारण से विकृतरूप परिणमन के अभावरूप परिणमन होता है। विकृतरूप परिणमन से भी अभावरूप परिणमन अर्थात् धर्म सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन होता है। एक भाव के कारण से उस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी ही। आहाहा! मैं वह पर्याय द्रव्य में करूँ तो होगी, ऐसा प्रश्न नहीं है। ऐसा विकल्प तो नहीं। भाई! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! उस वस्तु में विकल्प तो नहीं परन्तु वह पर्याय भावगुण के कारण से पर्याय होगी, फिर मैं करूँ, ऐसा भी विकल्प का लक्ष्य नहीं है। वह पर्याय करूँ, ऐसा भी उसमें लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य तो द्रव्य के ऊपर जोर में आया है। कि जिसमें अनन्त गुण पड़े हैं। भाव, अभाव, अभावभाव... एक-एक बात सूक्ष्म है। पहले सब व्याख्यान हो गये हैं। वे प्रकाशित हो गये हैं। मुम्बई से निर्णय किया है कि पैंतीस पुस्तकें व्याख्यान की छपाने के लिये। चार महीने विशेष उस पर लिया है—सैंतालीस शक्ति, सैंतालीस नय, बीस अलिंगग्रहण, छह अव्यक्त के बोल आदि के ऊपर चार महीने एक साथ व्याख्यान किये थे। उसमें यह आया है।

आत्मा में दो भाव नाम के गुण हैं। तो क्रमबद्धपर्याय का जब निर्णय करते हैं, तो उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है। और द्रव्य में भाव नाम का गुण पड़ा है, इस कारण से विकाररहित परिणमन होता है। नहीं तो क्रमबद्ध में विकार भी आता है। समझ में आया? परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, वहाँ क्रमबद्ध में निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

कहते हैं कि, प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ,... अपने परिणाम। निर्मल परन्तु अपने परिणाम कहे। समझ में आया? नहीं तो पर्याय है, वह द्रव्य से भिन्न है। पर्याय तो द्रव्य के ऊपर तैरती है। पर्याय का प्रवेश द्रव्य में नहीं है परन्तु यहाँ तो इतना सिद्ध करना है कि इस जीव में जो परिणाम होते हैं, वे क्रमसर होते हैं, क्रमबद्ध होते हैं। साधारण बात तो ऐसी आयी कि गुण सहवर्ती और पर्याय क्रमवर्ती, ऐसा साधारण शब्द आया। यहाँ तो तदुपरान्त क्रमनियमित है। क्रमवर्ती तो है परन्तु नियम से जो होनेवाली है, वह होगी। आहाहा! भाई!

मुमुक्षु : जो पर्याय आनेवाली है, वही आयेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होगी ही। सत् है न। वास्तव में तो सत् पर्याय... यहाँ तो निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय उत्पन्न होती है, वह भी क्रमबद्ध का निर्णय करने से द्रव्यस्वभाव का निर्णय होता है तो उसका परिणमन निर्मल ही होता है। समझ में आया? विकार होता है, परन्तु विकार से रहित उसका परिणमन होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को जँचना, न जँचना... वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, वस्तु ही ऐसी है।

आत्मा और आत्मा में अनन्त गुण हैं, तो अनन्त गुण में यह सब गुण हैं। सब गुण की वर्तमान पर्याय हो, ऐसा भी उसमें गुण है। पर्याय करूँ (तो) होगी, ऐसी बात नहीं है। एक बात। और वह भाव पर्याय है, उसका अभाव होता है तो उस पर्याय का मैं व्यय करूँ, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि भावअभाव नाम का एक गुण आत्मा में है। समझ में आया? आहाहा! वह व्यय होकर... आहाहा! वीतरागमार्ग तो देखो! ओहो! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का पन्थ कोई अलग प्रकार का है, भाई! दुनिया के साथ कहीं मिलान खाना कठिन है। इसलिए लोग सोनगढ़ का एकान्त है, एकान्त है, एकान्त है (बोलते हैं)। कहो, प्रभु! तू भी प्रभु है।

सिद्धान्त में तो ऐसा लिया है कि समकिती को पर्यायदृष्टि उठ गयी है तो द्रव्य से परद्रव्य इसका साधर्मी है। क्योंकि स्वयं की पर्यायदृष्टि उड़ गयी है तो उसकी पर्याय नहीं देखता। पर्याय से रहित उसका द्रव्य है। समझ में आया? आहाहा! द्रव्य साधर्मी है,

भगवान है। पर्याय का लक्ष्य स्वयं का छूटा तो पर की पर्याय है, उसका भी लक्ष्य छूट गया। उसका द्रव्य है, उसे देखता है। आहाहा!

भगवानस्वरूप परमात्मा अन्दर है। ऊपर का शरीर आदि या रागादि परिणाम चाहे जो हों, परन्तु भगवान तो अन्दर उससे भिन्न भगवान है। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना क्रमबद्ध का और धर्म की निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह बात पहले बहुत हो गयी है। पहले तो बहुत बात चल गयी है। इतने के आठ व्याख्यान होते थे। शुरुआत में तो पहले... आहाहा!

अपने परिणामों से उत्पन्न (होता हुआ)। यह परिणाम क्या? निर्मल लेना। विकार साथ में होता है, परन्तु उसका ज्ञान होता है, वह परिणाम इसके लेना। आहाहा! समझ में आया? परिणाम में विकार तो होता है, परन्तु वह अपना परिणाम नहीं, क्योंकि जब क्रमबद्ध का निर्णय होता है, तब तो द्रव्य के ऊपर—ज्ञायक पर दृष्टि पड़ती है। ज्ञायक में कोई विकारगुण तो है नहीं, अविकारी अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! उस अनन्त गुण के पिण्ड का जहाँ स्वीकार हुआ तो पर्याय में विकृत होता है परन्तु वह अपने परिणाम नहीं। उनसे रहित जो परिणाम है, वे अपने परिणाम हैं। क्रमसर होते हैं, होनेवाले हैं, तब होते हैं, तो भी अपने निर्मल परिणाम हैं, वे अपने हैं। आहाहा! समझ में आया? विकृत अवस्था ज्ञानी को भी होती है परन्तु वे अपने परिणाम हैं, ऐसा वहाँ नहीं कहा। आहाहा!

क्रमबद्ध में विकृत परिणाम भी क्रमसर ही आते हैं, परन्तु वे विकृत जो क्रमसर होते हैं, उसी समय विकृत से रहित... क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय द्रव्य के (आधार से हुआ)। द्रव्य में तो अनन्त गुण हैं, तो अनन्त गुण निर्मल हैं, तो उस विकृत अवस्था से रहित क्रमबद्ध का निर्णय करने पर द्रव्य का निर्णय हुआ तो निर्मल पर्याय की ही उत्पत्ति होती है। वह अपने परिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। आहाहा! समझ में आया? यह तो रहस्य का पार नहीं होता। कहीं पहुँच सके नहीं। यह तो सन्तों की वाणी! दिगम्बर सन्तों की वाणी तो अलौकिक है। आहाहा! कहीं नहीं है।

वेदान्त एक आत्मा कहता है, शुद्ध है। सुधरेल में बहुत चलता है न। परदेश में भी वेदान्त बहुत चलता है। वेदान्त—एक सर्व व्यापक है, सर्व व्यापक है। मुसलमान में भी

ऐसा चलता है। उसमें एक सूफी नाम का मार्ग है। सूफी फकीर हमने देखे हैं। हम एक बार बाहर निकलते थे, वहाँ सूफी सामने मिला। मिला तो खड़ा रह गया। वैराग्य दिखे। सूफी फकीर, हों! वह एक माने। एक मैं हूँ। मैं एक खुदा हूँ। दो चीज़ नहीं। 'हम हैं खुद खुदा यारो, हम है खुद खुदा यारो, दूसरी कोई चीज़ है नहीं।' ऐसा माननेवाले। हम तो बहुतों के परिचय में आये न! दरवाजे से निकलते थे। वहाँ दो फकीर थे। वैराग्य... उदास... उदास... उदास। कहा, यह कौन है? सूफी फकीर है। एक खुदा माननेवाला। एक ही खुदा सर्वव्यापक है, सब झूठ है। वेदान्त भी सर्व व्यापक मानता है। वेदान्त तो यहाँ तक कहता है कि आत्मा और आत्मा का अनुभव, दो कहाँ से आये?

यहाँ तो आत्मा और आत्मा की पर्याय, दो लेना है। अनुभव है, वह पर्याय है। आत्मा त्रिकाली है। इस क्रमबद्ध का जहाँ निर्णय करते हैं तो आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा का अनुभव और आत्मा दो (हुए)। उसका वेदान्त निषेध करता है। आत्मा और अनुभव, तो द्वैत हो गया। ऐसा नहीं है। द्वैत ही है। अनुभव की पर्याय है, विकार की पर्याय भी है। उस पर्याय से रहित अपना परिणमन होता है तो यह है सही न? है तो उससे रहित हुआ न? आहाहा! न हो तो उससे रहित होना क्या? छह द्रव्य से रहित आत्मा है। तो छह द्रव्य है या नहीं? अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अनन्त आत्मा आदि सब हैं। एक समय की पर्याय में जहाँ द्रव्य का आश्रय होकर निर्णय होता है, तो उस पर्याय में अपने द्रव्य-गुण का भी ज्ञान होता है और पर्याय में ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक स्वयं से है... स्व-परप्रकाशक की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! पर को जानूँ, यह भी नहीं। पर को जानूँ, ऐसा भी नहीं। यह तो परसम्बन्धी अपना जो ज्ञान है, उसे जानता है; पर को नहीं जानता। पर को तो स्पर्श नहीं करता तो पर को जाने कहाँ से? आहाहा! समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म है, भाई! बात तो ऐसी है। आहाहा! बराबर न समझ में आये तो रात्रि में पूछना। ऐसा नहीं समझना कि हम से न पूछा जाएगा। ऐसी बात नहीं है। सब पूछ सकते हैं। आहाहा!

अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... यहाँ तो अपने परिणामों से, (ऐसा कहा), भाई! अपने परिणामों से। विकार, वह अपने परिणाम से नहीं। वह जीव के परिणाम नहीं। उस समय विकृत (परिणाम) होते हैं, परन्तु उस समय क्रमबद्ध का निर्णय द्रव्यदृष्टिपूर्वक हुआ है तो विकाररहित अपने परिणाम में परिणमन क्रमबद्ध में होता है। आहाहा! समझ

में आया ? यह तो एक लाईन का अर्थ तीसरी बार होता है। परसों किया था, कल किया था। पार नहीं है। वीतरागमार्ग के शास्त्र में रहस्य का पार नहीं है। आहाहा!

ऐसी चीज़ भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ के श्रीमुख से दिव्यध्वनि आयी है। दिव्यध्वनि में से 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।' आहाहा! भव्य प्राणी... आहाहा! 38 गाथा में तो ऐसा कहा है, 38 में क्रम-अक्रम के पीछे (आता है)। शिष्य—पंचम काल का श्रोता। पंचम काल की बात है न! साधु पंचम काल के हैं न ? यह अमृतचन्द्राचार्य। पंचम काल। पंचम काल में अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य (हुए) तो श्रोता पंचम काल के हैं। श्रोता को समझाते हैं। 38वीं गाथा में ऐसा लिया है कि श्रोता सुनता है और सुनकर तुरन्त प्रतिबोध पाता है। और प्रतिबोध ऐसा पाता है... 38 में पाठ है कि मुझे जो सम्यग्दर्शन हुआ, मिथ्यात्व का नाश हुआ, उसका अंकुर अब उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! 38 में है। 38 गाथा में है और 92 गाथा में है। प्रवचनसार ९२वीं गाथा में है। पंचम काल के श्रोता ऐसा कहते हैं, पंचम काल के श्रोता को गुरु ने समझाया, अप्रतिबुद्ध को समझाया। कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह समयसार तो साधु के लिये है। यहाँ पाठ में तो अप्रतिबुद्ध को समझाया है, ऐसा है। है ? आहाहा!

अप्रतिबुद्ध समझा... आहाहा! सन्तों ने ऐसी बात ली है कि शिष्य ऐसा कहता है, प्रभु! अब हमें मिथ्यात्व का नाश हुआ, उस मिथ्यात्व का अंकुर अब सादि-अनन्त काल उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! अरे! प्रभु! परन्तु आप छद्मस्थ पंचम काल के श्रोता हो, अप्रतिबुद्ध थे, ऐसा सुना और इतना जोर आ गया! भाई! भगवान! जोर क्या, आत्मा में इतनी ताकत ही है। ओहोहो! अप्रतिहत की बात ली है। 38 में, 92 में। उत्पन्न हुआ, वह हुआ। सम्यग्दर्शन हुआ और फिर गिर जाएगा, यह बात ही नहीं है। आस्रव अधिकार में लिया है, नय से परिच्युत हो तो ऐसा होता है। जरा ज्ञान कराने के लिये आस्रव (विकार में) नय परिच्युता कहा है।

श्रोता तो ऐसे लिये हैं... आहाहा! ऐसा सुनकर उसे ऐसा रस आया और द्रव्य पर झुक गया। आहाहा! झुक गया और जो अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ तो यह कहते हैं कि अब हम सम्यग्दर्शन से गिर जायें और मिथ्यात्व उत्पन्न होगा, यह हमारे नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! प्रवचनसार 92 में भी ऐसा कहा है। आगम कौशल्य से

और अपने अनुभव से मुझे जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, उस दर्शन में मिथ्यात्व का अंकुर भी उत्पन्न नहीं होगा। चारित्र की बात दूसरी है। क्योंकि चारित्र तो पंचम काल के हैं तो स्वर्ग में जाएँगे, (वहाँ) चारित्र नहीं रहेगा। पंचम काल के साधु हैं न! केवलज्ञान तो है नहीं। हमारे दर्शन में मिथ्यात्व का अंकुर हमें उत्पन्न नहीं होगा। हम चारित्रवन्त हैं तो हमारा चारित्र नाश नहीं पावे, ऐसा नहीं है। क्योंकि हम पंचम काल के हैं और हमें स्वर्ग में जाना पड़ेगा। क्योंकि हमें केवलज्ञान नहीं है। हमारे पुरुषार्थ में कमी है। वह काल के कारण से नहीं है। यहाँ से तो स्वर्ग में जाना पड़ेगा तो चारित्र से तो रहित होंगे। आहाहा!

मुमुक्षु : चारित्र अप्रतिहत नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र अप्रतिहत नहीं है। ऐसा कहा न, यही कहा।

मस्तिष्क में इतनी बात याद आवे। सब कहीं कहने जाए? चारित्रपाहुड़ में एक भाव आया है। चारित्रपाहुड़ में पर्याय का (भाव आया है)। पर्याय अक्षय है। दो बोल है न? अमेय। अक्षय और अमेय। पर्याय, हों! द्रव्य-गुण की क्या बात करना! आहाहा! द्रव्य की जहाँ अनुभवदृष्टि हुई, मैं पूर्णानन्द प्रभु अभेद अखण्डानन्द हूँ, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, तो कहते हैं... आहाहा! उस चारित्रवन्त को पर्याय... चारित्रवन्त की ली है, हों! अक्षय है और अमेय है। नहीं तो चारित्र तो छूट जाएगा। हमारा चारित्र छूटे तो भी हम दूसरे भव में चारित्र लेंगे, लेंगे और लेंगे। और दूसरे भव में हम पूर्णता करेंगे। हम पंचम काल के साधु हैं। हम पंचम काल के नहीं, हम तो हमारे आत्मा के हैं। काल-फाल हमको अवरोधक नहीं है। आहाहा!

इस चारित्र की पर्याय में... चारित्र का अधिकार लिया है, वहाँ उसकी पर्याय में अक्षय और अमेय... पर्याय की मर्यादा नहीं, इतनी ताकत पर्याय में है। क्योंकि अनन्त गुण की पर्याय में एक-एक पर्याय इतनी ताकतवाली है कि अनन्त गुण को जाने, अनन्त पर्याय को जाने, तब एक ज्ञान की पर्याय की (इतनी) ताकत। ऐसी ताकत श्रद्धा की, ऐसी ताकत चारित्र की, ऐसी ताकत अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि प्रत्येक पर्याय की इतनी ताकत है। आहाहा! समझ में आया? उस पर्याय से... ऐसा कहते हैं कि हमें तो मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होगा। प्रभु! आप भगवान के पास गये नहीं और आपने इतना सब...! आप तो महाव्रतधारी हो न, महाव्रतधारी हो और आप इतना सब कहते हो। हमारा नाथ ऐसी

पुकार करता है, ऐसा कहते हैं। हमारा प्रभु पुकार करता है। वह प्रभु ऐसा कहता है कि हमें अब कभी मिथ्यात्व नहीं होगा। आहाहा! इस क्रमबद्ध के निर्णय करने में जो दर्शन का निर्णय हुआ तो निर्मल परिणाम अपने हुए, वे निर्मल सम्यक् परिणाम अब नहीं गिरेंगे। समझ में आया? सेठ! इतनी बात इतने वर्ष में कभी सुनी नहीं होगी। पैसा... जाए। दया करो और व्रत करो और मन्दिर बनाओ। इनके गाँव में मन्दिर नहीं है। मन्दिर बनाते हैं न? नया बनाते हैं? मन्दिर। तुमने बताया था, यह नया बनता है। उस मन्दिर के पास। आहाहा! यह तो जिस समय जो पर्याय जड़ की होनेवाली, वह होगी, होगी और होगी ही। दूसरा करे और दूसरा न करे तो न हो, ऐसा नहीं है। यह यहाँ आया।

अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,... आहाहा! पण्डितजी! जीव ही है। विकार के परिणाम दूर रखे। आहाहा! नहीं तो... क्रमबद्ध का जहाँ निर्णय हुआ... आहाहा! गजब बात! अमृतचन्द्राचार्य... गाथा करनेवाले कुन्दकुन्दाचार्य ने तीर्थंकर जैसा काम किया है और अमृतचन्द्राचार्य ने उनके गणधर जैसा काम किया है। आहाहा! अरे! वाणी मिलना मुश्किल, बापू! प्रभु! वह कहीं लौकिक की बात नहीं है। जगत के प्रपंच की बात नहीं है। यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा! **जीव क्रमबद्ध...** आहाहा! इसमें से निकलना सुहाता नहीं। इतना इसमें भरा है। आहाहा! **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** विकार भी है तो सही, परन्तु विकार का ज्ञान है, वह अपने परिणाम है। समझ में आया? क्योंकि अकर्तापने की बात है न? तो अकर्तापने में ज्ञाता-दृष्टा हुआ, तो ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम, वे अपने परिणाम हैं। उसमें राग आता है तो राग को जानना, यह ज्ञाता-दृष्टा का परिणाम अपना है।

क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से... इस परिणाम का क्रमबद्ध। परिणाम में क्रमबद्ध लेना है न, द्रव्य में नहीं। **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से। परिणाम में क्रमबद्ध लेना है न! आहाहा! सूक्ष्म है परन्तु, प्रभु! यह तो अमृत का घड़ा है! आहाहा! ऐसी बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में भी कल्पित बात है। शास्त्र बनाये, वे कल्पित बनाये हैं। यह तो भगवान की त्रिलोक के नाथ की वाणी। सर्वज्ञ के पथानुगामी आढ़तिया होकर बात करते हैं। यह मुनि सर्वज्ञ के आढ़तिया हैं। आढ़तिया समझे? माल... आहाहा! सर्वज्ञ भगवान का यह माल है। प्रत्यक्षरूप से,

प्रत्यक्षरूप से। श्रुतज्ञानी को परोक्ष है। प्रत्यक्षरूप से उनका माल है। उसे यहाँ प्रत्यक्ष बताते हैं। आहाहा!

प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ है न! तेरी जो पर्याय जिस समय में होनेवाली है, वह होगी। उससे दृष्टि हटा ले। आहाहा! इतना... होगा... क्या कहते हैं? जिस समय में पर्याय सत् है... उत्पाद-व्यय सत् है न? उत्पाद-व्यय सत् है। व्यय अभावरूप है परन्तु सत् है। तीनों सत् हैं। उत्पाद सत् है, व्यय सत् है, अभाव सत् है, भाव सत् है, ध्रुव सत् है और तीनों सत् में किसी की किसी को अपेक्षा नहीं है, ऐसा प्रवचनसार की 101वीं गाथा में आया है। उत्पाद की ध्रुव को अपेक्षा नहीं। आहाहा! ध्रुव की अपेक्षा उत्पाद को नहीं। आहाहा!

यहाँ भी जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे जीव ही है। यह निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति क्रमबद्ध में ये परिणाम उत्पन्न हुए। आहाहा! गजब बात है, सेठ! यह दिगम्बर शास्त्र समझे नहीं और पढ़ा करे... और सेठिया जैसे पैसेवाले व्यक्ति बैठे हों तो जय नारायण करे... उसे कुछ खबर नहीं होती। यह दृष्टान्त। सब ऐसे हैं। एक जो सेठ थे न? इन्दौर के सेठ। क्या नाम? हुकमीचन्दजी वे सुनते थे। यहाँ आ गये हैं। उनके हाथ से प्रवचनमण्डप की शुरुआत की थी। उनके हाथ से प्रवचनमण्डप का (उद्घाटन) किया था। उनके पुत्र भी आये थे। वह मकान बनाया न तब (आये थे) तो वे सेठ सुनकर ऐसा कहते थे कि स्वामीजी का पण्डितों को समझना पड़ेगा। नरम व्यक्ति। उनके पुत्र को ऐसा नहीं है। यह सब गड़बड़ है। यहाँ तो सत्य है, वह सत्य है।

वे तो ऐसा कहते थे, पहले साधारण बात करते थे, जब पहले (संवत्) 2005 के वर्ष में आये, 2005 न? 2001 के वर्ष, 2001 के वर्ष। 35 वर्ष हुए। पहले तो जब उपादान की बात सुनी तो (कहे), महाराज तो स्थानकवासी में से आये हैं न, तो यह बात बहुत छंछेड़ना नहीं, बहुत छंछेड़ना नहीं। पहले ऐसा कहा। छंछेड़ना नहीं। क्योंकि... मैंने कहा, सेठ! छंछेड़ो। सबमें बात रखो। पर्याय उपादान स्वयं से होती है, पर से नहीं। ढ़िंढोरा पीटो। यहाँ गुप्त नहीं है। ढूंढ़िया में से आये तो... ऐसे अनुकूल करने के लिये बोलते थे। कितनी बार आये हैं? तीन बार आये। पहले 2001 के वर्ष में आये, दूसरी बार इस उद्घाटन के समय आये। ...पैसा-बैसा का हमारे क्या काम है? दोपहर में (कहा), संस्था को पच्चीस हजार देता हूँ। संस्था को पच्चीस हजार (दिये)। पहले 2001 के वर्ष में, हों! 35 वर्ष हुए।

परन्तु यह मार्ग... अनुकूल बहुत बोलते थे। पण्डितों को भी समझना पड़ेगा। स्वामीजी कहते हैं, वह बराबर है। (स्वयं) समझे नहीं थे परन्तु ऊपर से उन्हें यह बात। आहाहा!

अजीव नहीं... वह परिणाम में अजीव नहीं है। इसका अर्थ राग भी नहीं और अजीव भी नहीं। उस परिणाम में। आहाहा! समझ में आया? मार्ग जरा सूक्ष्म, प्रभु! पकड़ने के लिये बहुत ध्यान रखना चाहिए। बहुत प्रयत्न चाहिए। आहाहा! दुनिया को प्रसन्न रखने के लिये बात करे। रंजन-लोकरंजन। तारणस्वामी कहते हैं न, दुनिया लोकरंजन करती है, जनरंजन (करती है)। यहाँ अष्टपाहुड़ में आया है, जनरंजन। लोगों को ठीक कैसे पड़े। अब ठीक क्या है? है, वह कहे न! जनरंजन। दुनिया प्रसन्न हो ऐसा करो, देश सेवा करो, एक-दूसरे को मदद करो, साधर्मी को मदद करो। परन्तु यहाँ कहते हैं, कोई मदद-फदद कर नहीं सकता। जड़ की पर्याय... आहाहा!

मुनि को भी... सच्चे सन्त हैं, आहार-पानी देते हैं, वह आहार-पानी देने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! परन्तु उस समय जो विकल्प आया, परन्तु उस समय भी ज्ञानी आहार देने में है, तो विकल्प से रहित निर्मल परिणाम का वह स्वामी है। उसे निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं। क्रमबद्ध में निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं। आहाहा! यह राग भी नहीं और मैं मुनि को आहार देता हूँ, उसके भी मालिक-स्वामी नहीं। आहाहा! बहुत कठिन बात।

यह लोग श्वेताम्बर की यात्रा करते हैं न? शत्रुंजय। यात्रा करके नीचे उतरे और साधु को आहार दे तो बहुत लाभ होगा। साधु चाहे जैसे हों उनके। साधु कहाँ थे? श्वेताम्बर गृहीत मिथ्यात्व है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा न! मोक्षमार्गप्रकाशक में पाँचवें अधिकार में (भी) आया न? अन्यमत। अन्यमत में डाला है। श्वेताम्बर, स्थानकवासी, सबको अन्यमत में डाला है। दुःख लगे, परन्तु सत्य तो है, सत्य तो ऐसा है। तेरे लाभ का कारण तो यह है। तुझे अनुकूल-अनुकूल बोले और विपरीत हो जाए (तो) नरक और निगोद मिलेगा, प्रभु! आहाहा! यह रंजन करने जाएगा, (उसमें) नरक-निगोद मिलेगा। आहाहा!

यह बात यहाँ कहते हैं, **जीव ही है, अजीव नहीं;...** यह अनेकान्त। जीव भी परिणाम का कर्ता है और अजीव भी परिणाम का कर्ता है, (यह अनेकान्त नहीं है)।

आहाहा! वास्तव में तो क्रमबद्ध के निर्णय में जब सम्यग्दर्शन हुआ, उस परिणाम के समय राग है, परन्तु उस समय राग सम्बन्धी ज्ञान अपना अपने से होता है। राग है तो ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! उस अपने परिणाम का कर्ता अजीव नहीं है। अर्थात् क्या कहते हैं? कि जो अपने में ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हुआ, उस राग को जाना, यह भी नहीं। उस पर्याय में अपने को जाना है। राग सम्बन्धी का ज्ञान अपना है, उसे जाना है। समझ में आया? राग भी अजीव है। अजीव का ज्ञान यहाँ हुआ है, वह भी व्यवहार कहने में आया है। उस अजीवसम्बन्धी उस समय में अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति से पर का ज्ञान अपने से अपने में हुआ है। पर के कारण से नहीं। राग का ज्ञान राग है तो हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अजीव नहीं;... अजीव परिणाम नहीं। आहाहा! उस परिणाम का कर्ता अजीव नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा... क्रमसर जो होनेवाले, वे होंगे ही होंगे, ऐसा जब अकर्तापना होता है तो ज्ञाता हो जाता है। ज्ञाता होने पर दृष्टि ज्ञान पर हो जाती है। आहाहा! उस परिणाम में जो राग को जानने के परिणाम हुए तो उस राग के कारण से भी जानने का हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? राग का भी ज्ञान हुआ न? भावगुण कहा न? भावगुण के कारण से षट्गुण विकृतरूप से होता है, परन्तु भावगुण के कारण से विकृतरहित उनके परिणाम हैं। वह जो भावगुण है कि होगा जो, वह दूसरा भाव (गुण)। एक भावगुण है, उसमें पर्याय होगी ही, वह दूसरा है। और एक भाव विकृतरहित है, वह भाव (दूसरा है)। सैंतालीस (शक्तियों में) दो भावगुण हैं। समझ में आया?

दूसरा एक भाव ऐसा है कि दृष्टि जब द्रव्य पर गयी और क्रमबद्ध का निर्णय हुआ तो राग है तो राग का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। राग का कर्तृत्व तो आता नहीं परन्तु राग का ज्ञान हुआ, वह भी व्यवहार से है। वह अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। वह राग से और अजीव से नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्री प्रवचनसारजी, गाथा 99
प्रवचन नं. 101
दिनांक 11—06—1979, सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण 1

प्रवचनसार, 99 गाथा! दूसरा पैराग्राफ फिर से लेते हैं। **जैसे वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न...** प्रत्येक पदार्थ (कि) जिसे बहुत प्रदेश हैं - आत्मा में असंख्य, आकाश में अनन्त, धर्मास्तिकाय में असंख्य, अधर्मास्तिकाय में असंख्य, **वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न...** उत्पन्न अर्थात् (वहाँ) लक्ष्य करने पर उस स्व-रूप से है **और पूर्वरूप से विनष्ट...** वे पूर्व से अभावरूप हैं। दूसरे जो प्रदेश हैं, उनसे यह प्रदेश अभावरूप है। थोड़ा सूक्ष्म आयेगा, अभी अधिक सूक्ष्म आयेगा। **तथा सर्वत्र परस्पर अनन्त अनुस्यूति से रचित...** (अर्थात्) है... है... है... है... ऐसे आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, स्वयं की अपेक्षा से उत्पन्न कहा और धारावाही है... है... है... है... (वह) उत्पन्न और विनष्ट भी नहीं (ऐसा) ध्रुव है... है... है... ठीक गाथा आयी है। आहा...हा...!

क्या कहते हैं? यहाँ तो हम आत्मा में लेते हैं। आत्मा असंख्य प्रदेशी है। जिस प्रदेश पर लक्ष्य है, उस प्रदेश को पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं। कारण कि पूर्व प्रदेश इसमें नहीं हैं, दूसरा प्रदेश इसमें नहीं है और अपनी अपेक्षा से इसे उत्पन्न कहते हैं परन्तु धारावाही है... है... है की अपेक्षा है उत्पन्न और विनष्ट नहीं है।

प्रश्न : भाई आये हैं तो पहले से लें तो?

समाधान : यह पहले से ही लिया है न! यहाँ से यह पहले से है। यह कल लिया था, फिर से लेते हैं। आहा...हा...!

जैसे यह असंख्यप्रदेशी प्रभु है, (उसके असंख्य प्रदेश को) सिद्ध करके फिर प्रवाहक्रम सिद्ध करना है। सिद्ध तो प्रवाहक्रम करना है, जिस समय जो पर्याय होती है, उसी समय क्रमबद्ध होती है। क्रमबद्ध का चलता है। (एक भाई) आये थे, वे कहते थे कि वहाँ क्रमबद्ध का चलता है। अजमेर में अभी शिक्षण-शिविर है न! लोगों को कठिन

(पड़ता है) लोगों को जहाँ हो वहाँ करूँ... करूँ... (का अभिमान हो गया है) वह फिर आयेगा, पर्याय की (बात आयेगी) तब कहेंगे।

प्रदेश है, वह अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न, पूर्वरूप से विनष्ट (और) सर्वत्र है... है... (ऐसी) **परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है...** आहा...हा...! पूर्व की अपेक्षा से व्यय, स्वयं की अपेक्षा से उत्पन्न और है... है... अपेक्षा से ध्रुव। प्रत्येक प्रदेश को ऐसे तीन (पहलू) लागू करते हैं। (ऐसा) कहते हैं, आहा...हा...! ऐसी बातें! अभी इससे थोड़ा सूक्ष्म आयेगा। यह तो यहाँ से लिया है।

उसी प्रकार वे परिणाम... इसी प्रकार इस जीव में और जड़ में जिस समय जो परिणाम होता है, 'वे परिणाम' हैं न? बहुवचन है न? **वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न...** उस-उस समय में जड़ और चैतन्य की जो परिणति-पर्याय होनी है, इसलिए उसे उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा...! है? **अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न...** आहा...हा...! (ऐसा मानने के बदले) उसकी जगह यह सब मन्दिर बनाते हैं, आगम मन्दिर बनाते हैं, पुस्तक बनाते हैं (ऐसा मानते है)।

श्रोता : अपने बन गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण से बन गया है। (किसी के दूसरे के) कारण से नहीं बना है। आहा...हा...! इस मकान की (मन्दिर की) जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होने की थी, उसे पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं, उत्पन्न की अपेक्षा से उत्पन्न कहते हैं और धारावाही परिणाम है... है... है... है...है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं)। (इस प्रकार) एक ही परिणाम को उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों लागू पड़ते हैं। आहा...हा...!

प्रश्न : इसमें हमें क्या लाभ है?

समाधान : यह कहना है कि यदि इसका निर्णय करे तो उसकी दृष्टि पर्याय और राग के अकर्तापन पर जाती है और अकर्तापन पर जाये तो ज्ञातादृष्टा होता है तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें! सम्प्रदाय में तो कहीं है ही नहीं। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में है नहीं। कहाँ है? यह सब इसके सेठ रहे, इन्होंने कहाँ कभी सुना था? आहा...हा...! भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है।

किसी को ऐसा लगता है कि स्व अवसर में परिणाम होते हैं, तब होंगे – इसमें हमें क्या ? परन्तु यह अवसर में परिणाम होते हैं, इस परिणाम को तीन बात लागू पड़ती है। पूर्व की अपेक्षा से उसका विनष्टपना–अभाव; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न (और) है... है... है... वह ध्रुव – जिसकी ऐसी दृष्टि होती है, वह आत्मा के प्रति जाता है कि आत्मा ज्ञातादृष्टा है, कर्ता नहीं। यह निर्मलपर्याय होती है, उसका भी कर्ता नहीं है। वहाँ वह (निर्मल पर्याय) होनेवाली है, वह हुई है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। धीमे से (समझना)। अभी अब इससे सूक्ष्म (बात) आयेगी। जो बात चलती है, उससे भी सूक्ष्म अब आयेगी।

प्रत्येक परिणाम अपने अवसर में स्व–रूप से उत्पन्न... परिणाम, हाँ! **पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने के द्वारा...** एक प्रवाह – है... है... है... है... है... आहा...हा... ! अरे... ! लोग पढ़ते नहीं, विचार नहीं करते, बापू! क्या है ? भाई! आहा...हा... ! इसलिए **अनुत्पन्न–अविनष्ट होने से उत्पत्ति–संहार–ध्रौव्यात्मक हैं...** यहाँ तक तो आया था। अब जरा सूक्ष्म है, ध्यान रखो तो पकड़ में आयेगा।

और जैसे वास्तु का छोटे से छोटा अंश... असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से जो एक प्रदेश है, उसे अन्तिम कहते हैं अथवा छोटा कहते हैं, वह **अंश पूर्व प्रदेश के विनाशस्वरूप है...** वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से विनाशस्वरूप है और **वही (अंश) उसके बाद के...** अर्थात् विनाशस्वरूप है उसके बाद का। यहाँ जो असंख्य प्रदेश हैं, उसमें जिस प्रदेश पर लक्ष्य करें, तो वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट है और वह प्रदेश बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। बाद की (अपेक्षा से) अर्थात् वह पूर्व का (प्रदेश) जिसकी अपेक्षा से विनष्ट कहा है, उसकी अपेक्षा से नहीं (परन्तु) बाद का (जो प्रदेश है) उसे उत्पन्न कहा है। आहा...हा... ! भाई! यह सूक्ष्म है!

देखो! यह लकड़ी है, यह अनन्त परमाणु हैं, यह कोई एक नहीं है – ऐसा यहाँ अपने को आत्मा में लेना है। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, अब उसमें जिस प्रदेश का लक्ष्य होता है, वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से – दूसरे प्रदेश की अपेक्षा से अभाव–विनष्ट–व्ययस्वरूप है; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न स्वरूप है और वह है... है... है... अपेक्षा से ध्रुवस्वरूप है। (यह तो पहले आ गया है) परन्तु अब यहाँ तो क्या अपेक्षा ली है ? कि जो

पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट है, वह उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। 'उसके बाद की' अर्थात् वह जो पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, उसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है। कुछ समझ में आया?

श्रोता : कुछ समझ में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से लेते हैं, लो! भाई आये हैं न! ऐसी सूक्ष्म बात सुनने आते हैं। आहा...हा...!

क्या कहते हैं? प्रभु! यह तेरे घर की बात है। वास्तु अर्थात् इसका घर। विस्तारक्रम अर्थात् इसका घर। आहा...हा...! कितना चौड़ा? यह इसका घर! अब, इस चौड़ाई के जो असंख्य प्रदेश हैं, उसमें जो कोई भी एक प्रदेश पर लक्ष्य जाये अथवा लक्ष्य में लो, वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से तो अभावस्वरूप है – विनष्ट स्वरूप है; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न है और है... है... है... अपेक्षा से ध्रुव है। परन्तु अब फिर यहाँ ऐसा कहते हैं कि **वास्तु का जो छोटे से छोटा अंश पूर्व प्रदेश के विनाशस्वरूप है, वही अंश उसके बाद के प्रदेश का...** उसके बाद का अर्थात् जो विनष्टस्वरूप कहा था, वर्तमान प्रदेश की अपेक्षा से पूर्व को विनष्टस्वरूप (कहा था) स्वयं को विनष्टस्वरूप कहा था परन्तु वह (प्रदेश) तो है, उसके बाद का जो उत्पन्न (प्रदेश है), जिसकी अपेक्षा से उस प्रदेश को विनष्ट कहा था, उस विनष्ट की अपेक्षा से बाद का (प्रदेश) वह उत्पन्न (प्रदेश) है। वह बाद का प्रदेश है, उसे उत्पन्न कहते हैं। पहले की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं, उसके बाद अर्थात् जो यह (लक्ष्य में लिया हुआ) प्रदेश है (उसे) पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, उसकी बाद का अर्थात् यही उत्पन्न (कहा) इसकी अपेक्षा से उत्पन्न कहा। समझ में आया कुछ? उसके बाद का अर्थात् कि जो उत्पन्न है, उसके बाद का – ऐसा नहीं / सूक्ष्म है। आहा...हा...!

(दृष्टान्तरूप से) माला लो न माला! (इसमें) एक सौ आठ (मोती) हैं। इसी प्रकार आत्मा असंख्यप्रदेशी है। वे एक सौ आठ हैं। अब यह जो प्रदेश है – यह पहला (मोती) जो है, वह बाद की अपेक्षा से विनष्ट है अर्थात् अभावस्वरूप है और वह विनष्ट है, उसके बाद का है, इस अपेक्षा से उत्पन्न है। दूसरे की अपेक्षा से यह प्रदेश विनष्ट था, वही प्रदेश बाद के प्रदेश की अपेक्षा से उत्पन्न है। जिससे अभावस्वरूप कहा था, उससे

यह दूसरा अलग अर्थात् यही स्वयं उत्पन्न अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

एक-एक प्रदेश जो हैं, उनमें से कोई भी एक लो, यह है, देखो ! यह प्रदेश यहाँ है इसकी अपेक्षा से विनष्ट है, इसकी अपेक्षा से भावरूप नहीं हुआ और इसके बाद अर्थात् इसके बाद यह, इसके यह, इसके बाद अर्थात् उत्पन्न होनेवाला है, उसके बाद ऐसा नहीं; जिसकी अपेक्षा से विनष्ट कहा था, उसी विनष्ट की अपेक्षा से-पर की अपेक्षा से उत्पन्न है। भाई ! समझ में आता है ?

यह चार अंगुली हैं, देखो ! यह (लम्बी) अंगुली इसकी (पहली अंगुली की) अपेक्षा से विनष्ट है और इसके बाद की (लम्बी अंगुली के बाद की अंगुली की) अपेक्षा से वह उत्पन्न है। इसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है। समझ में आता है ? अब अंगुली पर तो लिया। इसकी (-पहली अंगुली की) अपेक्षा से वह विनष्ट है और इसके बाद की लम्बी अंगुली के बाद की (अंगुली की) अपेक्षा से वह उत्पन्न है। कुछ समझ में आता है ?

प्रश्न : एक की एक उत्पन्न और एक की एक विनष्ट ?

समाधान : एक-एक को तीन — उत्पाद-व्यय-ध्रुव। एक को तीन लागू करना है। आहा...हा... !

फिर से—जैसे यह पाँच अंगुलियाँ हैं, उसी प्रकार इस (आत्मा में) असंख्य प्रदेश हैं। आकाश में अनन्त हैं। जैसे यह पाँच अंगुलियाँ हैं, उनमें इसे (लम्बी अंगुली को) जब लेते हैं, तब इसकी (पहली अंगुली की) अपेक्षा से वह विनष्टस्वरूप है और उसके बाद की अर्थात् इस (लम्बी अंगुली) के बाद की इस (अंगुली की अपेक्षा से) उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा... ! कुछ समझ में आता है ? इसी प्रकार प्रत्येक प्रदेश को पूर्व की अपेक्षा से व्यय, इसकी बाद की अपेक्षा से उत्पन्न और है... है... है... है... अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं। आहा...हा... ! क्या शास्त्र की शैली है !

रात्रि में जरा कहा था न ? प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य समयसार में आता है - प्राप्य, विकार्य और निर्वृर्त्य। प्रत्येक पदार्थ को उस समय जो पर्याय होनी है... हमने यह

प्रदेश कहे, अब हमने परिणाम में लें, उसके बाद का अर्थात् पहले प्रदेश के बाद का अर्थात् जिसका यहाँ लक्ष्य किया वह; **उसके बाद के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से...** (अर्थात्) किसी की अपेक्षा नहीं (मात्र) है... है... है... है... है... है... है... है... इससे। **एक वास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक भी स्वरूप नहीं है।)...** यह प्रदेश का दृष्टान्त कहा। अब परिणाम की बात करते हैं।

उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश... अर्थात् कि जिस समय में पर्याय होती है—जिस समय जो परिणाम होता है, उस हुए परिणाम को अंश कहते हैं। उसे पूर्व परिणाम की अपेक्षा से उस अंश को विनष्ट कहते हैं और उस (उसके बाद के अंश की) अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं और उसे ही यह है... यह है... यह है... यह है... उसे ध्रुव भी कहते हैं।

प्रश्न : एक के तीन नाम ?

समाधान : एक के तीन! (समयससार की गाथा) 76 में भी एक के तीन नाम आये हैं न ? प्राप्त, विकार्य और निर्वृत्य। 76 गाथा में, भाई! जो पर्याय प्रगट हुई, वह ध्रुव है... ध्रुव है...। ध्रुव अर्थात् होनी है, वह हुई है, वह काल उसका ध्रुव है, इस अपेक्षा से वहाँ प्राप्य कहा।

कहाँ गये थे ? आज तो खरेखर (वास्तव में) गया, खरा था और गया। आहा...हा...! अत्यन्त नया है। समझ में आया कुछ ? प्रदेश का तो गया। अब परिणाम पर लेते हैं। जीव के परिणाम जो हैं, जिस समय जो होनेवाले हैं, वह परिणाम पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से विनष्ट है और उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है 'उसके बाद की' अर्थात् पूर्व की अपेक्षा से जिसे विनष्ट कहा था, उस पूर्व की अपेक्षा से बाद का वह उत्पन्न। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म है। धीमे... धीमे... (कहा जाता है) बापा! यह तो वीतराग मार्ग है। आहा...हा...!

जैसे यह असंख्य प्रदेश हैं, इनका अन्तिम एक अंश तो छोटे से छोटा है, वह प्रदेश पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से तो अभावस्वरूप-विनष्टस्वरूप है परन्तु उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। उसके बाद की अर्थात् ? पूर्व का जो (विनष्ट कहा) था, उसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है और है... है... है... है... है... है... इस अपेक्षा से ध्रुव है।

जैसे (समयसार की) 76 गाथा में प्राप्य, विकार्य, निर्वृत्य कहा है। आहा...हा...! 76 गाथा में क्या कहा? कि जिस समय जो पर्याय होनी है, द्रव्य की – आत्मा की अथवा जड़ की; वह पर्याय ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् 'है' उसे कोई अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! 'है' अब उसी पर्याय को पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से विकार्य कहा। पूर्व (पर्याय का) अभाव है, इस अपेक्षा से उसी पर्याय को विकार्य कहा। पहले प्राप्य कहा था। उसी परिणाम को पूर्व की अपेक्षा से विकार्य अर्थात् बदलकर हुआ – ऐसा कहा और उसी की उसी पर्याय को उत्पन्न हुआ है, इस अपेक्षा से उसे निर्वृत्य कहते हैं। इस प्रकार प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य है। अब ऐसी बातें हैं। 76, 77, 78, 79 चार गाथाओं में आती है। आहा...हा...!

प्रत्येक द्रव्य को उस समय का परिणाम ध्रुव अर्थात् उस समय ही होना था, वह हुआ है, इसलिए (उसे प्राप्य कहा)। ध्रुव अर्थात् त्रिकाली ध्रुव नहीं, यह तो वहाँ निश्चय 'है'। आहा...हा...! वह परिणाम उस समय वहाँ 'है', उसकी अपेक्षा से प्राप्य-ध्रुव कहते हैं और पूर्व की अपेक्षा से बदलकर हुआ इसलिए विकार्य कहते हैं। उत्पन्न हुआ है, इस अपेक्षा से पर की अपेक्षा जहाँ नहीं आयी, उत्पन्न हुआ है इस अपेक्षा से निर्वृत्य कहते हैं। आहा...हा...! वहाँ मुम्बई में कुछ नहीं मिलता व्यर्थ है। आहा...हा...!

इसी प्रकार जिस समय आत्मा के जो परिणाम होनेवाले हैं, वे होते हैं, वह उनका अवसर ही है। आगे-पीछे नहीं, परन्तु उस परिणाम की तीन अपेक्षा है – पूर्व परिणाम की अपेक्षा से व्यय कहते हैं-विनष्ट कहते हैं; उसे ही पूर्व की अपेक्षा से उसके बाद का कहकर उत्पन्न कहते हैं—उसके बाद का कहकर उत्पन्न कहते हैं! और उसे ही पूर्व की अपेक्षा से और उसके बाद की (ऐसी) दो अपेक्षा छोड़कर (मात्र) 'है' (इस अपेक्षा से) उसे ध्रुव कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

प्रश्न : एक के तीन?

समाधान : एक के तीन! इसमें समझ में आता है। है न, है न? त्रिकाली ध्रुव है, उसे एक ओर रखो। यहाँ तो वर्तमान परिणाम उत्पन्न होता है, वह तो उसी समय होता है, आगे-पीछे नहीं। क्रमबद्ध! यदि इस एक क्रमबद्ध को समझे तो सब फैसला (हो

जाता है)। यह हम गजरथ चलाते हैं और यह इन्द्र हुए और यह हम दो हाथी में बैठे और पाँच लाख दिये... कौन दे-कौन ले? सुन! आहा...हा...! अपने आप हह पर्याय हुई है, किसी ने पैसा दिया है, इसलिए हुई है - ऐसा नहीं है, बापू! आहा...हा...! समझ में आया कुछ?

जड़ के परिणाम लो... आहा...हा...! यह पर्याय उत्पन्न हुई, इससे पूर्व की अपेक्षा से इसे विनष्ट कहते हैं और इस विनष्ट की अपेक्षा से इसके बाद की यह स्वयं उसे उत्पन्न कहते हैं, तत्पश्चात् अर्थात् पूर्व की अपेक्षा से बाद की, वह तत्पश्चात् और उस काल में है; पर के कारण अभाव और अपने के कारण उत्पन्न ऐसी कोई अपेक्षा नहीं 'है' (उसे) ध्रुव कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा क्रमबद्ध है। आहा...हा...!

परमाणु में भी जो पर्याय जिस समय (होनी है, वह होगी।) भगवान की प्रतिमा भी जिस समय जिस प्रतिष्ठा की पर्याय होनी है, उस समय वह पर्याय हुई, उसके पूर्व में नहीं थी इस अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं और विनष्ट की अपेक्षा से बाद की अर्थात् वही पर्याय-हुई वह, उसके उत्पन्न कहते हैं और उसे पूर्व की और उत्पन्न - ऐसी अपेक्षा न लो तो 'है' वह ध्रुव है। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है? भाई! ऐसा सब कलकत्ता में भी नहीं है और कहीं नहीं है (सर्वत्र थोथा-थोथा है।) पैसा मिले ऐसा देखे; पैसा (इसे) मिलता है, इससे यहाँ इनकार करते हैं। वह पैसे की पर्याय जिस समय यहाँ आनी है, उस समय उसका अवसर है। पूर्व की अपेक्षा से उस पर्याय को विनष्ट-व्यय कहते हैं और उसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं, और उसकी पर्याय है... है... है... है... है... इस अपेक्षा से उसे ध्रुव कहते हैं। ऐसा है, प्रभु! क्या हो? यह कोई भगवान ने किया हुआ नहीं है।

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि की जो भाषा की पर्याय हुई, उस समय उस पर्याय का अवसर था वह हुई; आत्मा ने नहीं की। उस पर्याय को पूर्व की अपेक्षा से (अर्थात्) भाषा (वर्गणा) की अपेक्षा लें, अभी भाषा नहीं थी - ऐसी वर्गणा की अपेक्षा लें तो विनष्ट है और वर्गणा की बाद की यह (पर्याय) कहलाती है, इसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं और वह भाषावर्गणा की पर्याय है... है... है... है... है... उसे

ध्रुव कहते हैं। आहा...हा... ! धीमे-धीमे तो कहा जाता है, बापू! ऐसा है। अरे... रे... ! आहा...हा... !

जैसे ध्रुव को – इस त्रिकाली ध्रुव को किसी की अपेक्षा नहीं है; इसी प्रकार एक समय की पर्याय जो जड़ में अथवा चैतन्य में होती है... आहा...हा... ! उस अवसर में-उस समय की जो पर्याय होती है, उसे पूर्व की अपेक्षा से भले ही व्यय कहो और उसके बाद की अपेक्षा से उत्पाद कहो परन्तु 'है' की अपेक्षा से उसे ध्रुव कहते हैं। आहा...हा... ! उस काल की वह पर्याय 'है' आहा...हा... ! (समयसार की) 76, 77, 78 (गाथा में) यही कहा है। ऐसी बात... आहा...हा... ! दिगम्बर सन्त बहुत सादी भाषा में रखते हैं परन्तु समझना पड़ेगा न ? बापू ! यह तुमने कहा और यह पढ़ना बाकी है, यह आया। यह समझ में आता है कुछ ? आहा...हा... !

यदि यह समझे तो इसकी पर के कर्तापन की बुद्धि तो उड़ जाये परन्तु अपनी होनेवाली पर्याय 'कर्ता हूँ' यह बुद्धि भी उड़ जाये। आहा...हा... ! गजब बात है, भाई ! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि ! इस दिव्यध्वनि की पर्याय भी, कहते हैं कि उस समय उत्पन्न होनेवाली, परन्तु पहले नहीं थी इस अपेक्षा से व्यय कहते हैं और उसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पाद कहते हैं परन्तु भाषा है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं।) इस पुद्गल में किसी समय पर्याय न हो – ऐसा तो नहीं है। ऐसे प्रत्येक में है... है... है... है... है... है... इससे एक-एक पर्याय में तीनपना लागू पड़ता है। आहा...हा... ! समझ में आता है ? सारा उत्पाद-व्यय-ध्रुव (स्वरूप है)। त्रिकाली पर दृष्टि जाये तब यह उत्पाद, उत्पाद के स्थान में उत्पाद पर की अपेक्षा से बाद का कहा है और है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव है।) इसका निर्णय (यथार्थ होता है) आहा...हा... ! इसका अकर्तापने का निर्णय तब होता है। 'है' उसे करूँ क्या ? ध्रुव है-प्राप्य है, उसे करूँ क्या ? आहा...हा... ! अपनी (पर्याय), हाँ ! पर की तो बात भी क्या करना ? आहा...हा... ! पर की दया पालना और पैसा देना और पैसा लेना... आहा...हा... ! वह पर्याय तो तेरे कर्तापने की नहीं, उसमें तेरा कोई अधिकार नहीं। आहा...हा... !

मुनिराज सच्चे सन्त हों, उन्हें आहार देते समय कहते हैं वह आहार की पर्याय वहाँ

उस प्रकार की उत्पन्न होने की थी, वह हुई। पूर्व की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं, उसके बाद होने की अपेक्षा से उसे उत्पाद कहते हैं; है... है... उसे ध्रुव (कहते हैं) देनेवाला कहता है कि मैंने आहार-पानी दिया—यह बात उसमें नहीं रहती। आहा...हा... !

प्रश्न : सबको पंगु बना दिया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको पुरुषार्थवाला बना दिया, आहा...हा... ! वीर्यवाला बनाया ! (मैं) मेरी पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसा मेरा वीर्य है। आहा...हा... ! कुछ समझ में आता है ? मैं ज्ञाता हूँ – यह महावीर्य है – महापुरुषार्थ है। आहा...हा... ! कुछ समझ में आता है ? ऐसी बातें ! इसमें वाद-विवाद करने से कहाँ पार पड़े ऐसा है, बापू ! आहा...हा... ! वस्तुस्थिति... ! आहा...हा... !

सब ऐसा कहते हैं कि कानजीस्वामी यहाँ आये तब यह सब हुआ... यह बात झूठ है। कहते हैं यहाँ भैंसे बैठती थी, उसमें करोड़ों रुपये लग गये, महाराज आये इसलिए यह सब हुआ। नहीं... नहीं... भाई ! ऐसा नहीं है बापू ! इन परमाणुओं की क्रमशः स्व-अवसर में होने की पर्याय यहाँ हुई है। आहा...हा... ! उस पर्याय को तीनपना लागू पड़ता है। उसे पूर्व की अपेक्षा से व्यय लागू पड़ता है, व्यय की बाद की अपेक्षा से उसे उत्पाद लागू पड़ता है और व्यय उत्पन्न दोनों की अपेक्षा जहाँ है ही नहीं; है... है... है... उस काल में वह पर्याय... उस काल में वह पर्याय... उस काल में वह पर्याय... है। आहा...हा... ! 'है' की अपेक्षा से एक-एक पर्याय में तीनपना लागू पड़ता है, बापू ! आहा...हा... !

यह तो (समयसार की गाथा) 320 में आया न ? भाई ! सर्वविशुद्ध अधिकार ! क्रमनियमित सिद्ध करने पर वहाँ तो मोक्ष की पर्याय और निर्जरा की पर्याय को भी जानता है – ऐसा कहा है। भले ही जानता है, वह पर्याय ही उस काल में होनी थी। आहा...हा... ! दूसरी बात है। जानता है, वह पर्याय भी उस काल में होनी थी और उस काल में होनी थी, वह उत्पाद है, पहले की अपेक्षा से व्यय है और है... है... है... इस अपेक्षा से ध्रुव है परन्तु उस ज्ञान में जानने का रखा। वह ज्ञान की पर्याय करूँ – ऐसा भी नहीं। आहा...हा... ! ज्ञातापना और दृष्टापना सहज हो जाता है। कुछ समझ में आया ? ऐसी वस्तु की स्थिति है। आहा...हा... ! भगवान तीन लोक के नाथ ने दिव्यध्वनि द्वारा यह कहा, वह सन्तों ने

यह शास्त्र रचकर समझाया। आहा...हा... ! ऐसा है ! (इस भाई ने) दो लाख दिये हैं इसलिए वहाँ मकान होगा – ऐसा नहीं है। (यहाँ पर) इनकार करते हैं। आहा...हा... ! अद्‌भुत बात !

(यहाँ पर कहते हैं कि) **इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश...** अब पर्याय पर लिया है न ? प्रवाह अर्थात् एक के बाद एक। प्रत्येक द्रव्य में जो पर्याय होती है, वह एक के बाद एक (होती है) अर्थात् जो होनी है, वह एक के बाद एक (होनी है ऐसा कहना है) ऐसा नहीं है कि एक के बाद एक अर्थात् पहली कुछ और दूसरी कुछ भी हो जाये – ऐसा नहीं है। दिगम्बर के अग्रेसर (प्रमुख) के साथ इस बात में विवाद था न ? अब मेल किसके साथ करना ? यह कहते हैं क्रमबद्ध है ऐसा नहीं है। एक के बाद एक अवश्य होती है परन्तु इसके बाद यही होगी (–ऐसा नहीं है)। यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व की जो अवस्था हुई, उसके बाद की जो होनेवाली है, वही होती है। आहा...हा... ! थोड़े भी सत्य को बराबर समझना चाहिए। आहा...हा... !

इसी प्रकार... (अर्थात् जैसे) प्रदेश का कहा था, **इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश...** द्रव्य में जो पर्याय आयत (अर्थात्) ऐसी लम्बी होती है – एक के बाद एक, एक के बाद एक... उसका वर्तमान छोटे से छोटा अंश वह **पूर्व परिणाम के विनाशस्वरूप है...** (अर्थात्) पूर्व परिणामस्वरूप से नहीं है, उस रूप से उसे व्यय कहते हैं। **वही उसके बाद के...** उसके बाद के अर्थात् जो विनाशस्वरूप है – इससे पहले जो था, उसकी अपेक्षा से इसे विनाशस्वरूप कहते हैं और जो विनाशस्वरूप कहा, उसके बाद की अवस्था को उत्पन्न कहते हैं। जिसे पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा था, उसे ही बाद की अपेक्षा से उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा... ! कुछ समझ में आता है ? नहीं समझ में आवे तो रात्रि में प्रश्न करना। यह तो सूक्ष्म है, बापू ! आहा...हा... ! बाप–दादाओं ने कहीं नहीं सुना था। आहा...हा... !

जिस द्रव्य की जिस समय में पर्याय होती है, वह होनी है, वह होती ही है; वही होती है, दूसरी नहीं। बाद की पर्याय भी वही होती है, दूसरी नहीं। उसके पहले भी जो पर्याय थी, वही थी और वही होती है, दूसरी नहीं। परन्तु पूर्व की अपेक्षा से वर्तमान परिणाम को

व्यय कहते हैं और उसके बाद की स्वयं है, इसलिए उसे उत्पन्न कहते हैं और बाद का और पहले का छोड़ दो तो उसे ध्रुव – अनुभय कहा; उत्पाद–व्यय नहीं, 'है'। आहा...हा...! इसमें बड़ा विसंवाद–विवाद! सभी (पत्रिकाओं में) लिखते हैं, सोनगढ़ का साहित्य संसार में डुबो देगा। भगवान! बापू! इस बात को... भाई!

श्रोता : अज्ञान को डुबो देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : डुबो देगा, मैं ऐसा ही कहनेवाला था। अज्ञान को नाश कर देगा, यह ऐसी बात है! आहा...हा...! अज्ञान नहीं टिकेगा! आहा...हा...! मिथ्यात्व का अंश नहीं टिकेगा, आहा...हा...! पर की पर्याय करना माने, (वह भी) मिथ्यात्वभाव है और अपनी भी राग की क्रिया (करना माने) तो मिथ्यात्वभाव होता है। अरे...! निर्मल पर्याय भी करूँ; होनेवाली है उसे मैं करूँ (यह भी मिथ्यात्वभाव है)। जिस समय होनेवाली है उसी समय होनेवाली है, उसके बदले मैं करूँ यह वहाँ कहाँ रहा? आहा...हा...! कहो, समझ में आता है? ऐसी सूक्ष्म बात है, ऐसा है, क्या हो? आहा...हा...!

सत् यही है, भाई! भगवान का कहा हुआ और वस्तु का स्वरूप–सत् ऐसा ही है। इसमें कहीं सन्देह को स्थान नहीं है। पर्याय आगे–पीछे नहीं होती (इस बात में) भी सन्देह को स्थान नहीं है। आगे–पीछे की व्याख्या क्या? प्रभु! इस जगह यह पर्याय होनी थी, वह नहीं हुई, अर्थात् क्या? यह पर्याय पच्चीसवें समय हुई अर्थात् क्या? पच्चीसवें समय होनेवाली थी, वह नहीं हुई, यह हुई अर्थात् क्या? कहीं भी मेल कहाँ है? आहा...हा...! इन युवाओं को थोड़ा कठिन पड़े ऐसा है। आहा...हा...!

इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश... अर्थात् एक वर्तमान अंश। (वह) पूर्व परिणाम की अपेक्षा से विनाशस्वरूप है। आहा...हा...! **वही उसके बाद के...** अर्थात्? पूर्व का परिणाम है, उसकी अपेक्षा से उसके बाद का हुआ। **उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है...** आहा...हा...! **तथा वही...** (अर्थात्) वही पर्याय–उसी प्रवाहक्रम में आयी हुई पर्याय **परस्पर अनुस्यूति से रचित...** अर्थात् जो स्वयं धारावाही है... है... है... है... है... है... है... जैसे मोती की माला में धागा धारावाही है। है... है... है... मोती... मोती... मोती... वह प्रत्येक को है... है... है... लागू करता है। आहा...हा...!

वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा... एक प्रवाह है। आहा...हा... ! चैतन्य में और परमाणु में एक प्रवाहरूप से क्रमसर... क्रमसर... क्रमसर... एक प्रवाह क्रम... क्रम से हुआ ही करता है। इस अपेक्षा से लें तो कहते हैं कि उत्पाद और व्यय नहीं कहलाते, उसे ध्रुव कहा जाता है। 'है' ऐसा कहा जाता है। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म कहा होगा!? कुन्दकुन्दाचार्य लेकर के आये और अमृतचन्द्राचार्य ने उसकी टीका की। आहा...हा... ! ऐसा बहुत सूक्ष्म है, इसलिए (नहीं समझ में आ सकता – ऐसा नहीं है) सूक्ष्म नहीं है, भाई! इसे अभ्यास नहीं है और जहाँ–तहाँ मैं करूँ... यह शरीर चलता है तो मैं चलाता हूँ, बोलता है तो मैं स्वाहा – भगवान की पूजा में स्वाहा बोली जाती है तो स्वाहा की भाषा भी मेरी और यह अँगुलियाँ हिलती हैं वह भी मुझसे; जहाँ–तहाँ ऐसी बुद्धि पड़ी है। आहा...हा... !

प्रश्न : अँगुलियाँ किसकी है ?

समाधान : अँगुलियाँ जड़ की और जड़ की अवस्था होती है वह जड़ के कारण होती है और वह अवस्था उस समय वही होनी थी। आहा...हा... !

सूक्ष्म है, सूक्ष्म! आहा...हा... ! यह तो मूल मक्खन है बापू! परमात्मा के द्वारा कहा गया सत् (यह है)। उत्पाद उस समय का वही, उसी समय का (उत्पाद) आहा...हा... ! इसके बदले (ऐसा मानना कि) मकान बनाता हूँ... आहा...हा... ! इसमें हम रहेंगे, स्त्री–पुत्रादिक को भी वहाँ ठीक रहेगा। अरे...रे... ! आहा...हा... ! भ्रम... भ्रम... भ्रम... !

प्रश्न : सभी साधु हो जायेंगे तो त्यागियों को खाने के लिए कौन देगा ?

समाधान : उस समय भी खाने की पर्याय (जो आनी है, वह आयेगी) यह प्रश्न (संवत्) 1978 (के साल में) हुआ था। 'चूड़ा' में... चूड़ा में! 78 की साल! वहाँ भी (व्याख्यान में) बहुत लोग थे। बाहर एक पुलिसवाला बैठा था (व्याख्यान) पूरा होने के बाद कहने लगा – महाराज! आप त्याग की ऐसी बहुत बात करते हो, तो सब त्यागी हो जायेंगे तो उन्हें आहार कौन देगा ? पुलिसवाले ने ऐसा प्रश्न किया था। संवत् 78 के साल की बात है। कितने वर्ष हुए ? 57 ! बापू! कौन देगा यह प्रश्न अभी है ही नहीं। उस काल में होनेवाली पर्याय होती है, वह देगा, अर्थात् होगी। मैंने तो दूसरा जबाव दिया था कि एक

व्यक्ति लखपति है और पच्चीस लाख (इकट्ठा करना) चाहता है। इसीलिए वह यह विचार करता है मैं पच्चीस लाख इकट्ठे करूँगा तो फिर बर्तन माँजनेवाला कौन रहेगा? मेरा पकानेवाला कौन रहेगा? यह लकड़ियाँ लानेवाला कौन रहेगा?—ऐसा विचार करता है? उस समय यह तो 78 की बात है! चूड़ा में! आहा...हा...!

ओ...हो...! लोग साधारणरूप से पढ़ जाते हैं, उन्हें ऐसा हो जाता है कि अपने को सच्चा ज्ञान हुआ। बहुत कठिन बात है, भाई! ज्ञान आत्मा का होना चाहिए। आत्मा का ज्ञान कब होता है? कि उसकी जो पर्याय जिस समय होनी है, उस पर्याय में तीन बात लागू पड़ती है, पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट, उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है... है... है..., अपेक्षा से ध्रुव! ऐसी पर्याय का जहाँ निर्णय करता है, वहाँ वह ज्ञाता-दृष्टा होता है। तब वह वर्तमान होनेवाली पर्याय का भी कर्ता नहीं होता, कारण कि उसमें एक भाव नाम का गुण है, अनन्त गुणों में भाव (गुण का) रूप है, इसीलिए उस समय में वह पर्याय होनी हो, वह होती ही है। यह करू तो होती है, वरना नहीं होती - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा फिर बारम्बार नहीं आता। यह तो सामने पुस्तक में आया हो उसका अर्थ होता है न? आहा...हा...! इन्दौर में यहाँ का विरोध (करने के लिए) पचास पण्डित इकट्ठे हुए थे। (उसमें ऐसा कहा कि) पर का नहीं करे वह दिगम्बर नहीं है। अर...र...र...! अरे! प्रभु... प्रभु... प्रभु...!

यहाँ तो (कहते हैं कि) पर का तो नहीं करता परन्तु अपनी पर्याय को भी नहीं करता। होती है, उसे करे यह बात कहाँ है? समझ में आया? आहा...हा...! परन्तु यह था नहीं, हाँ! था नहीं इसलिए फिर क्या करे? स्थानकवासी, श्वेताम्बर में तो यह बात ही नहीं है, उनमें तो सब जैनपने से विरुद्ध बातें हैं। आहा...हा...! यह तो दिगम्बरों में भी गड़बड़ खड़ी हुई है! ऐसा सत्य! पुकार करके कथन किया है, ऐसा प्रसिद्ध किया है, उसे यह कहना कि नहीं, हम करें तो होता है और नहीं करें तो नहीं होता है; पर का भी हमें करें तो होता है, वरना नहीं होता। अरे! आत्मा में भी पर्याय करूँ तो होती है और वरना नहीं होती - ऐसा नहीं है। सुन भाई! प्रभु तू तो ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञान की पर्याय भी होनेवाली हो, उस काल में होती ही है परन्तु उसकी प्रधानता लेकर दूसरी पर्याय को करूँ - ऐसा नहीं है। दूसरी होती है, उसे जाननेवाला वहाँ इसे खड़ा रखते हैं। आहा...हा...!

उसके बाद के परिणाम के उत्पाद... यह परिणाम की-पर्याय की बात है। (वह) **उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित...** धारावाही... धारावाही... है... है... है... इससे एक प्रवाहपना है। है... है... का एक प्रवाहपना है। उसके **द्वारा अनुभय स्वरूप है।...** (अर्थात्) उस व्यय और उत्पादस्वरूप नहीं है, इसलिए ध्रुवस्वरूप है। आहा...हा...! इन तीन-चार पंक्तियों में तो इतना अधिक भरा है लो! आहा...हा...!

वस्तु है या नहीं? है तो उसके तीन अंश पड़ते हैं या नहीं? तीन अंश पड़ते हैं, वे तीन अंश अपने-अपने समय में अपने-अपने से हैं या नहीं? अर्थात् 'है' वह ध्रुव है। पूर्व की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं और पूर्व की अपेक्षा से जो विनष्ट कहा था, उस पूर्व के बाद की यह पर्याय स्वयं है। उसके बाद की यह पर्याय है, उसे उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा...!

'क्रमबद्ध में एकान्त हो जाता है' इस प्रकार लोग चिल्लाते हैं। अब यहाँ तो पर का तो करे नहीं परन्तु बापू! भाई! क्या करें? आहा...हा...! तेरी पर्याय भी उस काल में होनी है, उस अवसर में वह होती ही है। आहा...हा...! उसे भी तीन अपेक्षा लागू करके और उसे प्राप्य कहकर ध्रुव कहा, आहा...हा...! इस प्रवचनसार में ऐसा कहा। समयसार में प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य कहा। आहा...हा...! एक ही पर्याय में तीन (बातें लागू पड़ती हैं)। अर्थ किया था कि प्राप्य अर्थात् ध्रुव अर्थात् उस समय वह है। आहा...हा...! इस प्रकार प्रत्येक में है... है... है... है... है... है... है... है... एक प्रवाहरूप है... है... है... आहा...हा...! ऐसा निर्णय करने जाये, उसे पर का कर्तापना तो उड़ जाये परन्तु राग का और पर का कर्तापना भी उड़ जाता है। आहा...हा...! ज्ञातापना हो, वह जाननेवाला हो जाता है। जाननेवाला हुआ वह उस काल में केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। आहा...हा...! उसके क्रमबद्ध में अल्प काल में केवलज्ञान होना है, आहा...हा...! ऐसी बात है।

इस प्रकार स्वभाव से ही... देखा!? **स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में...** देखो! है? **त्रिलक्षण परिणामपद्धति...** एक परिणाम में तीन प्रकार का लक्षण है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव। आहा...हा...! यह कोई कहानी नहीं है, प्रभु! आहा...हा...! यह तो वस्तु की स्थिति परमात्मा, अनन्त तीर्थङ्कर, अनन्त केवली, अनन्त सन्त, अनन्त मुनियों ने इस

प्रकार जानकर अनुभव किया है। आहा...हा... ! उनके संसार का अन्त आ गया। वह अन्त का समय था परन्तु जब (आत्मा का) ज्ञान और आनन्द प्रगट हुआ, उसे अल्प समय में संसार का अन्त आ जाता है, उसे भव का अन्त आ जाता है।

इस प्रकार स्वभाव से ही... स्वभाव से ही (कहा है)। (अर्थात्) एक परिणाम में तीन लक्षणपना हैं, वह स्वभाव से ही है। आहा...हा... ! **त्रिलक्षण परिणाम...** त्रिलक्षण परिणाम कहा न ? त्रिलक्षणवाली परिणामपद्धति। (परिणामों की परम्परा) पद्धति अर्थात् परिणामों की परम्परा। आहा...हा... ! अरे ! एक बार मध्यस्थ होकर सुने तो सही ! बापू ! किसका विरोध करता है ? भाई !

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में (परिणामों की परम्परा में) प्रवर्तमान द्रव्य... है ? अब तीन में वर्तता द्रव्य, **स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता...** ऐसा जो त्रिलक्षण परिणामपद्धति में प्रवर्तमान द्रव्य, स्वभाव को नहीं छोड़ता हुआ, आहा...हा... ! उस स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता। समझ में आया ?

सत्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए... सत्व अर्थात् यहाँ द्रव्य लेना। सत्व अर्थात् सत्पना अर्थात् द्रव्य। पहले परिणामों का त्रिपना था, अब यहाँ कहते हैं कि द्रव्य को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** यहाँ अब द्रव्य लिया। आहा...हा... ! इसलिए द्रव्य को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** आहा...हा... ! अनुमोदना का अर्थ किया है – इस प्रकार जब त्रिलक्षणवाला द्रव्य स्वभाव है – ऐसी द्रव्य दृष्टि होती है, उसे आनन्द से मान्य रखना, अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन से उसे मान्य रखना। आहा...हा... !

विशेष कहा जायेगा... !

श्री प्रवचनसारजी, गाथा 99
प्रवचन नं. 102
दिनांक 12—06—1979, मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण 2

प्रवचनसार 99 गाथा। लोगों में नहीं कहलाता ? (श्रोता – निन्यानवें का धक्का) हाँ, यह ! आहा...हा... ! निन्यानवें थे, उसे पूर्ण किया – ऐसा लोगों में आता है, निन्यानवें का धक्का ! यह (– 99 गाथा) निन्यानवें का धक्का है ! आहा...हा... !

इस प्रकार स्वभाव से... क्या कहते हैं ? यह छहों द्रव्यों की बात है, हाँ ! **इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणाम...** (अर्थात्) तीन लक्षणवाले परिणाम—उत्पाद-व्यय और ध्रुव ! उसकी पद्धति (अर्थात्) उसकी परम्परा में **प्रवर्तमान द्रव्य...** उत्पाद-व्यय-ध्रुव की परम्परा में प्रवर्तमान द्रव्य, प्रत्येक (द्रव्य) । परन्तु अभी यहाँ मस्तिष्क में आत्मा की बात है । **(परिणामों की परम्परा में...)** आहा...हा... ! एक तो त्रिलक्षण परिणाम की पद्धति-परम्परा, उसमें **प्रवर्तमान द्रव्य, स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता...** यह भगवान आत्मा, त्रिलक्षण परिणाम की परम्परा में प्रवर्तमान (और) स्वभाव को नहीं छोड़ता, आहा...हा... ! **सत्व को...** सत्व अर्थात् द्रव्य; द्रव्य-वस्तु को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** अनुमोदना ! ऐसा त्रिलक्षण—उत्पाद-व्यय-ध्रुव में प्रवर्तमान द्रव्य है, (वह) उसका स्वभाव है। स्वभाव में प्रवर्तमान... आहा...हा... ! द्रव्य को त्रिलक्षण ही... त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए। इन तीन लक्षण में प्रवर्तमान द्रव्य है, उस द्रव्य पर जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ उसे अनुमोदन होता है। अर्थात् ? अनुसरण कर मोदन होता है-आनन्द होता है। मोद... मोद... ! प्रमोद आता है। आहा...हा... ! भाषा तो देखो !

प्रत्येक द्रव्य त्रिलक्षण परिणाम पद्धति में-परम्परा में वर्तता द्रव्य है। ऐसे ही इस आत्मा को भी उत्पाद-व्यय और ध्रुव त्रिलक्षण में (वर्तना है), यह द्रव्य का स्वभाव है, द्रव्य उसमें वर्तता है। उस सत्व को (अर्थात्) उस द्रव्य को... आहा...हा... ! क्या कहा ? द्रव्य को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** ओहो...हो...हो... ! उत्पाद-व्यय और ध्रुव उसका स्वभाव है, उसमें वर्तता है; उसकी अन्तर की पर्याय होने के काल में होती है,

इसलिए उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योंकि द्रव्य तीनों में वर्तता है। आहा...हा... ! यह द्रव्य, उसमें वर्तता यह तीनपना है – ऐसी दृष्टि जाने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है – कहते हैं – आहा...हा... ! अनुमादेन–मोदन—उसे अनुसरण कर आनन्द आता है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द अमृत का पूर है ! आहा...हा... ! ऐसे आत्मा को त्रिलक्षण (परिणाम) पद्धति में वर्तता द्रव्य है – ऐसा जहाँ निर्णय करने जाता है,... आहा...हा... ! वहाँ उसे अनुमोदन, अर्थात् द्रव्य को अनुसरण कर वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहा...हा...हा... ! जिसके स्वाद को बढ़ाने के लिए चक्रवर्ती के आठ वर्ष के राजकुमार... आहा...हा... ! अन्तर में जाने पर अनुमोदन–आनन्द आने पर, यह वस्तु तीन लक्षण में प्रवर्तती ही है, ऐसी जहाँ दृष्टि होती है, वहाँ अन्दर आनन्द आता ही है। आहा...हा.. ! और उस आनन्द को बढ़ाने के लिए, उन राजकुमारों को भी अनुमोदन–आनन्द आता है। आहा...हा... ! फिर कहीं उनकी रुचि नहीं लगती, उन्होंने पूरे संसार को जान लिया है। आहा...हा... ! कहते हैं—उनकी रुचि आनन्द में ढल जाती है। आहा...हा... !

क्रमसर होनेवाली त्रिलक्षण परिणामपद्धति में वर्तता द्रव्य है। लोग कहते हैं कि ऐसा होवे तो उसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा ? परन्तु प्रभु ! सुन तो सही, भाई ! आहा...हा... ! इन त्रिलक्षणों में प्रवर्तमान द्रव्य है – ऐसा जहाँ निर्णय करने जाता है, वही पुरुषार्थ है और उसमें उसे अतीन्द्रिय आनन्द आता है; आहा...हा... ! और उस अतीन्द्रिय आनन्द को बढ़ाने के लिए राजकुमार–चक्रवर्ती के आठ–आठ वर्ष के पुत्रों को दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है। आहा...हा... ! आठ वर्ष के राजकुमार हों, वे मोरपिच्छि और कमण्डल (लेकर वन–जंगल में चल निकलते हैं !) आहा...हा... ! अकेले बाघ और भालू; नाग और बिच्छु के जंगल में ढेर पड़े हों ! आहा...हा... ! चल निकलते हैं। आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष बाहर की कोई भी (वस्तु रुचिकर नहीं लगती)। अरे... ! विकल्प उत्पन्न होवे, उसे घोर संसार का कारण जानते हैं। आहा...हा... ! शुभविकल्प उत्पन्न हो, उसे भी (संसार का कारण जानते हैं।)

ऐसा जो प्रभु है – त्रिलक्षण (परिणाम) पद्धति में प्रवर्तमान यह द्रव्य... आहा...हा... !

उस द्रव्य पर जहाँ पर्याय जाती है, वहाँ अनुमोदन (अर्थात् स्वभाव को) अनुसरण कर आनन्द आता है। आहा...हा... ! उस आनन्द को बढ़ाने... आहा...हा... ! करना तो यह है। आहा...हा... ! आठ वर्ष के राजकुमार जंगल में बाघ और भालू और नाग के बीच चले जाते हैं। हाथ में एक मोरपिच्छि और कमण्डल ! आहा...हा... ! जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्द बढ़ाने के प्रेम में कहीं बाहर की प्रतिकूलता दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार कोई अनुकूलता भी ज्ञात नहीं होती। ऐसा यह ज्ञाता-दृष्टा... आहा...हा... ! जानने-देखनेवाला प्रभु जहाँ हाथ आया... आहा...हा... ! जिसे रत्न मिला, उसे अब दुनिया की क्या दरकार रही ? आहा...हा... ! आहा...हा... ! प्रतिष्ठा और लोग पसन्द करे और मान दे, दुनिया में गिनाऊँ और गिनती में आऊँ... आहा...हा... ! गिनती में तो ले लिया, प्रभु को ! आहा...हा... !

यह तो 'आनन्दघनजी' में नहीं आया था ? 'वे गुण गणी न प्रवीणा, अवधु क्या माँगु गुणहीना' – वे गुण कितने हैं ? कि गिनते हुए पार नहीं आवे। उन अनन्त गुणों का स्वाद (आता है), एक आनन्द का स्वाद नहीं, अनन्त गुणों का स्वाद ! आहा...हा... ! जिसके समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन और इन्द्राणियाँ... आहा...हा... ! उनकी अनुकूलता का भोग भी सड़े हुए श्वान जैसा लगता है। आहा...हा... ! ऐसा भगवान आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त हुआ... आहा...हा... ! तो स्वभाव तो आनन्द था; (अत: अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ।)

कोई यह कहता है कि तुम ऐसे क्रमबद्ध का निश्चय करो, मानो तो उसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा ? प्रभु ! तू ऐसा रहने दे, भाई ! यह क्रमबद्ध के परिणाम, परिणाम के काल में होते हैं, व्यय होते हैं और ध्रुव रहता है—उसमें वर्तता द्रव्य है, उसका निर्णय करने को तो ज्ञायक पर दृष्टि जाती है। आहा...हा... ! चाहे जिस प्रसंग में खड़ा हो, परन्तु उसका अपने अवसर में उत्पाद होता है, वह इसमें आया न ? अब, दृष्टान्त देंगे। परन्तु वह उत्पाद होता है, व्यय होता है और ध्रुव रहता है – यह द्रव्य का स्वभाव है और द्रव्य उसमें वर्तता है। आहा...हा... ! पर्याय में द्रव्य वर्तता है – ऐसा नहीं, द्रव्य त्रि स्वभाव में वर्तता है। आहा...हा... ! ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि करने जाते हैं, तब अन्दर आनन्द से अनुमोदन करे अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें है !

मोतियों के हार की भाँति... यहाँ तक तो कल आया था। **मोतियों के हार की**

भाँति। यह मोतियों का हार है; **जैसे, जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है...** यह हार इतना लम्बा है। **जैसे, जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है – ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में...** ऐसा लटकता हुआ, हाँ! ऐसा पड़ा हुआ नहीं... **लम्बाई ग्रहण की है – ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में, अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए...** (अर्थात्) जहाँ-जहाँ उनका स्थान है, वहाँ-वहाँ वे मोती हैं। यह (मोती) यहाँ है... यह यहाँ है... यह यहाँ है... यह यहाँ है... (ऐसे) जहाँ-जहाँ उसका स्थान है, वही वह मोती हे। आहा...हा...! **अपने-अपने स्थानों में...** भाषा क्या है ? उन मोतियों का स्वयं अपना-अपना स्थान है। जहाँ-जहाँ जो मोती हैं, वह उनका अपना-अपना स्थान है। आहा...हा...!

अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए, समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं... आहा...हा...! अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित और पीछे-पीछे के (अर्थात्) यहाँ एक है, उसके पीछे-पीछे का... आहा...हा...! **पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं, इसलिए, और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते इसलिए...** पहले स्थान में मोती हैं, वह पीछे के स्थान में नहीं आते; पीछे के स्थान में हैं, वे पहले के स्थान में नहीं और पहले के स्थान में हैं, वह पीछे के स्थान में नहीं – यह दृष्टान्त है; फिर परिणाम में उतारेंगे। आहा...हा...!

जहाँ-जहाँ मोती का स्थान है... ऐसे लम्बाई में लटकते हुए, हाँ! आहा...हा...! वहाँ-वहाँ उस स्थान में कि जहाँ-जहाँ स्वयं हैं, वहाँ पीछे-पीछे के स्थान में दूसरा; उसके पीछे के स्थान में तीसरा, वह भी जिसके स्थान में है वहाँ, आहा...हा...! **समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं इसलिए...** जैसे, यह एक (मोती) बीच में है तो इसके पीछे यह, इसके पीछे यह – ऐसे पीछे-पीछे प्रगट होते हैं। आहा...हा...! **और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते इसलिए...** जब इस (मोती) पर लक्ष्य गया तो उसके पीछे यह प्रगट होता है, परन्तु उसके पहले का तो गया, वह प्रगट नहीं होता। आहा...हा...! सन्तों ने जगत् को निहाल करने की विधि दी है! पैसे से निहाल (माने, वह निहाल नहीं है), धूल में मर जाएगा! यह तो भगवान आत्मा! जिस-जिस स्थान में हैं, उसके पीछे-पीछे में होना है, वह वहाँ है; और उसके पहले हो गया, वह वहाँ

(गया) पहले हुआ, वह अब नहीं होता और पीछे होता है, वह उसके स्थान में वहाँ है। आहा...हा... ! ऐसा आठ वर्ष के बालक को भी समझ में आये, बापू! आहा...हा... !

आठ वर्ष के राजकुमार! आहा...हा... ! भरत के 108 (पुत्र) नहीं ? रविकीर्ति राजकुमार! रत्न का डण्डा और सोने का गेंद, आहा...हा... ! उससे खेलते थे। उनकी माँ ने एक व्यक्ति को साथ में भेजा था 'लड़के खेलते हैं ध्यान रखना' आहा...हा... ! 108 ! वहाँ एक व्यक्ति निकला, उसने कहा – जयकुमार ने दीक्षा ले ली है। सेना के अधिपति ने – 96 करोड़ सेना के अधिपति ने – सुलोचना के पति–स्वामी ने... आहा...हा... ! दीक्षा ली है। सुनते ही रोमांच (हो गया)। आहा...हा... ! उस व्यक्ति से कहते हैं कि चलो हम इधर जाते हैं। चलो, चलो, हम इधर जाते हैं। भगवान के पास जाते हैं (ऐसा) कहने जायें तो (व्यक्ति ऐसा कहेगा कि) माता की आज्ञा नहीं है और ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! रत्न की... क्या कहलाता है ? डण्डा! सोने की गेंद, आहा...हा... ! सोने की गेंद! कितनी वजनदार! रत्न का डण्डा! वे जहाँ चैतन्यरत्न की (बात) सुनते हैं – जयकुमार ने भगवान के पास दीक्षा ले ली, आहा...हा... ! अब माता से पूछने भी नहीं जाना कि अब हमें आज्ञा दे। आहा...हा... ! हमारा नाथ अतीन्द्रिय आनन्द का दल प्रभु, उसमें विकार नहीं है, उसमें विकार का ज़हर नहीं है। पुण्य–पाप दोनों परिणाम ज़हर हैं। आहा...हा... ! वे प्रभु में नहीं हैं, आहा...हा... ! उसे साधने के लिए जयकुमार ने साधुपना लिया है। हम भी भगवान के पास जाना चाहते हैं, ऐसा कहा। वरना तो (वह व्यक्ति) कहता कि साहब! आपको तो यहाँ खेलने के लिये भेजा है और मुझे देखने के लिये रखा है। आप यहाँ से दीक्षा लेने के लिये चले जाओगे तो आपकी माँ मुझे क्या कहेगी ? (कहते हैं कि) भाई! इधर चलो, थोड़ा उधर (जायेंगे), आहा...हा... !

वे भगवान के पास जाते हैं... प्रभु... ! अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होवे – ऐसी दीक्षा प्रदान करो। आहा...हा... ! कुँवारे हैं, छोटी उम्र के बालक हैं, सोलह–सोलह वर्ष की उम्र के युवा! परन्तु जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है और अब सुना कि (उन्होंने) तो दीक्षा ली है, अतीन्द्रिय आनन्द को पुष्ट करने के लिये दीक्षा ली है ओ...हो... ! हमें भी वह लेना चाहिए – ऐसा सबको हो गया, एक को नहीं। भगवान के पास दीक्षा लेते हैं, तब

उनके साथ रहनेवाले व्यक्ति को (ऐसा लगता है कि) अरे...रे... ! मुझे इनकी निगरानी अथवा देखभाल करने के लिये भेजा था और यह तो दीक्षा लेते हैं, घर में पूछेंगे... आहा...हा... ! जिन्हें नहीं है चिन्ता का दूसरा विकल्प ! अतीन्द्रिय आनन्द को साधने के लिये, स्वाद लिया है, आहा...हा... ! उस समय वहाँ पर्याय होनेवाली है – ऐसा जहाँ निर्णय करते हैं, वहाँ उसमें वर्तते द्रव्य का निर्णय हो जाता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह कहा न ? **त्रिलक्षण परिणाम पद्धति में (परिणामों की परम्परा में) प्रवर्तमान द्रव्य, स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता...** (अर्थात्) उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को नहीं छोड़ता। सत्व अर्थात् द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना चाहिए। आहा...हा... ! यह तीन लक्षण हैं – ऐसा जहाँ निर्णय करने जाते हैं, वहाँ उस पर्याय में जो द्रव्य वर्तता है, उस समय वह होनेवाली पर्याय होती है, उसमें द्रव्य वर्तता है। इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जाती है। आहा...हा... !

लोगों को क्रमबद्ध की (बात) कठिन पड़ती है। आहा...हा... ! एक के बाद एक पर्याय होती है परन्तु इसके बाद यही होगी – ऐसा नहीं है (ऐसा वे कहते हैं।) आहा...हा... ! भाई ! एक के बाद एक, ऐसे यह हार है न ? देखो न ! हार में एक के बाद एक (मोती में कोई मोती); आगे-पीछे है ? जिस स्थान में है वहाँ है; पूर्व के स्थान में पूर्व और बाद के स्थान में बाद का है।

अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियों में, उत्तर-उत्तर (बाद) के स्थानों में उत्तर-उत्तर (बाद) के मोती प्रगट होते हैं, इसलिए और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते इसलिए तथा सर्वत्र परस्पर... आहा...हा... ! (पहले) उत्पाद-व्यय कहा, (अब कहते हैं) **परस्पर अनुस्यूति का रचयिता सूत्र...** अन्दर जो धागा है, वह सबमें धारावाही है। आहा...हा... ! बाद-बाद के उत्पन्न होते हैं, वह उत्पाद; पहले-पहले के व्यय होते हैं, वह व्यय आहा...हा... ! और धारावाहीरूप से लो तो है... है... ध्रुव, आहा...हा... ! **परस्पर अनुस्यूति का रचयिता सूत्र...** अर्थात् सबमें धारावाही रहनेवाला धागा। आहा...हा... ! उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा है, तथापि उन सबमें रहनेवाला धागा ध्रुव

है। आहा...हा... ! ऐसा जो भगवान आत्मा, वह प्रत्येक पर्याय में वर्तता-धागे की तरह है। आहा...हा... ! है ?

अनुस्यूति का रचयिता सूत्र अवस्थित... है। धागा तो सर्वत्र है... है... है... है... है... भले ही बाद का मोती बाद में, पहले का (मोती) पहले में परन्तु धागा तो सबमें धारावाही है। आहा...हा... ! ऐसी व्याख्या ! **त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है...** उसमें तीन लक्षण से वह हार प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। है न ? यह दृष्टान्त हो गया। अब सिद्धान्त (कहते हैं), आहा...हा... !

उसी प्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है... (नित्यवृत्ति अर्थात्) नित्य अस्तित्व, नित्य स्थायित्व, सदा वर्तना वह। आत्मा ! ऐसी नित्यवृत्ति-टिकना, ग्रहण किया हुआ है। नित्य त्रिकाल ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... आहा...हा... ! जिसने नित्य स्थायित्व ग्रहण किया है, **ऐसे रचित (परिणमित)...** ऐसे परिणमित **द्रव्य के बारे में...** आहा...हा... ! जिसने नित्य स्थायित्व ग्रहण किया है, ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य के बारे में... आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बहायें है।

अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट)... (दृष्टान्त में) स्थानों में प्रकाशित होते हुए... कहा था। उसी प्रकार (यहाँ पर) अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित होते हुए (कहा है)। द्रव्य की जिस-जिस समय की अवस्था है, वहाँ-वहाँ वह-वह पर्याय प्रकाशित थी। आहा...हा... ! धर्म करना हो, उसे इतना सब समझना पड़ता होगा ? बापू ! धर्म की पर्याय कैसे होती है ? जिस समय जो परिणाम (होना है, वह) **अपने-अपने अवसरों में...** अपने-अपने काल में वह पर्याय होती है। आहा...हा... ! आगे-पीछे नहीं। आहा...हा... ! शास्त्र में कथन आता है कि साधक जीव को अल्प काल में केवलज्ञान होगा। आता है न ? परन्तु वह भी क्रमबद्ध में ही है; अर्थात् जिसने आत्मा के आनन्द का अनुभव किया और जिसे आनन्द में रमणता जमी है, उसे केवलज्ञान प्राप्त करने का काल अल्प ही है। आहा...हा... आ...हा... ! ऐसी बात है।

अपने-अपने अवसरों में... जैसे (दृष्टान्त में) अपने-अपने स्थान में कहा था (इसी प्रकार) आत्मा के **अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुए समस्त**

परिणामों में... सभी परिणाम, अपने-अपने काल में होनेवाले परिणाम; आहा...हा...! चिन्तामात्र छोड़ दी है। आहा...हा...! जिसके जिस समय जो परिणाम होते हैं - अपने-अपने समस्त परिणाम, हाँ! आहा...हा...! अपने-अपने अवसर में अर्थात् काल में; पहले क्षेत्र था, अब काल है। **अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुए समस्त परिणमों में, बाद-बाद के अवसरों पर बाद-बाद के परिणाम...** आहा...हा...! भविष्य के भी पहले समय में होनेवाले वे बाद-बाद के हैं। वर्तमान में हुए वे स्वयं; और बीत गये - गये वे गये, वे व्यय में गये; होंगे वे उत्पाद में (गये) और वर्तमान में भी वह उत्पाद है, वह ध्रुवरूप से प्रत्येक को है... है... है... है... है... आहा...हा...! ऐसी व्याख्या! वाद-विवाद से कुछ पार नहीं पड़ता, बापू!

इस प्रकार जिसे (निर्णय) होता है, उसे काललब्धि पक गयी है। आहा...हा...! अपने-अपने अवसर में परिणाम होते हैं... आहा...हा...! बाद-बाद के अवसर में उस-उस काल में वे होते हैं; पहले-पहले के अवसर में उस-उस काल में हो गये। आहा...हा...! समस्त परिणामों में प्रकाशित-सभी परिणामों में (प्रकाशित) और (बाद-बाद के अवसरों में) बाद-बाद के परिणाम प्रगट होते होने से, **और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिए...** आहा...हा...! जो परिणाम उनके समय में हो गये, वे अब कोई होनेवाले नहीं हैं और बाद-बाद के होंगे और उनमें दोनों में... आहा...हा...! बाद-बाद के होंगे, वह उत्पाद में गया; हो गये वह व्यय में गया; आहा...हा...! और परस्पर अनुस्यूति (अर्थात्) प्रत्येक में है... है... है... उस-उस समय में है... है... बाद का उत्पाद और पहले का व्यय - ऐसा नहीं है... है... बस! आहा...हा...! जैसे इन सबमें धागा है; उसी प्रकार प्रत्येक परिणाम के काल में वह धारावाहिक आत्मा है। आहा...हा...! भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, आहा...हा...!

आज एक पुस्तक आयी है। तारणस्वामी है, उन्हें (माननेवाली) कोई बहिन है ऐसा (लिखती है) कि भगवान के शास्त्र में जिनबिम्ब, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर है। वे तारणस्वामीवाले लोग कुछ नहीं रखते न? और तुम ऐसा कहो कि तारणस्वामी यह नहीं मानते थे, तब तो फिर इसका अर्थ हुआ कि वे मिथ्यादृष्टि थे—ऐसा तुम अवर्णवाद करते

हो। जिनबिम्ब, जिनप्रतिमा (जिन भवन) अनादि के हैं। एक पुस्तक आयी है। बात सच्ची है। असंख्य जिनप्रतिमाएँ स्वर्ग में हैं, इसी प्रकार असंख्य द्वीप-समुद्र में अकृत्रिम हैं। ढाई द्वीप में संख्यात कृत्रिम हैं, सब है; प्रतिमा नहीं है - ऐसा नहीं है। शास्त्र में तो यहाँ तक आता है कि जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्मों का नाश होता है। आता है न? धवल में! आहा...हा...! उसके एक अक्षर और एक पद में भी परिवर्तन कैसे होगा? शास्त्र के एक भी अक्षर और एक भी पद से भ्रष्ट होवे तो वह मिथ्यादृष्टि है - ऐसा कठिन पड़ता है। (पुस्तक में लिखते हैं कि) इन्हें (तारणस्वामी को) तुम ऐसा मानते हो कि वे मूर्ति को नहीं मानते, तब तो फिर सूत्र का उत्थापन किया तो तुम मिथ्यादृष्टि सिद्ध करते हो। उनका लक्ष्य जाने पर शुभ उपयोग है, धर्म नहीं परन्तु वस्तु है। वह भी अपने-अपने अवसर में वहाँ प्रतिमा है, मन्दिर है, जिनबिम्ब है, आहा...हा...! यह कोई पक्ष की बात नहीं है, यह कोई पन्थ नहीं है, यह तो भगवान के द्वारा कथित पन्थ-मार्ग है, है वही है। समझ में आया? इसमें मूर्ति और जिनबिम्ब नहीं है—ऐसा कहने जाये तो सूत्र और सूत्र के पद के अर्थ में (परिवर्तन कर दिया है)। सूत्रपाहुड़ में आता है न? सूत्र के एक भी पद और एक भी अक्षर से भ्रष्ट हो तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! भले ही (जिन प्रतिमा) शुभभाव का निमित्त है; परन्तु वह है ही नहीं? आहा...हा...! वह है इसलिए उसमें धर्म है - ऐसा नहीं है परन्तु वह चीज है। ज्ञानी को भी उसके वन्दन-पूजा का भाव उसके काल में आता है; भले ही वह पुण्यबन्ध का कारण है परन्तु वह आता है। आहा...हा...! उस-उस समय के वे पूजा के-भक्ति के परिणाम आते हैं, भाई! और उस-उस समय सामने मन्दिर आदि चीज हो, उसे भी वह सिद्ध करते हैं, आहा...हा...! मन्दिर और जिनबिम्ब नहीं है (- ऐसा माननेवाले ने) सूत्र के वचन, वीतराग के सिद्धान्त-वचन को उत्थापित कर दिया है। आहा...हा...!

मल्हारगढ़ गये थे तब तुम थे? मल्हारगढ़! वहाँ गये तो वह ढोलक बजानेवाला गीत में मूर्ति का विरोध करने लगा। उन लोगों को ऐसा है - मूर्ति का विरोध ही करते हैं। लोगों को पक्ष हो जाता है फिर सूझ नहीं पड़ती; और फिर वह भूलकर जिनबिम्ब और जिनप्रतिमा से भी धर्म होता है - ऐसा मानें तो वह भी विपरीतता है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म मार्ग है। बापू! अलौकिक मार्ग है!

पाठ में तो ऐसा आया है न ? कि जिनबिम्ब दर्शन निद्धत और निकाचित कर्म का (नाश होता है।) ऐसा तीव्र शुभभाव है। सम्यग्दृष्टिसहित है, उसकी बात है। उसे रस नहीं है, इसलिए बहुत घट जाता है। निद्धत और निकाचित होवे उसकी भी (स्थिति घट जाती है)। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शनसहित की बात है, हाँ! अकेले दर्शन भक्ति करे वह कहीं (स्थिति को नहीं घटाते) आहा...हा... ! इस त्रिलक्षण (परिणाम पद्धति में) प्रवर्तमान द्रव्य है, उसकी दृष्टिसहित के जो परिणाम आते हैं (उनकी बात है)। आहा...हा... ! यह कोई पक्ष नहीं है, यह कोई पन्थ नहीं है, वाड़ा नहीं है; यह तो अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली, सन्त जिस पन्थ में गये, वह पन्थ यह है, इसमें कोई पक्ष नहीं है। मूर्ति को स्थापित किया तो वहाँ जड़ को स्थापित किया (– ऐसा कोई कहता है) परन्तु बापू! वह जड़ तो है परन्तु ज्ञानी को भी स्वरूप स्थिरता न हो, तब छह आवश्यक हैं न ? छह आवश्यक! पूजा आदि उस समय आते हैं। ऐसा है भाई! उस-उस समय वह आते हैं, तथापि उनकी दृष्टि का जोर वहाँ नहीं है। आहा...हा... ! उन परिणामों में प्रवर्तमान जो द्रव्य है, वहाँ दृष्टि है। आहा...हा... ! फटाक... फटाक... ! दो टुकड़े हो जायें! राग और भगवान – दो भिन्न (हो जायें) आहा...हा... !

पर्याय में प्रवर्तमान द्रव्य है और यह तो द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है। स्वभाव में प्रवर्तमान स्वभाववान... आहा...हा... ! उस पर दृष्टि जाने पर उसका अनुमोदन होता है कि यह है, इसे आनन्द आता है। उस-उस समय में होता है, इसलिए उसे पुरुषार्थ नहीं है – ऐसा नहीं है, प्रभु! आहा...हा... ! उस-उस समय में परिणाम होते हैं, बापू! आठ वर्ष का बालक हो या आठ वर्ष की बालिका हो, वह भी समकित प्राप्त करते हैं। आहा...हा... ! यह तो बालिका की बात कही। आठ वर्ष की बालिका हो, वह समकित प्राप्त करती है! लड़का हो वह फिर केवलज्ञान प्राप्त करता है! आहा...हा... ! क्योंकि अन्दर आत्मतत्त्व है न! और तत्त्व के-अस्तित्व की मौजूदगी में अनन्त... अनन्त... ध्रुवस्वरूप है न ? आहा...हा... ! भले ही वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव त्रिलक्षण में प्रवर्तता है, तथापि वह कायम रहनेवाला द्रव्य उसमें वर्तता है, वह द्रव्य है न ? आहा...हा... ! उस द्रव्य पर दृष्टि जाने से... वह दृष्टि जाती ही है। यहाँ तो यह कहते हैं। यहाँ तो त्रिलक्षण परिणामपद्धति में प्रवर्तमान द्रव्य है – ऐसा जहाँ निर्णय करने जाये, इसलिए उसकी दृष्टि द्रव्य पर ही जाती है। आहा... ! ऐसा है।

यहाँ तो यह कहा है, अपने-अपने अवसर में परिणाम होते हैं, आगे-पीछे नहीं। (दिगम्बर के बड़े विद्वान के साथ) बड़ी चर्चा हुई। (उन्होंने कहा कि) ऐसा नहीं है, एक के बाद एक परिणाम होते हैं परन्तु यही हो—ऐसा नहीं है, क्रमनियमित नहीं है। (यहाँ तो कहते हैं कि) क्रम से (होते हैं) और जो होना हो, वही होता है। आहा...हा...! क्या हो? (तत्पश्चात्) उन्होंने यह कहा कि सोनगढ़ का साहित्य डुबो देगा! अरे... प्रभु...! बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई! आहा...हा...! ऐसा अवसर प्राप्त हुआ बापू! किसी को क्या कहे? क्यों कहें? इससे तुझे क्या काम है? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि अपना द्रव्य त्रिलक्षण (परिणामों की) परम्परा में वर्तता (द्रव्य है)। यह तो द्रव्य प्रवर्तता है न? वह प्रवर्तमान द्रव्य उसके स्वभाव में वर्तता है। उस स्वभाव पर जहाँ दृष्टि जाती है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है और अतीन्द्रिय आनन्द आता है। पुरुषार्थ और यह सब वहाँ आया - अकर्तापना आया, पुरुषार्थ आया, आनन्द आया। अरे...! अनन्त गुणों की संख्या का पार नहीं, उन अनन्त गुणों का व्यक्तरूप से सभी गुणों का अंश आया। प्रात:काल नहीं आया था? योग का अंश भी क्षय हुआ है। आहा...हा...! यह क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन होने पर द्रव्यस्वभाव की दृष्टि होने पर उसके योग्य अविरति... क्योंकि चारित्रगुण है, उसका अंश भी प्रगट होता है, भाई! आहा...हा...! अरे...रे...! और प्रभु में अनन्त गुण में एक अयोग नाम का गुण है। आहा...हा...! अपने-अपने अवसर में उत्पन्न होनेवाले परिणामों में वर्तता द्रव्य है। उसमें जाने पर... आहा...हा...! उससे अयोग नाम का गुण है, वह भी चौथे गुणस्थान में आँशिक प्रगट होता है। आहा...हा...! अरे...! अयोग तो चौदहवें (गुणस्थान में) आता है न, भाई? आहा...हा...! अयोगपने का अंश प्रगट होता है, प्रभु! आहा...हा...! भगवन्त, तू कितना महान! आहा...हा...! जहाँ तेरा स्वीकार होने पर अयोग का एक अंश भी प्रगट होता है! आहा...हा...!! यह वस्तुस्थिति है, इसमें किसी वाद-विवाद को स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति है।

अपने-अपने अवसर में होनेवाले, आगे-पीछे नहीं। एक बार कहा था - भगवान के पास भक्ति करके आने के बाद कहा था, बहुत वर्ष हुए — कहा आगे-पीछे अर्थात् क्या? आगे-पीछे यह क्या? यह पर्याय यहाँ होनेवाली है, वह यहाँ होगी और वहाँ की यहाँ होगी। इसकी व्याख्या क्या? बापू! स्व-काल में होती है तब होगी। इसमें आगे-पीछे का

प्रश्न कहाँ? आहा...हा...! दुनिया माने न माने, सत्य तो यह है। (दिगम्बर) ऐसा कहते हैं कि आप ढूँढ़िया (स्थानकवासी) में से आये हो न, आपकी बात सच्ची और हमारी झूठी? प्रभु! हम कहीं से भी आये तेरा रहने दे। यह सब दिगम्बर और यह सब पण्डितों की सभी बातें झूठी? स्थानकवासी की भी झूठी और श्वेताम्बरों की भी झूठी और दिगम्बरों की भी झूठी? परन्तु दिगम्बर का क्या कहना है? – यह जाना नहीं है, बापू! इसमें जन्म लिया इसलिए दिगम्बर हो गये (– ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

श्रोता : मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार दिगम्बरों के लिए ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर नहीं, वस्तु ही यह है। दिगम्बर होने पर भी मिथ्यात्व का शल्य रह जाता है, उसे दूर करने के लिए सातवें (अधिकार में) बात की है। पहली शुरुआत में बात की है (कि) दिगम्बर में जन्मने पर भी मिथ्यात्व का एक अंश (रह जाता है।) व्रतधारी साधु हो परन्तु मिथ्यात्व का शल्य रह जाता है। आहा...हा...! तब (जयपुर का एक व्यक्ति) ऐसा कहता है 'दिगम्बर में जन्म लिया वे सब समकिती तो हैं।' हमारे 'मूलचन्दजी' ऐसा कहते थे कि स्थानकवासी में जन्म लिया, वे समकिती तो हैं। लो! वे ऐसा कहते थे। आहा...हा...! बापू! वस्तु में कहाँ स्थानकवासी और कहाँ श्वेताम्बर था? यह तो वस्तु का स्वरूप है। दिगम्बर है, यह तो जैसी वस्तु की स्थिति है, उसका वर्णन करता है; यह कोई पन्थ और पक्ष नहीं है। आहा...हा...! कठिन पड़ता है, प्रभु! परन्तु है तो यह! दुनिया भले ही माने या न माने। आहा...हा...!

पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिए तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह... धारावाही प्रवाह, हाँ। (दृष्टान्त में) धागा था। **अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह...** (अर्थात्) एक के बाद एक। **अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है...** भगवान आत्मा और प्रत्येक परमाणु (प्रत्येक में ऐसा स्वभाव है) प्रत्येक का जानना तो ज्ञान में होता है या नहीं? या पर में होता है? जड़ परमाणु में भी उसका त्रिलक्षणपना (प्रसिद्ध है।) प्रगट अवस्था-पर्याय है, वह उस-उस समय में है। बाद की बाद समय में है, पहले की पहले समय में है परन्तु यह ज्ञान किसे है? जड़ को है? आहा...हा...!

सर्वत्र वह अनुस्यूति (रचनेवाला) प्रवाह (अर्थात् कि) परिणाम... परिणाम...

परिणाम... परिणाम... परिणाम... (ऐसा) प्रवाहक्रम। विस्तारक्रम का तो दृष्टान्त दिया था, यह प्रवाहक्रम है। परिणाम, एक के बाद एक... एक के बाद एक... एक के बाद एक... जो होनेवाला है, वही होगा। गया वह गया। वह भी उसके समय में हुआ था। उसका पूरा प्रवाह गिनो तो वह प्रवाह टिकता होने से, प्रवाहरूप से तो प्रत्येक परिणाम को टिकता देखकर **त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।** आहा...हा... ! उत्पाद भी है, व्यय भी है और ध्रुव भी है। एक परिणाम में तीनपना है। आहा...हा... ! समझ में आया ? लोगों को यह बात बहुत कठिन पड़ती है (इसलिए) लोग सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिमा ले लो, साधु हो जाओ, यह करो-यह छोड़ो, रस छोड़ो; रस छोड़े इसलिए (कहते हैं) इस साधु ने रस छोड़ा ! अरे ! परन्तु अभी पहले मिथ्यात्व तो छोड़ा नहीं, रस कहाँ से छोड़ा ? आत्मा का रस आये बिना राग का रस नहीं छूटता। आहा...हा... ! और यह आत्मा का रस तब आता है कि उस-उस समय के परिणाम वहाँ-वहाँ होते हैं, हो गये हैं, वे अब नहीं होते, नहीं हुए, वे उस-उस समय में होते हैं, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव उस-उस समय का गिनने पर वे है... है... है... प्रवाह (रूप से है), वह ध्रुव। आहा...हा... ! एक ही पर्याय में तीन लागू पड़ते हैं। यह तो समयसार में प्राप्त विकार्य व निर्वृत्य कहा था न ? यह प्रवचनसार है। जिस समय के जो परिणाम होते है, वह प्राप्य हैं; पूर्व की अपेक्षा से बदला, इसलिए वह विकार्य है; है तो वही का वही; और उत्पन्न हुआ, इस अपेक्षा से उसे निर्वर्त्य कहा। आहा...हा... ! गजब बात है। सत्य का जाहिरपना, सत्य का प्रसिद्धपना। ओ...हो... ! यहाँ यह कहा न ? **त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।** आहा...हा... !

जहाँ यह पर्याय उत्पन्न (होने का) काल है और फिर भी उत्पन्न (होने का) काल होगा, वह उसके काल में होगी और उत्पन्न काल हो गया, वह समय होने पर वह गया और... है... है... प्रवाह की अपेक्षा से ध्रुव है। उसमें प्रवर्तमान द्रव्य, उस द्रव्य की दृष्टि होने पर उसे त्रिलक्षणपने का सच्चा निर्णय होता है। आहा...हा... ! ऐसा है।

भावार्थ - टीका की भाषा जरा कठिन है न ! इसलिए भावार्थ में सादी भाषा में (समझाते हैं।)

भावार्थ : प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभाव में रहता है... प्रत्येक द्रव्य अर्थात् वस्तु सदा

स्वभाव में रहता है। **इसलिए सत् है...** द्रव्य है। **वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है...** आहा...हा...! वह सत् द्रव्य 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत्' है और 'सत् द्रव्यलक्षणं' - यह सूत्र आता है न? वरना तो आत्मा में अनन्त गुण में एक उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण भी है। आहा...हा...! आत्मा में उत्पाद-व्यय और ध्रुव नाम का गुण है, जिससे उसे उस-उस समय की वह पर्याय उत्पन्न होती है। उस गुण के कारण, गुण का धारक (द्रव्य है ऐसी) द्रव्य दृष्टि हुई, उसके कारण (उस-उस समय के परिणाम उत्पन्न होते हैं), वह उत्पाद करना पड़े - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है। **वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है...** परिणाम, हाँ!

जैसे द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अंश... पहली बात अलग थी, भाई! समानजातीय-असमानजातीय वह दूसरी बात थी, यह दूसरी बात है। वहाँ तो द्रव्य की पर्याय अकेली सीधी न बताकर समानजातीय विभावपर्याय में परमाणु-परमाणु की पर्याय बतायी। असमानजातीय में जीव और जड़ की (द्रव्यपर्याय) बतलायी। वह तो द्रव्य-पर्याय के प्रकार बतलाये और फिर गुण-पर्याय के दो भेद (बतलाये) - स्वभाव (गुण-पर्याय) और विभाव (गुण-पर्याय)। वह अलग शैली है, यह अलग बात है। यह तो अन्तर में जिस समय जो परिणाम हो, वह परिणाम उसके उत्पाद का काल था और फिर भी जो परिणाम होंगे, वे उसके उत्पाद के काल में होंगे और हुए वे भी उसके उत्पाद के काल में हुए थे, वे गये। इस अपेक्षा से एक-एक पर्याय को पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न; है... है... है... है... है...। इस अपेक्षा से ध्रुव (कहते हैं।) आहा...हा...! वीतरागमार्ग! बापू जिसका फल संसार का अन्त! आहा...हा...! इस चौरासी के अवतार का अन्त! भाई! आहा...हा...! जिसमें भव का अन्त है।

त्रिलक्षण परिणाम में वर्तता द्रव्य... आहा...हा...! इसका स्वीकार होने पर वहाँ भव का अन्त आता है। आहा...हा...! मोक्ष की पर्याय शुरु होती है, इसलिए सम्यग्दर्शन भी मुक्ति की एक पर्याय है। भगवान ध्रुव मुक्त वस्तु है, उसकी एक पर्याय है। आहा...हा...! पूर्ण मुक्त भले ही केवलज्ञान हो तब हो, परन्तु यहाँ मुक्तस्वरूप है तो मुक्त की पर्याय शुरु होती है। आहा...हा...! जहाँ अयोग गुण का भी अंश प्रगट होता है तो भगवान तो अबद्ध

और मुक्त है तो उसका भी अंश-मुक्त का अंश भी व्यक्त-प्रगट होता ही है। आहा...हा... हा.... ! तब उसने मुक्त को जाना और माना कहा जाता है। जाना और माना कब कहलाता है ? मुक्तस्वरूप है, उसे जाना-माना तब कहलाता है कि मुक्त की पर्याय की शक्ति में से आंशिक व्यक्तता हो। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं। **(जैसे द्रव्य के) विस्तार का छोटे से छोटा अंश वह प्रदेश है; उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अंश वह परिणाम है।** जैसे विस्तार का छोटा अंश है; उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाह का ऐसा (ऊर्ध्व है) और विस्तार ऐसा (तिरछा) है। **प्रत्येक परिणाम स्व काल में अपने रूप से उत्पन्न होता है...** यह कठिन पड़ता है न ?

विशेष कहा जायेगा... ।

पूज्य बहिनश्री द्वारा क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धित पूछे गये प्रश्नों के समाधान

प्रश्न : जो उदयभाव क्रम में आ पड़ा हो, उसे तो आगे-पीछे किया नहीं जा सकता, और उस समय इधर के (तत्त्व के) विचार-मनन टूट जाते हैं तो क्या किया जाए?

समाधान : अपनी भावना हो तो पुरुषार्थ करके परिणाम को पलट सकता है। यदि परिणाम पलटे न जा सकते हों तो अनादिकाल से कोई जीव पुरुषार्थ करके, भेदज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही नहीं सकता। पर्याय का स्वभाव ही पलटने का है। सवभाव की भावना करके स्वभाव को ग्रहण करे तो विभावपर्याय का परिवर्तन हो। जो पर्याय उधर (विभाव में) जाती है, उसे स्व की ओर मोड़ना, वह अपने हाथ की बात है। क्रमबद्ध पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ होता है। अकेला क्रमबद्ध नहीं होता। क्रमबद्ध में स्वभाव, पुरुषार्थ सब जुड़े हुए होते हैं। जिसे विभाव ही सर्वस्व लगता है और उससे छूटना अच्छा नहीं लगता, उसका क्रमबद्ध भी वैसा ही है। जिसे विभाव नहीं रुचता और स्वभाव ही रुचता है, उसका क्रमबद्ध भी उसी प्रकार का होता है। उसके पुरुषार्थ की गति स्वभाव की ओर होती है, उसका क्रमबद्ध पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

— स्वानुभूतिदर्शन, बोल 231

प्रश्न : 'सर्वज्ञ ने देखा होगा वैसा होगा' ऐसा कोई कहे तो गुरुदेव कहते हैं कि 'पहले तूने सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार किया है?' तो उसमें गुरुदेव का क्या आशय रहा है?

समाधान : जिसने क्रमबद्ध को नहीं माना, उसने सर्वज्ञ को नहीं माना। जो स्वयं द्रव्यदृष्टि करता है, उसने सर्वज्ञ को माना है। 'भगवान ने जैसा देखा होगा, वैसा होगा', उसका स्वीकार करे, वह स्वयं भी ज्ञाता हो जाता है, ऐसा गुरुदेव का कहना है। सर्वज्ञ को किसने माना है? कि जो ज्ञाता हो जाए उसने। जो ऐसा मानता है कि स्वयं मैं कर सकता हूँ, मुझसे सब होता है, वह सर्वज्ञ को—भगवान को नहीं मानता; 'भगवान ने जैसा देखा

होगा वैसा होगा' वह भी नहीं मानता। जो ज्ञायक हो जाए, उसने भगवान का स्वीकार किया है। तू ज्ञाता हो जा।

जिसने द्रव्यदृष्टि की, उसी ने ही क्रमबद्ध माना है, दूसरे किसी ने नहीं। जिसने द्रव्यदृष्टि की, उसने सर्वज्ञ को माना है, उसने क्रमबद्ध माना है। जो मात्र सूखी बातें करता है, उसने क्रमबद्ध को नहीं माना। — स्वानुभूतिदर्शन, बोल 386

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय मानने से पुरुषार्थ उड़ जाता है, यह बात ठीक है ?

समाधान : जो क्रमबद्ध है, वह पुरुषार्थपूर्वक है। जो क्रमबद्ध को यथार्थ माने उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध सच्चा माना कब कहलाये कि जिसमें पुरुषार्थ साथ हो, तब (सच्चा) माना है। पुरुषार्थपूर्वक क्रमबद्ध है। 'ऐसा ही होना है', वैसा निर्णय पुरुषार्थ के बल और पराक्रम को सूचित करता है। पुरुषार्थपूर्वक क्रमबद्ध न माने तो वह क्रमबद्ध को मानता ही नहीं है। — स्वानुभूतिदर्शन, बोल 617

प्रश्न : क्रमबद्ध तो पर्याय है, तो गुरुदेव पर्याय ऊपर से द्रव्यदृष्टि पर किस प्रकार ले जाना चाहते हैं ?

समाधान : द्रव्य के ऊपर दृष्टि कर और जो पर्याय है, उसकी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। परद्रव्य के साथ तेरी जो कर्ताबुद्धि है, उसे छोड़ दे, ऐसा गुरुदेव का कहना है। उसकी जो पर्यायें परिणमित होनी हैं, वे परिणमित होती हैं, इसलिए तू उनकी भी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। परद्रव्य का मैं कर सकता हूँ, ऐसे तू स्वयं पर का स्वामी बनकर उनका करना चाहता है, ऐसी स्वामित्वबुद्धि-कर्ताबुद्धि को तोड़कर तू अपने द्रव्य पर दृष्टि कर। जो तेरा द्रव्य है, उसके ऊपर दृष्टि दे। जो पर्यायें परिणमित होती हैं, उनका कर्ता तू नहीं है, ऐसे कहने का तात्पर्य है। क्रमबद्ध कर्ताबुद्धि छुड़ाता है परन्तु क्रमबद्ध है, वह पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्ध का सम्बन्ध पुरुषार्थ के साथ होता है। जो पर्याय परिणमित होनेवाली हो, वह परिणमती है, परन्तु स्व की ओर स्वयं पुरुषार्थ करता है—स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करता है—उस पुरुषार्थ के साथ क्रमबद्ध संलग्न है। स्वभाव की प्राप्ति हो, उसमें पुरुषार्थ साथ ही जुड़ा होता है। पुरुषार्थरहित अकेला क्रमबद्ध नहीं होता। तू द्रव्य के ऊपर दृष्टि कर, कर्ताबुद्धि छोड़, ज्ञाता हो जा। पीछे जो पर्याय जैसे परिणमन करनेवाली हो, वैसे

परिणमित होगी; किन्तु उसमें द्रव्यदृष्टि करने का पुरुषार्थ साथ आता है। द्रव्यदृष्टि तो तुझे ही करने की है। जैसा होना होगा, वैसा होगा—ऐसे करने से अपने आप द्रव्यदृष्टि नहीं हो जाती। पुरुषार्थ करे तो द्रव्यदृष्टि होती है; इसलिए क्रमबद्ध पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ है। पर्याय क्रमबद्ध है, परन्तु द्रव्यदृष्टि करवा कर, कर्ताबुद्धि छुड़ायी है—ऐसा गुरुदेव का कहना है। क्रमबद्ध ऐसा नहीं है कि उसका पुरुषार्थ के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। भगवान ने जैसा देखा, वैसा होगा, परन्तु भगवान ने ऐसा नहीं देखा कि जो द्रव्यदृष्टि हो, वह प्रयत्न के बिना हो जाएगी। जो आत्मार्थी हो, उसका लक्ष्य पुरुषार्थ पर होता है। तू पर का कुछ कर नहीं सकता; इसलिए तू परपदार्थ के ओर की अपनी कर्ताबुद्धि छोड़ दे। अपने द्रव्य पर दृष्टि करके अपनी परिणति की गति बदलनी, वह तेरे पुरुषार्थ की बात है, वह कहीं बिना पुरुषार्थ के नहीं होता। गुरुदेव ने तो अनेक रीति से समझाया है और इसमें उनका आशय पुरुषार्थ को मुख्य करने का है। गुरुदेव ने ही सब समझाया है।

— स्वानुभूतिदर्शन, बोल 385

परिशिष्ट - 1

केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाले जीव को
अनन्त भव की शङ्का नहीं रहती

[मानस्तम्भ–प्रतिष्ठा–महोत्सव के समय चैत्र शुक्ला 2 के दिन दोपहर के प्रवचन से]

अहो! केवलज्ञान क्या है ? उसकी महिमा की जगत को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है... जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनन्त भव की शङ्का नहीं है, और जिसे अनन्त भव की शङ्का है, उसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिस प्रकार केवली भगवान को भव नहीं हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाले को भव की शङ्का नहीं है। केवलज्ञान की प्रतीति और भव की शङ्का—यह दोनों एक साथ नहीं रह सकते... ज्ञानी नि:शङ्कतापूर्वक कहते हैं कि—जिसने भवरहित ऐसे केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनन्त भव होते ही नहीं; केवली भगवान ने उसके अनन्त देखे ही नहीं।

श्री सीमन्धर भगवान वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में केवलज्ञानसहित बिराजमान हैं; वहाँ दूसरे भी अनेक केवली भगवन्त विचर रहे हैं। केवली भगवान का आत्मा, राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञायकबिम्ब हो गया है।—ऐसे केवली भगवान को जिसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया, उसे ज्ञायकभाव प्रतीति में आ गया; अब मेरे अनन्त भव होंगे—ऐसी शङ्का उसे होती ही नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वभाव में भव नहीं है। अपने ज्ञान में केवली भगवान का स्वीकार करे और अनन्त भव की शङ्का भी रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनन्त भव की शङ्का नहीं है, और जिसे अनन्त भव की शङ्का है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिस प्रकार केवलज्ञानी भगवान के भव नहीं हैं, उसी प्रकार उस केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाले को भी भव की शङ्का नहीं रहती।

अहो! केवलज्ञान क्या है, उसकी महिमा की जगत् को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है। जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया, इसलिए साधारणत: तो 'केवली भगवान हैं'—ऐसा कहते हैं, परन्तु केवलज्ञानी कैसे होते हैं, वह जानकर निर्णय नहीं करते। हे भाई! 'केवलज्ञानी हैं'—ऐसा तू कहता है, परन्तु वे कहाँ हैं? सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में बिराजमान हैं, इसलिए उनका केवलज्ञान तो वहाँ रहा, परन्तु तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया है? यदि तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया हो तो तुझे अनन्त भव की शङ्का हो ही नहीं सकती। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही केवलज्ञान का निर्णय होता है; राग के अवलम्बन से उसका निर्णय नहीं होता। कहीं शरीर में, राग में केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में ही केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य है—ऐसी जिसने प्रतीति की, उसे श्रद्धा-अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ और भव की शङ्का दूर हो गयी। 'केवली भगवान ने मेरे अनन्त भव देखे होंगे'—ऐसी शङ्का मिथ्यादृष्टि को ही होती है; सम्यक्त्वी को कदापि ऐसी शङ्का नहीं होती। 'मैं अनन्त संसार में परिभ्रमण करूँगा'—ऐसी जिसे शङ्का है, उसे ज्ञायकभाव की—केवलज्ञान की प्रतीति नहीं है; वह अनन्त भव की शङ्कावाला जीव, केवलज्ञान को नहीं देखता किन्तु कर्म को ही देखता है। जो भवरहित केवली भगवान को देखता है, उसे तो—जिसमें भव नहीं ऐसा—अपना ज्ञायकस्वभाव प्रतीति में आ गया है, उसे अब अनन्त भव होते ही नहीं और केवली भगवान ने उसके अनन्त भव देखे ही नहीं; और उसे स्वयं को भी अनन्त भव की शङ्का नहीं रहती।

साधु नाम धारण करके भी यदि कोई ऐसा कहे कि—'अभी हमें भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं हो सकता और अनन्त भव की शङ्का दूर नहीं होती'—तो वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसने केवली भगवान को नहीं माना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले को ही केवलज्ञान का स्वीकार होता है, कर्म के ऊपर जिसकी दृष्टि है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं होता।—इस प्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय बिना केवली भगवान की प्रतीति नहीं होती। जगत् में केवलज्ञानी भगवान हैं—ऐसा स्वीकार करनेवाले ने आत्मा में केवलज्ञान के सामर्थ्य को स्वीकार किया है; केवलज्ञान होने का सामर्थ्य अपने में है, उस

सामर्थ्य के सन्मुख होकर केवलज्ञान का यथार्थ स्वीकार होता है, इसके अतिरिक्त केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।

कोई कुतर्की ऐसा कहे कि 'हम चाहे जितना पुरुषार्थ करें, परन्तु यदि केवली भगवान ने अनन्त भव देखे होंगे तो उनमें से एक भी भव कम नहीं हो सकता;'—तो ज्ञानी नि:शङ्कतापूर्वक उसका अस्वीकार करके कहते हैं कि 'अरे मूढ़! जिसने केवलज्ञान का निर्णय किया है, उसके अनन्त भव होते ही नहीं; जिसने भवरहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनन्त भव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं।'

केवलज्ञान में सब प्रतिभासित है; तीन काल में कब क्या हुआ और कब क्या होगा—वह सब केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है। जो केवलज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें किञ्चित्मात्र फेरफार नहीं हो सकता; परन्तु जिसने केवलज्ञान के ऐसे अचिन्त्य सामर्थ्य का निर्णय किया, उसकी अल्प काल में ही मुक्ति होनेवाली है—ऐसा भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है।

जिसने केवलज्ञान का स्वीकार किया, उसे आत्मा के परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य की खबर है; इसलिए उसकी दृष्टि स्वभाव पर है; वह अपने को अल्पज्ञ या अशुद्धता जितना नहीं मानता, परन्तु पूर्ण ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर साधकभावरूप परिणमित होता है। केवली भगवान द्रव्य से और पर्याय से पूर्ण ज्ञायक हैं, और परमार्थ से मेरा स्वभाव भी वैसा ही ज्ञायक है; मुझ में भी केवलज्ञान की सामर्थ्य है—इस प्रकार अज्ञानी जीव प्रतीति नहीं करता; वह तो मात्र व्यवहार और राग की प्रतीति करके अशुद्धतारूप से ही अपना अनुभव करता है। जिसे अपने ज्ञायकभाव का भान नहीं है और अशुद्धरूप से ही अपना अनुभवन करता है, वह जीव वास्तव में केवलज्ञानी को नहीं देखता परन्तु कर्म और विकार को ही देखता है, उसे संसार की ही रुचि है।—ऐसे जीव को भव की शङ्का का वेदन दूर नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन बिना केवलज्ञान की प्रतीति भी नहीं होती और भव की शङ्का भी दूर नहीं होती। भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन लेकर जहाँ केवलज्ञान का निर्णय किया, वहाँ भव की शङ्का का स्वप्न में भी वेदन नहीं होता क्योंकि स्वभाव में भव नहीं हैं। जहाँ अनन्त भव की शङ्का है, वहाँ स्वभाव की ही शङ्का है। जहाँ स्वभाव की नि:शङ्कता

हुई, वहाँ भव की शङ्का नहीं रहती। केवलज्ञान की प्रतीति और अनन्त भव की शङ्का—यह दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

'अपना आत्मा भव्य है या अभव्य—यह तो भगवान जाने!'—ऐसा जो कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं; उन्होंने भगवान को माना ही नहीं; भगवान भी ऐसा ही देखते हैं कि यह जीव मिथ्यादृष्टि है। मैं तो अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला भव्य ही हूँ, अभव्य नहीं हूँ,—इतनी निःशङ्कता भी जिसे अभी नहीं हुई है, और अनन्तानन्त काल में कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा अभव्य होने का जिसे सन्देह वर्तता है, वह जीव, भवरहित केवली भगवान की प्रतीति का पुरुषार्थ कहाँ से लायेगा?—उसमें तो धर्म प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं है; भवरहित ऐसे केवली भगवान की वाणी कैसी होती है—उसका भी वह निर्णय नहीं कर सकेगा।

कोई जीव ऐसा माने कि राग से धर्म होगा; अथवा देह की क्रिया से धर्म होना माने, और कहे कि मैं केवली भगवान का भक्त हूँ;—तो वास्तव में वह जीव, केवली भगवान का भक्त नहीं है, वह केवली भगवान को मानता ही नहीं है, वह तो व्यवहारमूढ़ है; वह अज्ञानी जीव मात्र विकार और व्यवहार का ही अस्तित्व स्वीकार करता है, परन्तु परमार्थरूप ज्ञायकभाव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; इसलिए वह व्यवहार से ही विमोहित चित्तवाला मिथ्यादृष्टि है। भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करता है, वही सम्यग्दृष्टि है। जिसने अपने भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन लेकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसी ने वास्तव में केवली भगवान को माना है और वही भगवान का सच्चा भक्त है। भगवान के ऐसे भक्त को भव की शङ्का नहीं रहती, अल्प काल में भव का नाश करके वह स्वयं भी भगवान हो जाता है। ●

— आत्मधर्म वर्ष 10, अंक 1, अप्रैल 1954 से साभार

परिशिष्ट - 2

क्रमबद्धपर्याय और पुरुषार्थ

श्री निमयसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से सङ्कलित

किसी भाई का प्रश्न था कि हमने बीस दिन सबेरे-दोपहर प्रवचन सुने परन्तु क्रमबद्ध की कोई बात नहीं आयी; इसलिए यहाँ अपने थोड़ी बात लेते हैं।..... केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक एक समय में ज्ञात होते हैं, इसलिए तीन काल में जब-जब जो पर्याय होनी है, वह भी पहले से ज्ञान में ज्ञात हो जाती है। ऐसा केवलज्ञान का स्वरूप है। भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास में लिखते हैं कि —

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसि वीरा रे,
अनहोनी कबहुँ न होसि, काहे होत अधीरा रे!

लोग कहते हैं कि यह बात जीवों को आश्वासन के लिये की है—परन्तु ऐसा नहीं है। भगवान के ज्ञान में जगत के पदार्थों का क्रम जैसा है, वैसा ज्ञात होता है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में अमृतचन्द्राचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जिस-जिस द्रव्य की जिस-जिस समय में जो पर्याय होनी होती है, वह क्रम अनुसार ही होती है। उपोद्घात में आचार्यदेव ने ऐसा शब्द रखा है कि 'आत्मद्रव्य का अकर्तृत्व दृष्टान्त द्वारा कहते हैं।'

द्रव्य में गुण अक्रम एक साथ रहते हैं और पर्याय क्रम-क्रम से होती है, इन दोनों को भगवान एक ही समय में जानते हैं। श्वेताम्बर में एक देवचन्दजी हो गये हैं, उन्होंने शीतलनाथ भगवान की स्तुति में लिखा है कि 'द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव गुण, राजनीति ये चार जी, त्रास बिना जड़ चैतन्य प्रभु की कोई न लोपे कारजी।' कार अर्थात् आज्ञा। प्रत्येक पदार्थ में वह द्रव्य, उसका क्षेत्र, उसका स्वकाल और स्वभाव—ये चार चतुष्टय नियम से होते ही हैं। उसमें जड़ या चैतन्य किसी पदार्थ को त्रास नहीं कि भगवान ने देखा है, वैसा हमें परिणमित होना पड़ेगा। जिस समय में जहाँ जिस द्रव्य की जो पर्याय होने योग्य है, वह होती ही है, उसमें आगे-पीछे कोई पर्याय बदलती नहीं है। इस अपेक्षा से पर्याय को भी अक्रम कहा जाता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य को अद्रव्य

कहा जाता है, वैसे दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से इस द्रव्य को अद्रव्य कहा जाता है। द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् द्रव्य की चौड़ाई; काल अर्थात् द्रव्य की अवस्था और भाव अर्थात् द्रव्य की शक्ति अथवा गुण। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है; इसलिए अपनी वस्तु, पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल, अभावरूप है और अपनी अपेक्षा से परद्रव्य अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल, अभावरूप है।

देखो! यह अंगुली अपनी अपेक्षा से एक वस्तु है परन्तु दूसरी अंगुली की अपेक्षा से वह कुछ नहीं - अवस्तु है। एक वस्तु दूसरी वस्तु के लिये अवस्तु है तथा प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपनी अपेक्षा से क्रमसर है, वह दूसरे की अपेक्षा से अक्रम है परन्तु उल्टी-सीधी होती है—ऐसा नहीं। पर्याय भी त्रिकाल निश्चित है। विकार की पर्याय भी निश्चित है। यहाँ हमारे तो संवत् 1971 के साल से यह बात चलती है। संवत् 1970 में दीक्षा ली थी और 71 में सम्प्रदाय के सामने इस बात की चर्चा हुई थी। आत्मा को अपनी पर्याय में विकार का काल है तो विकार होता है, कर्म के कारण विकार नहीं होता। यह उपादान की बात आ गयी। अपने उपादान से पर्याय में कार्य होता है, निमित्त से नहीं। व्यवहार से बोलने में आता है कि इस निमित्त से कार्य हुआ परन्तु कार्य वास्तव में निमित्त से नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु का परिणमन अपने उपादान से स्वकाल में होता है; इसलिए निमित्त का अपना भी स्वकाल है, उस अनुसार वह परिणमता है। निमित्त कहीं उपादान की पर्याय को नहीं करता।

इसमें उपादान-निमित्त और क्रमबद्ध, ये दोनों बातें आ गयीं। वस्तु अपनी शक्ति से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परिणमती है, पर से नहीं परिणमती। इस उपादान में क्रमबद्ध आ जाता है।

यहाँ तो तीन प्रकार के ईश्वर हैं—(1) जड़ेश्वर, (2) विभावेश्वर (3) स्वभावेश्वर। जगत में ये तीन प्रकार के ईश्वर ही हैं—(1) रजकण आदि अजीवतत्त्व हैं, वे जड़ेश्वर हैं क्योंकि स्वयं की पर्याय करने में वे स्वतन्त्र हैं। (2) विभाव का स्वामी होकर विभाव करता है, वह जीव, विभावेश्वर है और (3) चैतन्यस्वभाव का स्वामी होकर स्वभाव को

करे, वह स्वभावेश्वर है। जगत में ऐसे तीनों ही प्रकार के अनन्त ईश्वर हैं। जड़ेश्वर भी अनन्त; विभावेश्वर भी अनन्त और स्वभावेश्वर भी अनन्त हैं।

जगत में अनन्त जड़ परमाणु हैं, वे प्रत्येक जड़ेश्वर हैं। निगोद से लेकर सभी अज्ञानी जीव, विभाव के स्वामी होते हैं; इसलिए विभावेश्वर भी अनन्त हैं। अनन्त सिद्ध हैं, वे स्वभाव के स्वामी होकर स्वभाव की पर्याय स्वतन्त्ररूप से करते हैं; इसलिए वे सब स्वभावेश्वर हैं।

अब, इसमें केवलज्ञान द्वारा (क्रमबद्ध) सिद्ध नहीं करना है परन्तु वस्तु की व्यवस्था से क्रमबद्ध सिद्ध करना है क्योंकि वस्तु किसी समय कार्यरहित नहीं रहती। कार्य का नाम ही पर्याय है; इसलिए प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय, वह उसका कार्य है। उस कार्य का करनेवाला वह द्रव्य ही है; परद्रव्य उस कार्य का करनेवाला नहीं है। इस प्रकार उपादान सिद्ध हो गया कि प्रत्येक पदार्थ अपना कार्य स्वयं करता है, पर नहीं कर देता।

अब इसमें प्रश्न ऐसा उत्पन्न होता है कि कार्य भले पर से नहीं होता, द्रव्य स्वयं करता है परन्तु इसमें क्रमबद्ध कहाँ आया ? जिस-जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह सत् का अंश है; इसलिए जिस समय जो अंश होना है, वही होना है। उस समय का अंश पूर्व की पर्याय से भी नहीं और ध्रुव से भी नहीं। द्रव्य-गुण ध्रुव है, उनसे वह पर्याय नहीं होती। जरा सूक्ष्म बात आ गयी है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस-जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही होती है तो पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

भाई ! भगवान ने ऐसा कहा कि जैसे सर्वज्ञ परमेश्वर एक समय में तीन काल-तीन लोक को जैसा है, वैसा जानते हैं; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी-धर्मी को भी पर्याय में, पर में जिस समय जो पर्याय होती है, उसकी कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। मैं पर का कर्ता हूँ—ऐसी बुद्धि छूट जाती है। मुझमें और पर में पर्याय क्रमसर होती है तो पर में जो होनेवाली है, वह होती है, उसे दूसरा द्रव्य क्या करे ! भाई ने (दीपचन्दजी सेठिया ने) लिखा है न ! देखो,

द्रव्य बना है, भाव बना है, होना भी साथ बना है,
बने बनाये जड़-चैतन्य में, अन्य क्या करने जावे जी! ज्ञानेश्वर! अन्य...

ज्ञान का ईश्वर–ज्ञान का स्वामी तू ज्ञातादृष्टा भगवान है। तू कहाँ अन्य के कार्य करने चला? ज्ञानेश्वर! (उन्होंने) तात्त्विक विषय के बहुत गीत बनाये हैं। सूक्ष्म–सूक्ष्म बात बहुत ली है। क्रमबद्ध की बात भी ली है....

द्रव्य अनादि जो बना बनाया है, निज निज करता आवे जी
जाणे जग को, मालिक तो निजको, तो निश्चय सुख पावे जी....

अपने को भी जाने और पर को भी जानता है। पर में करना तो कुछ है नहीं और अपनी पर्याय में राग आया, उसका भी धर्मी कर्ता नहीं क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायकभाव पर है। मैं तो त्रिकाल जानने–देखनेवाला चैतन्यमूर्ति ज्ञानेश्वर हूँ। मैं पर की पर्याय का मालिक नहीं और मुझे राग होता है, उसका भी मैं मालिक नहीं। यह समझना पड़ेगा; बातें करने से नहीं चलेगा।

होना है वैसे ही होय छे जी, कौन किसे पलटाय?
मर्यादा स्व—पर अंतस लावो जी, मर्यादा स्व-पर अंतस लावो....

तेरी मर्यादा तेरे गुण–पर्याय में रहती है और पर की मर्यादा उसके गुण–पर्याय में रहती है। किसी की पर्याय अपने द्रव्य की मर्यादा उल्लंघन कर दूसरे में नहीं जाती। अपनी पर्याय अपने से और पर की पर्याय पर से स्वकाल में होती है।

विश्व—मर्यादा अटल है, नहि कोई पलटनहार,
ज्ञाता बन बन सुखी थया, आपा समझनहार।
होना है सो होय जी, कुछ नहिं चलै जी, कुछ नहि चलै जी,
यह निश्चय दृढ़ जान, परिहर पर शरणं।

पर की शरण छोड़ दे भगवान! ज्ञायक की दृष्टि कर ले।

स्वयं नियमसर जग होता है, करने किसको जावे जी?
जबरन पर का कर्ता बनकर, जीव मद छावे जी...
चेतन! तूं क्यों पर अपनाता है? आनन्दघन तू खुद ज्ञाता है,
ज्ञाता क्युं कर्ता बनता है? खुद क्रमबद्ध सहज पलटाता है (2)
यह विश्व नियम से चलता है, इसमें नहि धक्का चलता है।

प्रत्येक समय होनेवाली पर्याय किसी के धक्का मारने से नहीं चलती। तेरी पर्याय का भी तू ज्ञाता और पर की पर्याय का भी ज्ञाता है। ऐसे तेरे स्वभाव को भूलकर, हे ज्ञानेश्वर! तू क्यों कर्ता होने जाता है।

मुमुक्षु : यह नियम कब का है? नया हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नियम अनादि का है। नया नहीं हुआ। प्रश्न तो उठना चाहिए।

वस्तु की मालिक वस्तु है, जो वस्तु है वही कर्ता है,
फिर मालिक के मालिक बनकर, क्यों नीति न्याय गंवाता है?
जो है सो स्वयं परिणमता है, वह नहिं किसी से टलता है,
यह माने बिन कल्याण नहीं, कोई कैसे ही कुछ कहता हो।

दूसरे पद में भी ऐसी बात आयी है, देखो!

सत् शक्ति है स्वयं महान, जड़ चैतन्य दोनों भगवान,
क्रमबद्ध करते अपने काम, दायें बायें पैर समान।

जड़ और चैतन्य दोनों भगवान हैं अर्थात् महिमावन्त पदार्थ है। जड़ में ज्ञान नहीं तो भी महिमावन्त है। प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें दायें-बायें पैर की भाँति क्रम से चलती हैं। ये दोनों पैर साथ में ऊँचे करके-कुद्दका मारकर कोई चले तो वह चलना नहीं कहलाता। क्रम का अर्थ ही पैर है। भक्तामर में भी ऐसा आता है। द्रव्य में भी पर्यायें दायें-बायें पैर की भाँति एक के बाद दूसरी ऐसी पर्यायें होती हैं, उल्टी-सीधी नहीं होती। भगवान ने पर्यायों का क्रम देखा है, यह बात एक ओर रखो तो भी वस्तु की पर्यायें उसके स्वकाल में ही परिणमे-ऐसा नियम है। पर्यायें, पर से नहीं होती और आगे-पीछे भी नहीं होती—ऐसा जहाँ निर्णय करने जाते हैं, वहाँ पर्यायों की दृष्टि छूटकर ज्ञायक की बुद्धि हो जाती है।

मैं ज्ञायक हूँ, जानने-देखनेवाला हूँ - ऐसी दृष्टि होते ही वह जीव कर्ता हो गया, किसका? 'स्वभाव का' (स्वभावपर्याय का) और अकर्ता हो गया - किसका? विभाव का और पर का। उसमें ही पुरुषार्थ आया। यह कोई नयी बात नहीं है। अनादि काल से यही बात है। अनादि काल से केवली, सन्त और सम्यग्दृष्टि यही बात कहते आये हैं। यह नहीं सुनी, इसलिए नयी है - ऐसा कैसे कहा जाये?

भगवान आत्मा और अन्य अनन्त पदार्थ अपनी पर्याय के स्वकाल से परिणमते हैं। आगे-पीछे या पूर्व के कारण से नहीं परिणमते। बस! उसका क्रम निश्चित हो गया। केवलज्ञानी ने भी ऐसा जाना है और कहा है। उसे उल्लंघन कर कोई द्रव्य की पर्याय नहीं होती। शास्त्र में ऐसा नियम है कि लोकालोक है, वह केवली के ज्ञान में निमित्त है। वह तो ठीक, परन्तु कोई ऐसा कहे कि ज्ञान, लोकालोक में निमित्त नहीं तो वह बात मिथ्या है। लोकालोक जैसे ज्ञान में निमित्त है, वैसे केवलज्ञान की एक समय की पर्याय लोकालोक में निमित्त है।

एक समय में उपादान-निमित्त दोनों हैं। केवलज्ञान अपने उपादान से होता है, उसमें लोकालोक के प्रत्येक पदार्थ उनके गुण-पर्यायसहित निमित्त हैं। केवलज्ञान में भूत-भविष्य की पर्याय भी एक ही समय में ज्ञात होती है, परन्तु निमित्त में तो अकेली वर्तमान पर्याय ही है - ऐसा नहीं है। भूत-भविष्य की पर्याय प्रगटरूप नहीं और वर्तमान पर्याय प्रगटरूप है परन्तु पूरा द्रव्य निमित्त है, इसमें सब आ जाता है - उपादान में जैसे पूरा है, वैसे निमित्त भी पूरा है। भविष्य में पर्याय होगी, तब निमित्त होगा - ऐसा नहीं। सूक्ष्म बात आ गयी है। हम तो प्रवचनसार में से यह बात बहुत वर्षों से कहते हैं। द्रव्य-गुण में सभी पर्याय की शक्तियाँ पड़ी हैं; इसलिए एक ही समय में वे सभी पर्यायें निमित्त होती हैं। ज्ञान, ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण है। द्रव्य में क्रमबद्धपर्यायें जिस समय में जो होनी है, वह सामान्य में पड़ी है, उसी अनुसार क्रम से होगी—ऐसा केवलज्ञान में पूर्ण ज्ञात होता है। आगे-पीछे या कुछ फेरफार बिना होगी—ऐसा ज्ञात होता है। ऐसा निर्णय करनेवाले को पर में कुछ करूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि उड़ जाती है और मेरी पर्याय में राग करूँ—ऐसी बुद्धि भी छूट जाती है, यह तो ठीक, परन्तु स्वभाव की पर्याय करूँ - ऐसा विकल्प भी उड़ जाता है।

मुमुक्षु : तो हमारा तो जो होना होगा, वह होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : होनेवाला होगा, वह होगा - ऐसा निर्णय किसने किया? पर्याय में निर्णय हुआ परन्तु उसमें लक्ष्य किसका होता है? द्रव्य के लक्ष्य से ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है। विषय बहुत सूक्ष्म है। द्रव्य-गुण तो है ही; होना-परिणमना-पलटना-बदलना, वह सब पर्याय में है। जो पर्याय होनेवाली है, वह द्रव्य से होती है परन्तु उसके

स्वकाल में होती है। द्रव्य-गुण को तो करना नहीं है, वे तो हैं ही और पर्याय जो होती है, वह भी उसके स्वकाल में होती है। ऐसा निर्णय करनेवाली की दृष्टि पर से और राग से हटकर, स्वभाव पर जाती है। स्वभाव की पर्याय को भी करूँ—ऐसे विकल्प से दृष्टि उठकर स्वभाव पर जाती है, तब उसे क्रमबद्ध का निर्णय हुआ / तात्पर्य समझ में आया। अब वह अकर्ता और ज्ञातादृष्टा हो गया।

कितने ही लोग ऊपर-ऊपर से हाँ पाड़ देते हैं। महाराज कहते हैं, इसलिए ऐसा होगा—ऐसा मान लेना ठीक नहीं है। स्वयं को ज्ञान में बैठे बिना सच्चा कहाँ से माना कहा जाये ? आनन्दघनजी कहते हैं..... 'प्रभु! आपने मन को वश किया है - ऐसा आगम से जानता हूँ परन्तु मेरा मन वश हो, तब जानूँ कि आपने मन को वश किया है। मेरा निश्चित हुए बिना, तुम्हारा मैं क्या निश्चित कर सकता हूँ ? ऐसे पर की और मेरी पर्याय क्रमबद्ध होती है, उसका निर्णय स्वयं से हो, तब सच्चा निर्णय गिना जाता है।'

(आनन्दघनजी कृत कुन्थु जिनस्तुति के आधार पर)

भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा कि आत्मा का अकर्तापना दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं, उसमें क्रमबद्ध आ गया है। प्रत्येक द्रव्य में गुण अक्रमवर्ती है और पर्याय क्रमवर्ती है। यह बात पहले ही आ गयी थी। जब जीव ज्ञातादृष्टा होता है, तब मैं पर की और राग की तथा स्वभाव की पर्याय को करूँ—ऐसी बुद्धि नहीं रहती। यही आत्मा की सन्मुखता का पुरुषार्थ है और यही क्रमबद्ध समझने का तात्पर्य / फल है। शरीर की कोई क्रिया कर लेना या घरबार छोड़ देना, वह पुरुषार्थ नहीं है। दूसरे द्रव्य की पर्याय कहाँ इस द्रव्य में आ गयी है कि उसे छोड़ना पड़े ? एक द्रव्य की पर्याय भी दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करती, तो द्रव्य-गुण तो कहाँ से प्रवेश करेंगे ? और एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में प्रवेश किये बिना उसका कार्य कैसे कर सकेगी ?

समयसार कर्ता-कर्म अधिकार की 103 गाथा में आता है कि द्रव्य जब परद्रव्य में संक्रमण ही नहीं करता तो पर का कार्य किस प्रकार करेगा ? अरे भगवान! तूने द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय ही नहीं किया। निर्णय कर तो सम्यग्दर्शन हुए बिना रहता ही नहीं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार ज्ञान अधिकार की 80 वीं गाथा में कहते हैं कि

जो जानता अरिहंत को गुण-द्रव्य अरु पर्यायपने;
वह जीव जाने आत्म को उसे मोह क्षय पावे अरे॥

अहो! मेरी पर्याय तो पूर्ण नहीं, भगवान तो अपनी पर्याय में पूर्ण जानते हैं! वह पूर्ण पर्याय कहाँ से आयी? द्रव्य-गुण में पूर्ण शक्ति है, उसमें से आयी है। मेरे द्रव्य-गुण भी पूर्ण हैं, उसमें से पूर्ण पर्याय आ सकती है—ऐसे अपने द्रव्य-गुण पर दृष्टि जाने से उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं कहा है—तो तत्त्वार्थश्रद्धान में सातों तत्त्व आ गये। उसमें मोक्षतत्त्व, अर्थात् केवलज्ञान-पूर्ण पर्याय-उसका निर्णय किस प्रकार होता है? पर्याय के लक्ष्य से पर्याय की प्रतीति नहीं होती। अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञ पर्याय का-मोक्ष का निर्णय करना है, परन्तु पर्याय के आश्रय से निर्णय नहीं होता। जीवतत्त्व के आश्रय से ही पर्याय का निर्णय होता है।

यह प्रीतिभोज परोसा जाता है, भाई! किसी ने प्रश्न किया था तो इतना स्पष्टीकरण आया। यथार्थ प्रश्न का योग्य काल था। बात जरा विचार और मनन करनेयोग्य है। केवलज्ञान, अर्थात् मोक्षतत्त्व है, तो सात तत्त्व में मोक्षतत्त्व आ गया। भगवान ने दो जगह कहा है कि सात तत्त्व की श्रद्धा करना। सात तत्त्व में केवलज्ञानरूप मोक्षतत्त्व आ जाता है। केवलज्ञान में तीन काल ज्ञात होते हैं। दूसरी बात यह कही कि अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह आत्मा को जानता है - तो अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय में भी केवलज्ञान आ गया। इस केवलज्ञान का जानने में कर्ता है, वहाँ जिसमें अनन्त केवलज्ञान पर्याय की शक्ति पड़ी है—ऐसा आत्मा निर्णय में आ जाता है। ऐसे द्रव्य का आश्रय करने से केवलज्ञान / मोक्षपर्याय की श्रद्धा आती है, वहाँ वह जीव ज्ञातादृष्टा हो जाता है और पर का अकर्ता होता है। इसका नाम ही पुरुषार्थ है और इसी का नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है।

मुमुक्षु : फिर से समझाइये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं कहा है तो तत्त्व कितने हैं? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं। इनमें मोक्षतत्त्व का लक्षण केवलज्ञान है या मतिज्ञान है? मोक्ष अर्थात् केवलज्ञान तत्त्व। वह पर्याय है परन्तु

पर्याय की श्रद्धा, पर्याय के आश्रय से नहीं होती। पर्याय की श्रद्धा, द्रव्य के आश्रय से होती है। अभी केवलज्ञान पर्याय तो है ही नहीं, तो केवलज्ञान का निर्णय कैसे करना ? भगवान आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है, उसमें मोक्षपर्याय की श्रद्धा आ जाती है। अल्प ज्ञान में, अल्प ज्ञान के आश्रय से केवलज्ञान की श्रद्धा नहीं हो सकती; इसलिए केवलज्ञान की श्रद्धा करने के लिये द्रव्य का आश्रय लेना पड़ता है; अत: अपनी पर्याय में द्रव्य का आश्रय लेता है, यही पुरुषार्थ हो गया।

आत्मा अर्थात् क्या ? 'ज्ञ' स्वभाव, वह आत्मा है। 'ज्ञ' अर्थात् जानना। उसमें अल्पज्ञता नहीं होती, विपरीतता नहीं होती; पूर्णता ही होती है। इसलिए 'सर्वज्ञ' स्वभाव, वह आत्मा है – ऐसा न्याय से सिद्ध होता है। यह तो न्याय का मार्ग है, इसमें कहीं गड़बड़ नहीं चलती। सर्वज्ञ के मार्ग की प्रतीति न्याय से होती है। सर्वज्ञ की प्रतीति करनी है परन्तु अपनी पर्याय में सर्वज्ञता तो है नहीं। जगत में सर्वज्ञता है – केवलज्ञान है। ज्ञानगुण की पूर्ण पर्याय है, उस सत्ता का स्वीकार अपनी अल्पज्ञ पर्याय में पर्याय के आश्रय से नहीं होता। द्रव्य में सर्वज्ञपना है तो द्रव्य के आश्रय से ही सर्वज्ञपर्याय की श्रद्धा होती है; इसलिए द्रव्य का आश्रय लेना ही पुरुषार्थ है, उससे सम्यग्दर्शन होता है।

युवाओं को यह समझना चाहिए। अब इस तत्त्व को भलीभाँति टिकाये रखना युवाओं का कार्य है। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करना, वह सम्यक्त्व कहो या अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने से सम्यक्त्व कहो; किसी भी प्रकार से कहो, उसमें द्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। भगवान आत्मा के आश्रय बिना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं, इसलिए क्रमबद्ध में भी यही बात है। जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह होती है। वह पर्याय कहाँ से आती है ? द्रव्य में से आती है। अत: द्रव्य का निर्णय करने जाता है तो मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, चिदानन्द हूँ – ऐसा निर्णय हो, उसका नाम पुरुषार्थ है।

इस विषय की चर्चा करना आवश्यक है। अभी बहुत गड़बड़ चलती है। सर्वज्ञ की श्रद्धा में ही अभी विवाद है। एक समय का ज्ञान, तीन काल-तीन लोक में सब निश्चित है—ऐसा जानता है। अनिश्चित कुछ होता ही नहीं। वस्तु कभी अनिश्चित नहीं होती। सामान्य द्रव्य-गुण की व्यवस्थित व्यवस्था, वही विशेष है। सामान्य में से व्यवस्थित जिस

समय जो विशेष अवस्था होनेवाली है, वही होती है—ऐसा वस्तु सिद्ध करती है। यह सम्यक् एकान्त है। त्रिकाल सामान्य है, उसमें विशेष अवस्था होती है।

मुमुक्षु : आपने कहा न कि सामान्य में विशेष नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो विशेष का अन्दर अभाव है परन्तु परिणमन होता है, वह सामान्य के आश्रय से ही होता है। पूरा द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड है, एक समय की पर्याय जितना नहीं। वस्तु के दो धर्म हैं—(1) सामान्य और (2) विशेष। यदि सामान्य में विशेष हो तो सामान्य एकरूप नहीं रहता और यदि विशेष में सामान्य आ जाये तो सामान्य ही नहीं रहता। आप्तमीमांसा में कहा है कि दो धर्म को सिद्ध करना हो तो दूसरे की अपेक्षा बिना समझना पड़ेगा। सामान्य को सामान्यरूप और विशेष को विशेषरूप जैसा है, वैसा समझना पड़ेगा। फिर यह सामान्य किसका? – कि विशेष का; और विशेष कहाँ से उत्पन्न हुआ?—तो सामान्य में से—ऐसा समझना।

सर्वज्ञ के सिद्धान्त संतों ने कहे हैं, उस प्रत्येक में चारों ओर से एक ही बात सिद्ध होती है। भगवान आत्मा विशेषरूप परिणमता है, वह सामान्य का ही अंश है, परन्तु वह पर्यायरूप अंश है, और सामान्य है, वह त्रिकाल ध्रुवरूप अंश है। चार भाव विशेषरूप हैं, वह सामान्यरूप नहीं हो जाते है और सामान्य है, वह विशेषरूप नहीं हो जाता – ऐसा समझे तो दो धर्म सिद्ध होते हैं। यदि हित करना हो तो यह समझना पड़ेगा। मूढ़रूप से समझे बिना चलेगा तो हित नहीं होगा – सम्यग्दर्शन नहीं होगा। मिथ्यात्व के नाश बिना व्रत पाले, तप करे तो भी चार गति के बन्धन में से नहीं छूटेगा। आचार्यदेव तो कहते हैं कि एक वस्त्र का टुकड़ा रखकर यदि मुनिपना मानता है तो उसे नवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं और मुनिपना मनवाता है तो निगोद में चला जायेगा, क्योंकि तत्त्व में अन्तर हो गया। तीन कषाय के अभाववाली मुनिदशा में वस्त्र-ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता – ऐसी वस्तुस्थिति है।

— आत्मधर्म (गुजराती) अप्रैल-मई, 2006 से

परिशिष्ट - 3

(श्री समयसार, गाथा 72 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

सर्व द्रव्यों के सर्व गुणों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध!!

यह श्री समयसार शास्त्र है, इसमें कर्ता-कर्म अधिकार की 72 वीं गाथा चलती है।

जो कोई प्राणी, पुण्य-पाप के विकल्प को मलिन जानकर—चाहे कोई भी विकल्प-इच्छा हो-व्रत, भक्ति, दया, दान आदि किसी का भी विकल्प हो, वह इच्छामात्र दु:खरूप है-मलिन है तथा भगवान आत्मा सदा अति निर्मल है-ऐसा जानकर, अन्तर में राग से निवृत्त होकर अपने स्वभाव में एकाग्र होता है, उसे सम्यग्दर्शन और आत्मा का अनुभव होता है।

जो राग उत्पन्न होता है - दया, दान, व्रत, भक्ति या काम-क्रोध - ये सब विपरीत भाव हैं। चैतन्य से विपरीत जड़ है। राग में चैतन्य का प्रकाश नहीं है; इस कारण शुभराग-दया, दान, व्रत आदि भी जड़ है। जड़ का अर्थ पुद्गल / रजकण, ऐसा नहीं परन्तु राग में चैतन्य की किरण नहीं है; इसलिए राग को चैतन्य से विपरीत जड़ कहा है।

आस्रव, विपरीत भाव है और स्वयं चैतन्यस्वभाव है - ऐसे दोनों के बीच भेद करके अपने आत्मा में एकाग्र होकर, विपरीत भाव को छोड़ता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है। जो कोई विकल्प-वृत्ति उठती है, वह दु:खरूप है; शुभभाव या अशुभभाव दु:खरूप है। आस्रव, आकुलता उत्पन्न करानेवाले हैं और इसलिए दु:ख के कारण हैं, वृत्तिमात्र शुभ और अशुभ दु:खरूप, दु:ख के कारण हैं, जहर है। भगवान आत्मा सदा ही निराकुलता स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं होने से दु:ख का अकारण ही है, अर्थात् दु:ख का कारण नहीं है।

आत्मा अनन्त गुण से सम्पन्न है। वस्तु एक और उसमें गुण अनन्त हैं। आत्मा में अनादि से अकार्य-कारण नाम का एक गुण है। जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, श्रद्धास्वरूप है, वैसे अकार्य-कारणस्वरूप आत्मा है। आत्मा में अकार्य-कारण नाम की शक्ति, गुण, स्वभाव अनादि-अनन्त है। आत्मा में जो राग विकार उत्पन्न होता है,

उसका कार्य भी आत्मा नहीं और उसका कारण भी आत्मा नहीं। देह-वाणी की क्रिया की तो बात नहीं क्योंकि वह तो जड़ है, पर है; उनकी क्रिया तो अज्ञानी आत्मा भी तीन काल में नहीं कर सकता। परद्रव्य की पर्याय तो परद्रव्य का कार्य है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत् है। प्रत्येक रजकण अपना ध्रुवपना कायम रखकर अपने उत्पादरूप पर्याय का कार्य करता है, उसका कार्य कोई दूसरा करे - ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं हो सकता।

एक विचार आया कि पर्याय है, वह क्रमवर्ती है और एक के बाद एक होती है तथा गुण है, वह अक्रम है। वह पर्याय जो क्रमवर्ती व्यवस्थित होती है और गुण अक्रम से है - ऐसा एक क्रम-अक्रम नाम का गुण आत्मा में है। अठारहवीं शक्ति है 'क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है - ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति।' क्रमवृत्तिरूप पर्याय, उत्पाद-व्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण, ध्रुवरूप है - ऐसा आत्मा में एक गुण है।

आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण है। क्रमवृत्ति पर्यायरूप होना और अक्रमवृत्ति गुणरूप होना - ऐसा आत्मा में एक गुण है। जैसे आनन्द नाम की एक शक्ति है, वैसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्ति नाम की एक शक्ति आत्मा में है। स्व में और पर में क्रमसर अवस्था / पर्याय होती है, कोई जरा भी आगे-पीछे नहीं होती। अनन्त परमाणु हों या अनन्त आत्माएँ हों; जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होती है; उसमें कोई आगे-पीछे हो - ऐसा तीन काल में नहीं होता।

आत्मा में भी जो पर्याय होती है, वह क्रमसर होती है और गुण अक्रम से हैं - ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण है, उस गुण का धारक आत्मा है। लोग कहते हैं कि क्रमसर होती है, उसमें हमें पुरुषार्थ क्या करना ? शान्ति से सुनना। यह अन्तर की बात है, जो अनन्त काल में कभी दृष्टि में नहीं ली। क्रमवर्ती पर्याय का होना, क्रमसर-क्रमबद्ध... क्रमवर्ती पर्याय क्रमबद्ध होती है - ऐसा निर्णय करनेवाले को उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का जो गुण अन्दर में है, उसका धारक जो द्रव्य है, उसकी दृष्टि होने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। प्रभु! यह तो अन्दर की बात है। आत्मा की प्रतीति कब होती है ? आत्मा में जितने गुण

हैं, उन गुणसहित जो द्रव्य है, उसकी प्रतीति हो, वह आत्मा की प्रतीति है। आत्मा में क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्ति नाम का एक गुण है। अनन्त गुण एक साथ रहें और पर्याय क्रम-क्रम से क्रमबद्ध होना – ऐसा एक गुण है।

अनन्त गुण एक साथ रहते हैं, उसका नाम अक्रम। ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण एक साथ रहते हैं और पर्याय क्रम-क्रम से रहती है। क्रमवर्ती पर्याय और अक्रमवर्ती गुण हैं – ये दोनों मिलकर एक गुण आत्मा में है। गुण के धारक आत्मा पर जब दृष्टि जाती है, तब गुण की भी प्रतीति हो जाती है कि क्रम-क्रम से पर्याय होती है और अक्रम से गुण हैं। क्रमवर्ती पर्याय तो जो होनेवाली है, वही होगी, ऊपर-ऊपर से तो अभी तक यह कहते ही थे परन्तु आज शक्ति में से निकाला है कि अवस्था क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध है, परन्तु जब दृष्टि द्रव्य पर जाये तो उस क्रमबद्ध का फल आया कहलाये। क्रमबद्ध माने और दृष्टि पर्याय पर रहे तो जिसमें से क्रमबद्ध आया – ऐसे द्रव्य की दृष्टि तो हुई नहीं, पर्यायबुद्धि रही।

आत्मा में 'क्रम से रहना' और 'अक्रम से रहना' ऐसा एक गुण है। एक-एक शब्द बहुत गम्भीर है। क्रमबद्ध है – ऐसा निर्णय करनेवाले को उत्पाद-व्यय-ध्रुव गुण का निर्णय करना पड़ेगा और गुण का निर्णय, द्रव्य के आश्रय से होता है। आहाहा! अकेले गुणभेद से निर्णय नहीं होता। गुणभेद से निर्णय करने जाने पर राग उत्पन्न होता है। गुण अक्रम से रहते हैं और पर्यायें क्रम से होती हैं – ऐसा एक गुण है। उस गुण के धारक आत्मा पर दृष्टि जाने से गुण की प्रतीति होती है और द्रव्य की भी प्रतीति होती है। समझ में आया?

वस्तु / आत्मा पदार्थ है, अस्ति है। अस्ति है तो वह द्रव्य हुआ और द्रव्य है तो उसमें शक्ति होगी या नहीं? शक्ति-स्वभाव के बिना कोई द्रव्य नहीं होता। द्रव्य है तो उसकी शक्तियाँ संख्या से अनन्त हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, ऐसी एक शक्ति 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्ति' (भी) है। एक आत्मा में संख्या से ऐसी अनन्तानन्त शक्तियाँ हैं। आत्मा में रही हुई अनन्त शक्तियों में क्रमवर्तीरूप और अक्रमवर्तीरूप वर्तन जिसका ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का एक गुण है। पर्याय क्रमबद्ध होती है, उसका जहाँ निर्णय करने जाता है, वहाँ क्रमबद्ध होनेवाली पर्याय और अक्रम से रहनेवाले आत्मा में जो गुण हैं, उन गुण

को धारनेवाला जो द्रव्य है, उस द्रव्य पर दृष्टि करने से क्रमबद्ध और क्रम का फल सम्यग्दर्शन आ गया।

भाई! जिसमें से पर्याय क्रमबद्ध होती है, उस द्रव्य की दृष्टि होने से तेरे पुरुषार्थ में क्रमबद्ध का निर्णय हुआ। पुरुषार्थ में क्रमबद्ध का निर्णय हुआ, वहाँ चैतन्यमूर्ति पर दृष्टि गयी, वहाँ स्वभाव से एकत्व हुआ और राग से पृथक् हुआ, पर के कर्ता से पृथक् हुआ। अपने अनुभव में, प्रतीति में आया, तब क्रमबद्ध का तात्पर्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान उसे होता है। ऐसा तो बहुत बार कहा था परन्तु आज यही बात आगम के आधार से शक्ति में से निकाली है। भगवान! तेरी वस्तु ऐसी है। प्रभु! यह अपने एक आत्मा में अनन्त गुण हैं। आकाश के प्रदेश अमाप... अमाप... अमाप...। है... है... है... ऐसे अमाप आकाश के प्रदेशों की जितनी संख्या है, उनसे अनन्तगुने गुण, एक आत्मा में हैं। उन गुण का धारक गुणी आत्मा है, उस गुणी पर दृष्टि जाने से सम्यग्दृष्टि को प्रतीति में आ गया कि पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण अक्रमवर्तीरूप होते हैं।

आत्मा में ज्ञान, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि स्वभाव है – ऐसा एक क्रमवर्तीरूप और अक्रमवर्ती वर्तन जिसका लक्षण है-जिसका स्वरूप है – ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण है, उस गुण का धारक द्रव्य है। जब द्रव्य की दृष्टि हुई, तब प्रतीति में आया कि मैं ज्ञायक हूँ और मुझमें एक ऐसा गुण भी है, वह एक गुण, अनन्त गुण को निमित्त है; इसलिए अनन्त गुण भी क्रमवर्तीरूप प्रवर्तन करते हैं। आहाहा!

आत्मा की प्रतीति उसे हुई कहलाती है कि जो आत्मा अनन्त गुणस्वरूप है, जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव क्रमवर्तीरूप और अक्रमवर्तीरूप वर्तना जिसका लक्षण है – ऐसा एक गुण है। उसके धारक आत्मा का; जब पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, गुण-भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अन्तर में लक्ष्य करके एकत्वबुद्धि करके अनुभूति-सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्दर्शन होने पर उस गुण की प्रतीति आयी और ऐसे अनन्त गुण भी क्रमवर्तीरूप परिणमते हैं – ऐसी श्रद्धा होती है। अनन्त गुण का परिणमन क्रमवर्तीरूप और गुण स्वयं अक्रम से, अनादि से इसी प्रकार रहे हैं। जब द्रव्य की दृष्टि हुई, तब ऐसी श्रद्धा पक्की होती है। जब तक द्रव्य की दृष्टि नहीं, तब तक ऐसा क्रमवर्तीरूप परिणमन मानता नहीं।

श्रोता : यही अनन्त पुरुषार्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही अनन्त पुरुषार्थ हुआ और उसको ख्याल में आ गया कि क्रमरूप परिणमना और अक्रमरूप रहना, वह तो मेरा स्वभाव है।

श्रोता : क्रमबद्ध से पुरुषार्थ का स्पष्टीकरण कैसे होता है, उसका यह स्पष्टीकरण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसी का यह स्पष्टीकरण है। इस प्रकार कभी नहीं कहा था परन्तु आज आ गया। जिसे ऐसा पता न पड़े और धर्म हो—ऐसा मानता है, उसमें उसे धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं। कोई कषाय मन्द होवे तो पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है, उसे तीन काल में जन्म-मरण का अन्त नहीं आता।

भगवान आत्मा अनन्त गुणसम्पन्न, उसमें एक गुण ऐसा जो क्रमवर्तनरूप और अक्रमवर्तनरूप है, उसके धारक द्रव्य पर दृष्टि हुई तो प्रतीति में आ गया कि इस द्रव्य के प्रत्येक गुण की पर्याय क्रमसर / क्रमबद्ध होती है, गुण अक्रम रहते हैं। थोड़ा सूक्ष्म हो गया। जैसा आत्मा है, वैसी प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन हुआ कहलाये। आत्मा कैसा है ? अनन्त गुण सम्पन्न। उसमें एक गुण ऐसा है कि क्रमवर्तनरूप और अक्रमवर्तनरूप स्वभाववाला है। क्रमवर्तनारूप और अक्रमवर्तनारूप जिसका लक्षण है – ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण आत्मा में है।

अमृतचन्द्राचार्य ने तो ऐसा लिखा है कि आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें क्रमवर्तना और अक्रम रहना – ऐसा एक गुण है। उस गुणसहित आत्मा की प्रतीति करने से अनुभूति हुई। पर का कर्ता तो मैं नहीं परन्तु राग का कर्ता भी मैं नहीं। अरे रे! मेरी निर्मल पर्याय होती है और विकल्प आता है, वह विकल्प न करूँ – ऐसा भी नहीं है। क्योंकि वह द्रव्य ही क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती गुण धारण करनेवाला है – ऐसे द्रव्य की दृष्टि होने से सभी गुणों का कार्य क्रमसर होता है – ऐसी सच्ची प्रतीति होती है।

एक गुण, उन सब गुण में 'विभु' है, व्यापक है। जहाँ ज्ञान गुण है, वहीं आनन्दगुण है, और वहीं उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का एक गुण साथ ही रहा हुआ है। ऐसे द्रव्य की जब प्रतीति हुई, तब वह गुण और दूसरे अनन्त गुणों में क्रमवर्तीरूप पर्याय होती है और अक्रम से गुण रहते हैं – ऐसी प्रतीति होती है। यह जिस समय राग आता है, वह भी क्रमसर-

क्रमबद्ध आता है और जानने-देखने की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है; दृष्टि तो द्रव्य पर है और राग तो जिस काल में आनेवाला है, वह आयेगा परन्तु उसे जाननेवाली ज्ञान की पर्याय भी क्रमबद्ध होगी। राग को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय भी क्रम में आयेगी।

सर्वज्ञ ने देखा है, इसलिए क्रमबद्ध होगा – ऐसा अभी नहीं कहना परन्तु द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती है। प्रभु! यह तो अन्तर की बात है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है! प्रभु! यह वस्तु जैसी है, ऐसी ही समस्त वस्तुएँ हैं। समस्त वस्तुओं में भी ऐसा एक गुण पड़ा है, उन समस्त वस्तुओं में भी क्रमसर परिणमन और अक्रम से रहना होता है, परन्तु दूसरे द्रव्यों में ज्ञान न होने से उन्हें पता नहीं पड़ता। आत्मा ज्ञाता है तो उसे क्रम-अक्रम का पता पड़ता है। समझ में आया?

समस्त द्रव्यों में ऐसा गुण है परन्तु अभी तो अपने को आत्मा सिद्ध करना है। आत्मा ही उसे कहते हैं कि जिसमें क्रमवृत्तिरूप पर्याय परिणमन करे और अक्रम से गुण रहे – ऐसा एक गुण हो। उस गुण को जो धारण करे, वह आत्मा। ऐसे गुण की श्रद्धा हुई, उसे पूरा द्रव्य क्रमबद्ध परिणमता है और अक्रम से रहता है – ऐसी श्रद्धा हो गयी। यह बात समझ में न आवे ऐसी नहीं है। भगवान आत्मा एक समय में अस्तित्व धराता है, वह उसके अनन्त गुणों का भी अस्तित्व है। उसमें एक गुण ऐसा है कि जो क्रम से प्रवर्ते और अक्रम से रहे। आहाहा! इस शक्ति को न माने तो द्रव्य को नहीं माना, गुण को भी नहीं माना, पर्याय को भी नहीं माना और आत्मा को भी नहीं माना। इस गुण को न माने तो आत्मा को ही मानता नहीं।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा आत्मा को देखा है, उस आत्मा में अनन्त गुण देखे हैं, उन अनन्त गुणों में भगवान ने एक गुण ऐसा देखा है कि जो क्रमसर प्रवर्ते और किसी द्रव्य की कोई भी पर्याय आगे-पीछे नहीं हो। पर्याय आगे-पीछे न हो और क्रमसर हो तथा एक साथ गुण हो, ऐसा एक गुण द्रव्य में रहता है। उस गुण का गुण / गुण का कार्य क्या? ध्रुवरूप से अक्रम रहना और पर्याय में क्रमसर रहना, वह गुण का गुण / गुण का कार्य है।

कर्म-रजकण को तेरे लक्ष्य में से निकाल दे, वे तो तुझमें हैं ही नहीं। राग आदि आता है, वह भी तुझमें नहीं है। राग तो आस्रव है और शरीर, कर्म है, वह अजीवतत्त्व है;

इसलिए आत्मा में नहीं है। पुण्य-पाप का विकल्प, वह आस्रवतत्त्व है, दु:खरूप है; इसलिए वह भी आत्मा में नहीं है। यदि आत्मा में आस्रवतत्त्व होवे तो जीवतत्त्व और आस्रवतत्त्व ये दोनों तत्त्व भिन्न न रहें। आत्मा में आस्रवतत्त्व नहीं तो क्या है ? आत्मा में ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। उनमें एक गुण ऐसा है कि क्रम से प्रवर्ते और गुण एक साथ रहें – ऐसा एक गुण समस्त गुण में है। अनन्त गुण की ताकत ऐसी है और इसलिए द्रव्य की ताकत भी ऐसी ही है।

श्रोता : यदि ऐसी ताकत को न माना जाये तो द्रव्य ही बिगड़ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह द्रव्य को ही नहीं मानता, वह आत्मा को ही नहीं मानता। पूरे दिन आत्मा... आत्मा करे और आत्मा ऐसी शक्तिवाला है, ऐसा न माने तो वह जीव नास्तिक है। समझे बिना आत्मा... आत्मा करे तो क्या काम आवे ? कुछ काम न आवे। अच्छी बात आ गयी है।

सर्वज्ञ ने देखा है, इसलिए क्रमबद्ध होगा-ऐसा नहीं है परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु का स्वरूप ऐसा न हो तो वस्तु के गुण का नाश हो जाता है। गुण एकसाथ रहते हैं, पर्याय क्रमसर होती है, आगे-पीछे नहीं होती – ऐसा एक गुण है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्ति तो त्रिकाली शक्ति है, तो उस शक्ति का कार्य क्या ? स्वयं ध्रुवरूप रहे और पर्याय क्रम से प्रवर्ते, यह त्रिकाली शक्ति का कार्य है। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ऐसा आया है कि आत्मा में एक ऐसा गुण है कि जो क्रम से प्रवर्ते और अक्रमरूप एक साथ रहे। राग दु:खरूप है और आत्मा सुखरूप है – ऐसे दोनों के बीच भेदज्ञान करके, ज्ञायक की ओर झुकने से प्रतीति में आ गया कि द्रव्य और गुण ऐसे हैं कि जिनका स्वभाव क्रम से परिणमे और अक्रम से एकसाथ रहे।

यहाँ आत्मा उसे कहते हैं कि जो ज्ञान धारण करे, आनन्द धारण करे, अस्तित्व गुण धारण करे, चैतन्य का भाव प्राण धारण करे। आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें राग के अभावरूप परिणमन करनेवाला एक अकर्ता नाम का गुण होता है। समस्त कर्म से किया जानेवाला ज्ञातृत्व मात्र से पृथक् जो परिणाम, उन परिणामों के करण के उपरमस्वरूप वह अकर्तृत्वशक्ति है, जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातापने के अतिरिक्त कर्म से किये जानेवाले

परिणामों का कर्ता नहीं होता–ऐसी अकर्तृत्व नाम की एक शक्ति आत्मा में है।

आत्मा में निमित्त के लक्ष्य से जो विकल्प हुआ, उससे उपरमस्वरूप–उससे निवृत्तस्वरूप अकर्ता नाम का एक गुण आत्मा में है। जिस समय राग हुआ है, उसी समय उपरमस्वरूप–राग से निवृत्तस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्वपरिणाम हुआ, वह अकर्तृत्वगुण का कार्य है। रागादि जो परिणाम हुए, उनसे निवृत्तस्वरूप अकर्तृत्व नाम का आत्मा में एक गुण है।

आत्मा में एक अकर्तृत्व नाम का अनादि–अनन्त गुण है। जिस प्रकार आत्मा में क्रम से परिणमना और अक्रम से रहना, ऐसा एक गुण है; उसी प्रकार आत्मा में अकर्ता नाम का एक त्रिकाल गुण पड़ा है। जिसे ऐसी शक्ति का भान नहीं, वह अज्ञानी जीव, राग का कर्ता होता है। राग को जिस समय आना है, उसी समय आता है परन्तु अज्ञानी को अकर्तृत्व शक्ति का भान नहीं; इसलिए राग का कर्ता होता है। जिसे द्रव्य का भान नहीं, वह राग का कर्ता होता है परन्तु जिसे द्रव्य का भान हुआ है, उसे आत्मा में रहे हुए अकर्तृत्व गुण का भी भान हुआ और उसके फलस्वरूप राग से निवृत्त होता है, राग का अकर्ता होता है। सम्यग्दृष्टि, राग का कर्ता नहीं; राग का ज्ञाता है। राग को ज्ञेयरूप से जानता है।

जो राग होता है, वह क्रम में ही होता है, उसका लक्ष्य करना नहीं पड़ता। आत्मा में अकर्तृत्व नाम का गुण पड़ा है, इस कारण पूरे द्रव्य का ऐसा गुण हुआ कि वह राग का कर्ता नहीं होता – ऐसे द्रव्य की दृष्टि होने पर, उस समय जो राग होता है, उसके अभावस्वरूप परिणमन करना, वह अकर्तृत्व शक्ति का फल है।

यहाँ तो एक–एक गुण का कार्य भिन्न–भिन्न बतलाना है। प्रत्येक गुण का कार्य होता तो है एक समय में, परन्तु भिन्न–भिन्न होता है। थोड़ा भी जैसा है, वैसा सत्य समझे तो अन्त आवे – ऐसे का ऐसा ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ डाले और उसमें से कुछ सार न निकाले! इतना पढ़कर भी राग को आगे किया और राग करना, यह निकाला, यह तो अनादि से करता है; इसमें नया क्या लाया? समझ में आया? मैं पर का भला कर सकता हूँ, धूल पर का कर सकता है? पर का करना – ऐसा तो आत्मा में कोई गुण ही नहीं है। वह तो नहीं परन्तु राग का कर्ता – ऐसा भी आत्मा में कोई गुण नहीं है। आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प का कर्ता हो, ऐसा आत्मा में कोई गुण नहीं है। सर्वज्ञ ने कहा है, वैसे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, पंच महाव्रत का विकल्प, शास्त्रज्ञान, परसन्मुख का विकल्प करना - ऐसा आत्मा में कोई गुण नहीं है। उस विकल्प से निवृत्त होना - ऐसा अकर्तृत्व नाम का एक गुण आत्मा में है। समझ में आया? यह तो शान्ति से समझने की वस्तु है। यह तो सत्यस्वरूप है, सर्वज्ञ ने जैसा देखा, ऐसा स्वरूप है। आत्मा में अकर्तृत्व नाम का एक गुण है, उस गुण के धारक आत्मा की श्रद्धा हुई तो पर्याय में अकर्तृत्वगुण का परिणमन हुआ। द्रव्य और गुण में तो अकर्तृत्व व्यापक है ही, परन्तु जहाँ ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ अकर्तृत्वगुण पर्याय में व्यापक हो गया। पर्याय में अकर्तृत्वगुण व्यापक होने का अर्थ यह कि पर्याय, राग से निवृत्त हो गयी।

राग है, उस समय भी राग से उपरमस्वरूप परिणमना, वह अकर्तृत्वगुण का कार्य है। ऐसे का ऐसा आत्मा... आत्मा करे - माने वह नहीं चलता। समझ में आया? वह वस्तु कैसी है, उसकी शक्ति कैसी है, उस शक्ति का कार्य क्या है? यह समझना चाहिए। अकर्तृत्वगुण वह शक्ति है और उसे धरनेवाला भगवान आत्मा है। जब ऐसे आत्मा की श्रद्धा की जाती है, तब पर्याय में अकर्तृत्वगुण का परिणमन हुआ। राग के अभावस्वरूप परिणमन हुआ, वह अकर्तृत्वगुण का पर्यायरूपी कार्य है। इतना हो, तब वैसे आत्मा को जाना, माना और अनुभव किया - ऐसा कहा जाता है।

यह तो निहाल होने की बातें हैं। अनन्त काल में यह बात जीव ने यथार्थरूप से सुनी भी नहीं है। यथार्थरूप से सुनी ही नहीं तो निर्णय तो किसका करे? समझ में आया? भगवान आत्मा में एक गुण ऐसा है कि जो कर्म के निमित्त से राग हुआ, उससे उपरमस्वरूप रहे, राग से निवृत्त-स्वरूप रहे - ऐसा एक गुण है।

श्रोता : राग का नाश हो तब कर्म टले?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग के अभावरूप परिणमन होता है और कर्म भी अपने आप नाश होते हैं। राग का नाश करना नहीं पड़ता और कर्म का भी नाश करना नहीं पड़ता। राग का नाश करे, ऐसा आत्मा में कोई गुण नहीं है। राग को ग्रहण ही नहीं किया।

आत्मा में एक त्याग-उपादान-शून्यत्व शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा, राग

को ग्रहण भी नहीं करता और इसलिए राग का त्याग करना भी नहीं रहा। राग के ग्रहण-त्याग से आत्मा शून्य है। राग का ग्रहण-त्याग नहीं करना - ऐसी आत्मा में एक शक्ति है। आहाहा! ऐसा का ऐसा कहे कि हम आत्मा को मानते हैं परन्तु बापू! आत्मा को मानना वह कोई अपूर्व चीज है! अनादि से यह वस्तु कभी सुनी नहीं, इसलिए परिचय हुआ नहीं, अनुभव कहाँ से आवे। अनादि से राग करना और राग का अनुभव करना, यह सुना है और यही करता है। इसका अभ्यास भी है।

राग आदि विकल्प उठते हैं, वह दु:ख है और आत्मा आनन्दस्वरूप है - ऐसा जहाँ दोनों के बीच भेद किया, वहाँ अन्दर में राग से निवृत्ति हो गयी। आत्मा में अकर्ता नाम का गुण होने से अन्दर में राग से उपरमस्वरूप-निवृत्ति हो गयी और आनन्द की परिणति प्रगट हुई। प्रभु! तू कितना और कहाँ है, इसका तुझे पता नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी एक समय में जिन्होंने तीन काल-तीन लोक देखा, उन्होंने ऐसा आत्मा देखा है। ऐसा आत्मा प्रतीति में आवे, वह आत्मा को मानता है; बाकी आत्मा को नहीं मानता, नास्तिक है। जैसा आत्मा नहीं, वैसा आत्मा को मानना अर्थात् आत्मा को मानता ही नहीं। समझ में आया?

आत्मा में स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का एक गुण है। राग का स्वामी जीव हो - ऐसा आत्मा में कोई गुण नहीं है। राग से उपरमस्वरूप अकर्तागुण के कारण हुआ और क्रमसर जो पर्याय परिणमति है - ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव की शक्ति को धारण करनेवाले द्रव्य की प्रतीति हुई तो साथ में व्यवहाररत्नत्रय का संग नहीं रहा। व्यवहाररत्नत्रय का-राग का स्वामी नहीं रहा, क्योंकि आत्मा में एक स्वस्वामीसम्बन्ध नाम की शक्ति पड़ी है, जिसके कारण आत्मा शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वामी है; राग का स्वामी नहीं। क्रम से परिणमने के स्वभाववाली उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्ति, अकर्तृत्व शक्ति आदि गुणों के धारक द्रव्य की दृष्टि करने से-रुचि करने से, जो राग आवे, वह भी अकर्ताशक्ति के कारण उपरमस्वरूप परिणमता है, राग के अभावरूप परिणमन हुआ, क्रमसर परिणमन हुआ, अक्रम से गुण रहे और राग का स्वामी नहीं रहा परन्तु राग के अभावस्वरूप परिणमन का स्वामी रहा।

अकर्तृत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुव - ऐसी अनन्त शक्तियों के बिना द्रव्य नहीं रहता।

आत्मा को ऐसी अनन्त शक्तियों की आवश्यकता है, वे अन्दर में ही पड़ी है। अकर्तागुण के कारण जो राग आया, उससे उपरमस्वरूप परिणमता है। इसका नाम भेदज्ञान है। जो अन्य का कार्य नहीं और अन्य का कारण नहीं – ऐसा द्रव्य, उसस्वरूप अकार्य-कारणत्वशक्ति है। भगवान आत्मा में अकार्य-कारणत्व नाम का एक गुण है, जिसके कारण आत्मा, राग का कारण नहीं और आत्मा की निर्मल पर्याय, वह राग का कार्य नहीं। राग की मन्दता है-व्यवहार है तो सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। भगवान आत्मा तो विकल्प के अभावस्वरूप है तो व्यवहार पहले और फिर निश्चय – ऐसा आया कहाँ से ?

राग दु:खरूप है और आत्मा आनन्दस्वरूप है। आत्मा में एक अकर्ता नाम का गुण है, राग से निवृत्तरूप परिणमन, वह उसका स्वरूप है। जहाँ ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ राग से निवृत्तस्वरूप परिणमन हुआ। तब राग है, वह ज्ञेय बन गया। अपनी पर्याय में राग नहीं आया, व्यवहार ज्ञेय हो गया। आत्मा, व्यवहार का स्वामी नहीं और व्यवहार, आत्मा की पर्याय में नहीं रहा। आहाहा! गजब बात है, यह तो त्रिकाल सत्य है; इसमें कुछ फेरफार करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाये, द्रव्य को माननेवाला न रहे। समझ में आया ?

निराकुलता के स्वभाव के कारण भगवान किसी का कार्य नहीं अर्थात् राग से निवृत्तिस्वरूप कार्य होने से राग, वह आत्मा का कार्य नहीं और राग से आत्मा में सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई – ऐसा नहीं। क्योंकि राग, आत्मा का कारण नहीं और राग आत्मा का कार्य नहीं। आत्मा, राग का कारण नहीं और राग का कार्य नहीं – ऐसा अकार्य-कारण गुण आत्मा में अनादि-अनन्त पड़ा है – ऐसे अनादि-अनन्त द्रव्य-गुण की दृष्टि होने से आत्मा, राग का कार्य और राग का कारण नहीं बनता – ऐसी श्रद्धा हो तो आत्मा माना कहलाये, वरना आत्मा को मानता ही नहीं।

इस प्रकार अन्तर में दृष्टि करके जब आत्मा, आस्रवों के भेद को जानता है, उसी समय क्रोधादि से निवृत्त होता है अर्थात् विकाररूप परिणमन आत्मा में नहीं रहता। स्वभाव की दृष्टि में विकाररूप परिणमन न रहे, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आनन्द कहते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

परिशिष्ट - 4

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से संकलित

क्रमबद्ध का प्रयोजन : आत्मा का अकर्तृत्व

कोई ऐसा मानता है कि स्वभाव ही है, कर्मादि हैं ही नहीं; एकान्त पक्ष है। कोई पूर्व कर्म के उदय को ही मानता है कि जैसा कर्म का उदय आता है, वैसी ही ज्ञान की पर्याय में तरंग उठती है... कोई अकेले पुरुषार्थ को ही मानता है। पुरुषार्थ करो... पुरुषार्थ करो.. परन्तु पुरुषार्थ कब काम करता है ? वस्तु का स्वभाव और पर का (कर्म का) अभाव हो, तब पुरुषार्थ काम करता है, अकेला पुरुषार्थ काम नहीं करता। कोई काल को ही मानता है कि जिस काल में होना होगा, उस काल में होगा।

मुमुक्षु : क्रमबद्ध कहते हैं वह क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रमबद्ध में पाँचों समवाय आ जाते हैं। जिस द्रव्य में, जिस समय, जिस प्रकार से पर्याय होनेवाली है, वह होती है। ऐसा निर्णय करनेवाला स्वभावसन्मुख है; इसलिए वहाँ स्वभाव आ गया; स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ आ गया; उस समय ही उसका काल था, इसलिए काललब्धि आ गयी और उसी समय भवितव्य था; उस समय में कर्म के उदय के प्रतिबद्ध का अभाव है। इस प्रकार पाँचों समवाय आ जाते हैं।

शास्त्र में क्रमबद्ध आया है, वह क्रमबद्ध सिद्ध करने के लिये नहीं परन्तु आत्मा का अकर्तापना सिद्ध करने के लिये आया है। समयसार में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में 208 से 311 गाथा की टीका में अकर्तापना समझाने के लिये क्रमबद्ध आया है कि आत्मा क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव है। आत्मा, परद्रव्य की पर्याय का कर्ता तो नहीं, राग का कर्ता तो नहीं परन्तु अपनी पर्याय को परिणमाऊँ – ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं है। ऐसा अकर्ता सिद्ध करने के लिये 'क्रमबद्ध' आया है। द्रव्य जिस समय, जिस पर्याय से उत्पन्न होता है, उससे अनन्य है; अन्य नहीं। टीका में शब्द ऐसे आये हैं कि प्रथम तो क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। तावत् क्रमनियमित ऐसे शब्द संस्कृत टीका में हैं। क्रमबद्ध समझनेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होनी चाहिए। क्रमबद्ध...

क्रमबद्ध... करे और कर्ताबुद्धि रहती हो तो उसे क्रमबद्ध का निर्णय नहीं है। मैं करूँ... मैं करूँ... ऐसा होता है, वहाँ क्रमबद्ध का निर्णय कहाँ आया?

क्रमबद्ध के निर्णय में तो अपने भगवान ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाती है, इसलिए 'स्वभाव' आया; उस समय—यह उसका 'स्वकाल' आया; उस समय जो भाव होना था, वही हुआ, यह 'भवितव्य' है और स्वभावसन्मुख है, इसलिए 'पुरुषार्थ' आ गया, उस समय प्रतिबद्ध कर्म का अभाव है; इसलिए 'निमित्त' आ गया। इस प्रकार पाँचों ही समवाय एक ही समय में साथ होते हैं। स्वभाव, काललब्धि, पुरुषार्थ, भवितव्य, कर्म के अभावरूप निमित्त—ये पाँचों समवाय कार्य हो, तब साथ ही होते हैं।

जीव की तरह अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। शरीर के परमाणुओं का परिणमन भी क्रमबद्ध है, अपने स्वभाव अनुसार है, परमाणु का परिणमन स्वयं के काल से ही होता है और जो भवितव्य हो, वही होता है और तब विघ्नरूप निमित्त का अभाव होता है। इस प्रकार परमाणु का स्वभाव, काल, भवितव्य, परमाणु की (परिणमन शक्ति) और विघ्न का अभाव, ये पाँचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं।

शास्त्र में क्रम शब्द दूसरे अर्थ में आता है। गुण अक्रम है और पर्याय में क्रम है, अर्थात् पर्याय एक के बाद एक होती है—ऐसा वहाँ अर्थ है और 38 गाथा में जो क्रम-अक्रम शब्द आया है, उसका अर्थ भी अलग है। चौदही मार्गणा है, उनमें अमुक एक साथ होती है। जैसे कि जिस समय में लेश्या है, उसी समय में ज्ञान की पर्याय भी है, श्रद्धा भी है, चारित्र भी है- ऐसे अनन्त गुण की पर्याय अक्रम से एक साथ होती है, परन्तु एक गुण की पर्याय क्रम-क्रम से होती है। चार गति में से एक गति के समय दूसरी गति नहीं होती, छह लेश्या में से एक लेश्या के समय दूसरी लेश्या नहीं होती, चर कषाय में क्रोध के समय मान नहीं होता, मान के समय माया नहीं होती; इस प्रकार गुण अक्रम है और अनेक गुणों की पर्यायें भी अक्रम से एक साथ बहुत होती है, परन्तु एक गुण की पर्याय एक ही होती है और क्रम-क्रम से नयी-नयी होती है। अज्ञानपर्याय के समय ज्ञान की पर्याय नहीं होती और ज्ञान के समय अज्ञान की पर्याय नहीं होती, उसमें क्रम है। ऐसे व्यवहारिक भावों से मैं भेदरूप नहीं होता; इसलिए मैं एक हूँ - 38 वीं गाथा में लिया है।

भगवान महावीर को विपुलाचल पर्वत पर केवलज्ञान हुआ परन्तु 66 दिन तक वाणी नहीं खिरी। वैशाख शुक्ल दसवीं के दिन केवलज्ञान हुआ और श्रवण कृष्ण एकम् के दिन दिव्यध्वनि की वर्षा हुई। गौतम गणधर आये और वाणी खिरी; इसलिए कोई ऐसा कहे कि निमित्त आया, तब उपादान का काम हुआ न! नहीं भाई! वाणी का काल ही उस समय था।

जयधवल में इस सम्बन्ध में प्रश्न-चर्चा भी चल गयी है कि महाराज! इन्द्र, गौतम को 66 दिन बाद क्यों लाये? भगवान को केवलज्ञान हुआ तब ही गणधर को लाना चाहिए न! तो जयधवलाकार लिखते हैं कि उस समय गौतम की काललब्धि पकी नहीं थी। जिस समय में जिस वस्तु का जिस प्रकार स्वयं से होने योग्य होता है, उसी समय में वह तब ही होता है।

लोगों को ऐसी बात एकान्त जैसी लगती है, निश्चयाभास लगती है परन्तु यही वास्तव में अनेकान्त है। कोई अकेले पुरुषार्थ को ही मानता है परन्तु अकेला पुरुषार्थ क्या करे? पुरुषार्थ के साथ स्वभाव, काल, भवितव्यता और निमित्त-यह सब होना चाहिए। अकेला क्रमबद्ध भी क्या करे? सब साथ होना चाहिए परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि क्रमबद्ध भी है और अक्रमबद्ध भी है। क्रमबद्ध के साथ पाँचों समवाय हों, वह अनेकान्त है।

नियत और अनियत के विषय में भी बहुत चर्चा चली थी। जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने से है, पर से नहीं। द्रव्य स्वयं के कारण से द्रव्य है, स्वयं के लिये परद्रव्य अद्रव्य है; स्वयं के लिये परक्षेत्र, अक्षेत्र है; स्वकाल की अपेक्षा से परकाल, अकाल है; अपने भाव की अपेक्षा से अन्य भाव, परभाव है। इस प्रकार अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपना अस्तित्व है; पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपना अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार अपेक्षा से दूसरे चार समवायों को अनियत कहा जाता है परन्तु पर्याय आगे-पीछे होती है - ऐसा नहीं है। अपनी पर्यायें नियत समय में ही होती है। एक ही पक्ष की हठ पकड़ लेना, वह मिथ्यात्व है और अपेक्षा से सर्व का स्वीकार करना, वह सत्यार्थ है। मुक्ति का मार्ग सर्वांग है। पाँचों ही समवाय को एक साथ मानता है परन्तु एक का पक्षपात करना मिथ्यात्व है।

— श्री नाटक समयसार ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन क्रमांक 127 में से संकलित अंश

परिशिष्ट - 5

पूज्य बहिनश्री के साथ हुई
क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धित तत्त्वचर्चा
दिनांक - 20.12.1983

क्षणिक पर्यायें होती है उतना मैं, परन्तु अखण्ड चैतन्यस्वभाव मैं हूँ – ऐसी दृष्टि नहीं होती। जिसे स्वभाव के प्रति दृष्टि देना है, उसका क्रमबद्ध उस ओर ही जाता है। मोक्ष की ओर का ही क्रमबद्ध है।

श्रोता : वस्तुत: क्रमबद्ध का स्वरूप उसने ही जाना है ?

पूज्य बहिनश्री : हाँ, उसने ही वास्तविक जाना है। जो पुरुषार्थ करता है, उसने ही क्रमबद्ध का स्वरूप जाना है, उसे ही क्रमबद्ध है। उसका सच्चा क्रमबद्ध है।

श्रोता : (पर्यायबुद्धिवाला) वह क्रमबद्ध... क्रमबद्ध कहता है परन्तु उसकी क्रमबद्ध कल्पना ही है ?

पूज्य बहिनश्री : वह कल्पना है। बाहर का तो जैसा होना हो, वह क्रमबद्ध ही है। बाहर के अनुकूल-प्रतिकूल के संयोग, वे सब क्रमबद्ध है परन्तु अन्दर स्वभावपर्याय प्रगट करना तो पुरुषार्थपूर्वक होता है। वह पुरुषार्थपूर्वक क्रमबद्ध होती है। पुरुषार्थरहित क्रमबद्ध नहीं होती। उसके कारण अपनेआप हो जाता है, उसमें पुरुषार्थ नहीं होता और ऐसे ही हो जाती है-ऐसा नहीं होता। जिसे स्वभाव प्रगट करना है, उसकी दृष्टि तो (ऐसी होती है कि) मैं स्वभाव की ओर जाऊँ। उसकी भावना तो ऐसी ही होती है। उसकी धारा ज्ञायक की ओर ही होती है। उसे ऐसा नहीं होता कि भगवान ने देखा, जैसा होना होगा, वैसा होगा। उसे स्वयं को अन्तर में परिणति प्रगट करनी है, तो उसे क्रमबद्ध होती है।

अन्तरशुद्धता, उसकी (शुद्ध) पर्यायें प्रगट करने की ओर उसके पुरुषार्थ की गति परिणमित होती है। जिसे पुरुषार्थ की गति स्वयं की ओर नहीं है, उसे स्वभाव की ओर का क्रमबद्ध होता ही नहीं है।

श्रोता : मुख्यता तो पुरुषार्थ की ही है ?

पूज्य बहिनश्री : पुरुषार्थ की मुख्यता है।

श्रोता : शुद्धता न आवे तो क्रमबद्ध समझा ही नहीं?

पूज्य बहिनश्री : तो क्रमबद्ध नहीं समझा।

श्रोता : वास्तव में तो ऐसा होता है न?

पूज्य बहिनश्री : हाँ वास्तव में ऐसा है। तो क्रमबद्ध नहीं समझा। स्वभाव का होना होगा, ऐसा होगा, पुरुषार्थ होना होगा तो होगा—ऐसा करे तो उसे अन्तर की सच्ची जिज्ञासा ही नहीं है। जिज्ञासु को ऐसा सन्तोष आता ही नहीं है। जिसे अन्तर में स्वभावपर्याय प्रगट करना हो, उसे ऐसा सन्तोष नहीं आता कि होना होगा, वैसा होगा; भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा – ऐसा सन्तोष नहीं आता। उसे अन्तर में खटक हुआ करती है कि यह कब मुझे अन्दरस्वभाव पर्याय कैसे प्रगट हो? ऐसी खटक उसे रहा करती है। (उसकी) पुरुषार्थ की गति स्वभाव तरफ ढले बिना रहती ही नहीं। इसलिए इसका स्वभाव तरफ का पुरुषाथ हुआ। इस प्रकार का क्रमबद्ध हुआ। बाहर के सब फेरफार हों, उसमें स्वयं कुछ नहीं कर सकता। बाहर का संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, यह सब क्रमबद्ध है।

स्वभावपर्यायों में जैसा होना होगा, वैसा होगा – ऐसा अर्थ करे तो इसे नुकसानकारक है। यह स्वच्छन्द है। अपनी मन्दता से होता है – ऐसी खटक रहना चाहिए। वरना इसे स्वच्छन्द होना है। इसमें जैसा होना हो, वैसा होता है (–ऐसा कहे तो) उसे स्वभाव तरफ की जिज्ञासा ही नहीं हुई। मुमुक्षु को अन्तर में ऐसी खटक रहना चाहिए। जिज्ञासु को तो पुरुषार्थ पर लक्ष्य जाना चाहिए क्योंकि वह पुरुषार्थ करना उसके हाथ की बात है। उसे यह खटक रहनी चाहिए। उसका लक्ष्य पुरुषार्थ की ओर जाना चाहिए। क्रमबद्ध को गौण कर देता है। बाहर के कार्यों में क्रमबद्ध बराबर है परन्तु अन्तरंग में स्वयं स्वभाव तरफ ढलने में क्रमबद्ध इसके ख्याल में हो तो इसे खटक रहा करती है कि मैं पुरुषार्थ कैसे करूँ? आगे कैसे जाऊँ? इस प्रकार स्वसन्मुख आता है।

गुरुदेव तो यही कहते थे बीच की कोई बात ही नहीं। जो स्वभाव को समझा और ज्ञायक हुआ, उसे ही क्रमबद्ध है, दूसरे को क्रमबद्ध है ही नहीं। इसी प्रकार जिज्ञासु को कोई बात ही नहीं। जिसे स्वभाग प्रगट और ज्ञायक-सन्मुख गया, उसे ही क्रमबद्ध है।

श्रोता : यही शैली ली है ?

पूज्य बहिनश्री : यही शैली।

श्रोता : स्वभावपरिणति ही ली है ?

पूज्य बहिनश्री : स्वभावपरिणति प्रगटी तो वह क्रमबद्ध; नहीं तो क्रमबद्ध जाना ही नहीं।

श्रोता : गुरुदेव की शैली ऐसी ही आई है ?

पूज्य बहिनश्री : जिज्ञासु को बीच की कोई बात ही नहीं। दो भाग।

श्रोता : आपने तो जिज्ञासु का बहुत सरस स्पष्टीकरण किया ?

पूज्य बहिनश्री : (गुरुदेव) दो भाग ही कर देते थे। बीच का ऐसे से ऐसा, ऐसे से ऐसा—प्रश्नोत्तर यह बात ही नहीं; दो भाग ही कर देते थे।

श्रोता : शुद्धपरिणति का क्रम शुरु होता है, यही बात लेते थे ?

पूज्य बहिनश्री : बस! यही लेते थे। यहाँ सभी जिज्ञासु के प्रश्न करते हैं, इसलिए जिज्ञासा की बात बीच में यहाँ डाल दी है। आचार्यों, गुरुदेव, समस्त शास्त्रों में—समयसार में दो भाग ही—एक पुद्गल और एक आत्मा। ●●